सप्रेम भेंट
सुश्री डाक्टर पद्मा देवी जी
को
भाई के तरफ से
लालचन्द्र विनीत
५-८-९५

आचार्य शंकर

स्वामी अपूर्वानन्द

(द्वितीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम

नागपुर
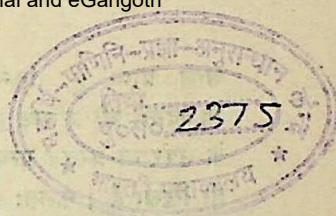
निवेदन

प्रस्तुत 'आचार्य शंकर' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करते हमें अतीव हर्ष होता है। स्वामी अपूर्वानन्दजी, अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण मठ, भुवनेश्वर द्वारा लिखित मौलिक बंगाली ग्रंथ 'आचार्य शंकर' का यह हिन्दी अनुवाद है। आचार्य शंकर अद्वैत-वेदान्त के प्रतिष्ठाता तथा संन्यासी-सम्प्रदाय के गुरु माने जाते हैं। उनकी प्रतिभा अपूर्व थी, उनकी साधना अलौकिक। और हम कह सकते हैं कि अपनी तेजस्विता तथा दिव्यज्ञान के फलस्वरूप ही उन्होंने हिन्दू धर्म को ह्रास से बचा लिया था। आचार्य शंकर केवल अद्वैतवादी ही नहीं थे वरन् वे द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत को भी मान्यता देते थे। असल में इन्हें वे अद्वैतवाद तक पहुँचने की सीढ़ी मानते थे। ईश्वरानुराग तथा भगवद्भक्ति उनमें प्रगाढ़ थी। फलतः उनके द्वारा विरचित अनेकानेक श्लोक तथा स्तोत्र भक्तिभाव से ओतप्रोत हैं। सत्य तो यह है कि उनके स्तोत्रों का लालित्य, उनका माधुर्य तथा उनकी हृदयग्राही शक्ति रचयिता आचार्य शंकर की दिव्य श्रद्धा का ही प्रतिबिम्ब है।

आचार्य शंकर ने हिन्दू धर्म में अनेक आवश्यक एवं निर्माणकारी सुधार किये और उसे पुष्ट नींव पर पुनरुत्थापित किया। भारतवर्ष की चारों दिशाओं में आचार्य शंकर ने चार पीठ की स्थापना की जिनका मुख्य उद्देश्य है वेदान्त का प्रचार एवं प्रसार। इन चार पीठों के द्वारा आचार्य शंकर ने भारतवर्ष में आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक सामंजस्य एवं ऐक्यसंस्थापन का बहुत बड़ा कार्य किया। स्पष्ट है कितनी प्रखर थी उनकी दूरदर्शिता। भारत के इतिहास में इस महत्त्वपूर्ण कार्य का अपना अद्वितीय स्थान है। कहना न होगा इस महान् कार्य के पार्श्व में निहित था आचार्य का अध्यात्मबल और उनका निर्मल जनहितचिन्तन।

आचार्य शंकर का प्रामाणिक जीवनचरित आज हमें उपलब्ध नहीं है। केवल दो पुराने जीवनचरित 'शंकरविजय' और 'शंकरदिग्विजय' ही

आज प्राप्य हैं, किन्तु इन दोनों ग्रन्थों में प्रामाणिक तथ्यों के साथ कुछ किंवदन्ती भी प्रविष्ट हो गयी हैं। स्वामी अपूर्वानन्दजी ने कठिन परिश्रम के उपरान्त प्रस्तुत ग्रन्थ जहाँ तक सम्भव हो सका है, प्रामाणिक आधार पर ही लिखा है। फलतः इस ग्रन्थ का महत्त्व असाधारण है।

हमें विश्वास है आचार्य शंकर की इस जीवनी से अनेकानेक धर्मपिपासुओं को आलोक प्राप्त होगा तथा उन्हें अपने जीवन को दिव्य बनाने में सहायता मिलेगी।

नागपुर
३१-८-१९७२

—प्रकाशक

पूर्वाभास

यह ग्रन्थ आचार्य शंकर की यथातथ्य रूप में जीवनी नहीं है--परन्तु शिवावतार शंकर के चरणों में श्रद्धांजलि मात्र है। वे इतने महान् थे—इतना विशाल था उनका जीवन कि उनकी जीवनी लिखना साधारण व्यक्ति की शक्ति से परे है। इस कारण उनके जीवन की कुछ घटनाओं का चयन करके यह अर्घ्य रचित हुआ है।

समसामयिकों के द्वारा रचित शंकरचार्य की कोई भी जीवनी आज नहीं मिलती। उनके किसी शिष्य की लिखी कोई जीवनी भी नहीं मिलती। परवर्ती काल के पण्डितों ने आचार्य की जो जीवनियाँ लिखी हैं, उनमें पुराण का प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित होता है। किन्तु उनकी अलौकिक प्रतिभा, तत्त्वज्ञान, चरित्रबल तथा लोककल्याण-चिकीर्षा के अनेक निदर्शन काल के प्रभाव को व्याहत करके अभी भी वर्तमान हैं। इन तरुण संन्यासी ने अखण्ड विशाल भारत के दक्षिण से उत्तर, पूर्व से पश्चिम तथा भारतेतर देशों में भी पदयात्रा करके वेदान्तधर्म को दीर्घकालसंचित-पंकिलता-मुक्त तथा उज्ज्वल रूप से जनगण के उपयोगी आनुष्ठानिक धर्म में रूपान्तरित और प्रतिष्ठित किया। बौद्ध विप्लव के अनन्तर हिन्दू धर्म को सनातव वैदिक आदर्श में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए दूरदर्शी प्राज्ञ आचार्य ने भारत के चार प्रान्तों में चार धर्मदुर्ग--मठ स्थापित किये। प्रहरी के समान मानो ये चारों वेद भारत की चारों सीमाओं की रक्षा करते हुए तब से आज तक हिन्दू धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरा रहे हैं। दिग्विजयी सेनापति की राष्ट्रप्रतिरक्षा-नीति के साथ आचार्य शंकर की यह नीति तुलनीय है। शंकराचार्य-प्रचारित अद्वैत-वेदान्त का प्रभाव भारत में सर्वत्र परिव्याप्त है। सर्वधर्मसमन्वय करनेवाले श्रीरामकृष्ण के वार्तावह स्वामी विवेकानन्द ने प्राच्य

और पाश्चात्य देशों में वेदान्त की वाणी का ही प्रचार किया है।

अद्वैतानुभूति धर्मजीवन का अन्तिम सोपान है किन्तु इसमें प्रतिष्ठित होने के लिए जिस सोपानावलि के द्वारा उत्क्रमण करना पड़ता है, आचार्य शंकर ने उसकी एकदम उपेक्षा नहीं की है। इसी कारण हम आचार्य को उपासना, भक्ति, पूजार्चना आदि के उत्साही प्रवर्तक के रूप में देखते हैं। वे केवल ज्ञानी ही नहीं थे। दुर्लभ पराभक्ति ने उनके समस्त आध्यात्मिक जीवन तथा ग्रन्थों को सरस कर दिया है और समग्र हिन्दू धर्म उनके जीवन के आदर्शों से अभिनव रूप में उज्ज्वल हो उठा है। सनातन वैदिक धर्म का जो रूप उन्होंने दिया है, काल के प्रभाव से वह म्लान हो सकता है, किन्तु नष्ट नहीं हो सकता। इन बत्तीस वर्षीय आचार्य के प्रति हिन्दू जाति सर्वदा के लिए ऋणी है। उन्होंने भारतीय धर्मजीवन को नवक्षितिज ज्ञानालोक से देदीप्यमान किया और सामाजिक जीवन में एक वैप्लविक युगान्तर उपस्थित किया।

* * *

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—"इस सोलह वर्ष के बालक के लेख से आधुनिक सभ्यजगत् विस्मित हुआ है।" आधुनिक सभ्यजगत् विज्ञान और युक्ति का जगत् है। आचार्य शंकर वेदान्तधर्म को विज्ञान और युक्ति से पूर्ण नींव के ऊपर सुप्रतिष्ठित करने में समर्थ हुए हैं।

हमने इस ग्रन्थ में दार्शनिक आलोचना में बिलकुल हाथ नहीं डाला है। आचार्य शंकर का जीवन ही उनके दर्शन की व्याख्या है। इस कारण उनके जीवन की कुछ घटनाएँ यहाँ सन्निवेशित करके ही हम तृप्त हैं।

आचार्य के जीवन में कुछ अलौकिक घटनाओं का उल्लेख है। वे घटनाएँ उनके जीवन के साथ ऐसे निबिड़ भाव से अनुस्यूत हैं

कि अनेक प्रयत्न करने पर भी उन्हें छोड़ देना सम्भव नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दी में अलौकिकत्व को कोई स्थान नहीं है। पंचेन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु या विषय को छोड़कर अपार्थिव और अतीन्द्रिय राज्य के अस्तित्व के ऊपर प्रायः किसी का विश्वास नहीं है। हम भी सब क्षेत्रों में अलौकिक विषय पर विश्वास नहीं रखते। किन्तु अतीन्द्रिय तत्त्व, विभिन्न लोक, अलौकिक शक्ति तथा यौगिक विभूति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि उन विषयों का अस्तित्व साधारण मन बुद्धि के द्वारा निर्णीत नहीं हो सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना यथार्थ स्वरूप देखने के लिए अर्जुन को भी 'दिव्यचक्षु' दिया था।

आचार्य के जीवन की बहुतसी अलौकिक घटनाओं को संयोजित कर उन्हें महान् बनाना या अतिमानव प्रतिपन्न करना हमारा ध्येय नहीं। इस समय योगशक्ति तथा योगसाधना के लुप्तप्राय होने पर भी हमें आशा है कि विज्ञान निकट भविष्य में उन्हें प्रमाणित करेगा। थोड़े दिन पहले भी अन्तरिक्षयात्री (Space-Man) एक अविश्वसनीय बात थी। साधारण लौकिक शक्ति से परे जो कुछ संघटित होता है इसी को अलौकिक कहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन में अनेक यौगिक शक्तियों तथा विभूतियों के विकास पर हम विश्वास करते हैं। देवमानवों के जीवन में अलौकिक घटनाओं की कमी नहीं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने यमुनातट पर जो रासक्रीड़ा की उसमें हरएक गोपी ने कृष्ण को पृथक्-पृथक् रूप में अपने साथ पाया था। ‡ नरदेहधारी श्रीकृष्ण

---

‡ रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥—श्रीमद्भागवत

श्रीकृष्ण अचिन्त्य शक्ति के द्वारा दो-दो गोपियों के बीच में अपनी एक एक मूर्ति प्रकट कर रासोत्सव में प्रवृत्त हुए।

योगसिद्ध थे। 'कायव्यूह' (एक ही समय अनेक शरीर निर्माण) करके उन्होंने अपने को अनेक रूपों में प्रदर्शित कर दिया था।

वर्तमान विज्ञान के युग में भी श्रीरामकृष्ण के जीवन के द्वारा यह प्रमाणित हो गया है कि अतीन्द्रिय तत्त्व, विभिन्न लोक तथा अलौकिक घटनाओं का अस्तित्व होता है। भौतिकवादी के सामने आध्यात्मिक अनुभूति पूर्णतया अलौकिक है। कविश्रेष्ठ शेक्सपियर ने कहा है--'There are more things in heaven and earth than are dreamt of in your philosophy."--"पृथ्वी पर तथा स्वर्ग में ऐसे अनेक विषय हैं जिनका पता दर्शनशास्त्रों में नहीं मिलता।"

आचार्य शंकर केवल एक प्रतिभावान् दार्शनिक ही नहीं थे। वे प्रधानतया सत्यद्रष्टा ऋषि थे। अपरोक्षानुभूति की जागरित प्रेरणा ही उनके जीवन का अन्यतम वैशिष्टच था। वे देह धारण करके भी विदेह थे, मानव होकर भी अमानव थे, लोकवासी होते हुए भी लोकोत्तर थे। उनके द्वारा विरचित--न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षश्चिदानन्दरूप: शिवोऽहं शिवोऽहम्--यह मन्त्र ही हमारी स्वरूप-उपलब्धि का अभिज्ञान हो!

इस ग्रन्थ के प्रणयन तथा प्रकाशन कार्य में हमने अनेकों से सहायता पायी है। सभी के हम कृतज्ञ हैं। यह छोटासा ग्रन्थ यदि किसी व्यक्ति के हृदय में आचार्य के सम्बन्ध में और भी अधिक जानने की जिज्ञासा जगायेगा तो अपने को मैं धन्य समझूंगा। ज्ञान-भक्ति-कर्म के मिलनस्थानस्वरूप आचार्य शंकर के चरणों में गम्भीर श्रद्धा निवेदित करता हूँ।

विनीत
स्वामी अपूर्वानन्द

आचार्य शंकर

एक

ऐतिहासिक युग में जिन देवमानवों का संसार में धर्मसंस्थापन के लिए आविर्भाव हुआ, आचार्य शंकर उनमें अन्यतम थे। भारत के जातीय तथा धर्मजीवन के एक महान् सन्धिक्षण में शंकर का अभ्युदय हुआ। उस समय बौद्ध धर्म भारत में लगभग १२०० वर्ष तक उन्नति-अवनति के विविध स्तरों का अतिक्रमण कर ऐसी एक परिस्थिति में उपनीत हुआ था, जो भारतीय धर्म और संस्कृति के लिए केवल अप्रयोजनीय ही नहीं, हानिकारक भी थी। विकृत बौद्ध धर्म के दबाव से सनातन हिन्दू धर्म बलहीन, विध्वस्त और विच्छिन्न हो गया था।

आचार्य के जीवनकाल में दो शताब्दियों के भीतर भारत में इस्लाम का जो सबल एवं सस्पर्ध अभियान तथा अनुप्रवेश आरम्भ हो गया था, विकृत बौद्ध धर्म में उसके प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं थी। सार्वजनीन आध्यात्मिक सत्य का मूल आधार, केवल सनातन अपौरुषेय वैदिक धर्म की महाशक्ति ही इस्लाम को रोक सकती थी और रोका भी था। आचार्य शंकर के आविर्भाव, उनके जीवन, साधना तथा शिक्षा ने हिन्दू धर्म के भीतर आसन्न कार्य के योग्य शक्तिसंक्रमण किया तथा वैदिक धर्म को अनन्त युगों का स्थायित्व देकर सुदृढ़ भित्ति के ऊपर सुप्रतिष्ठित भी किया। ऐतिहासिक दृष्टि से इतना कहना सम्भवतः अतिशयोक्ति न होगी कि यदि आचार्य शंकर का अभ्युदय न हुआ होता, तो हिन्दुस्तान

पूर्णतया इस्लामी 'स्तान' में परिणत हो गया होता।

वर्तमान हिन्दू के हिन्दुत्व का गर्व इस ३२ वर्षीय संन्यासी के प्रति किस परिमाण में ऋणी है यह विशेष विचारणीय विषय है। आचार्य शंकर ने सनातन धर्म की भित्ति में जो बलसंचार किया था, परवर्ती काल में उसमें रामानुज आदि आचार्यों तथा दक्षिण, मध्य और उत्तर भारत के शत-शत सन्त-महात्माओं एवं धर्मप्रचारकों की साधना तथा व्रत ने प्रचुर भाव से शक्ति तथा सहायता दी थी—यह भी सर्वथा स्वीकार्य ऐतिहासिक सत्य है। उनके जीवन, वाणी और प्रचार के भीतर सनातन वैदिक धर्म के संरक्षण तथा सम्प्रसारण की अमोघ शक्ति निहित थी।

शंकराचार्य को केवल अद्वैतवादी कहना उनके व्यक्तित्व और अवदान को क्षुण्ण करना है। उनका जीवन अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैतवाद की मिलनभूमि था। विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद तथा भारत के अन्यान्य अनेक धर्ममतों एवं पन्थों की श्रेष्ठ प्रेरणा अनेकांश में शंकर की रचनावली से ही प्राप्त हुई थी। अन्तर यह था कि परवर्ती काल के आचार्य तथा प्रचारकों की भाँति उनमें एकदेशीयता, संकीर्णता, दुर्बलता अथवा असम्पूर्णता का लेश मात्र भी नहीं था। वे तो सनातन धर्म की विशाल, विपुल, विश्वप्लावी महानता के उदार एवं उज्ज्वलतम प्रतिनिधि थे। आज वेदान्तधर्म की केवल दार्शनिकता ही नहीं, बल्कि अनुष्ठान की ओर से जो कुछ श्रेष्ठ, सबल तथा गौरव का विषय है, उस सभी को इस संन्यासीप्रवर के अवदान रूप से स्वीकार करते हुए हम गर्व का अनुभव करते हैं।

शंकर का भास्वर जीवन सार्वभौमिक सनातन वैदिक धर्म का

दिग्दर्शनकारी प्रकाशस्तम्भ है।

* * *

आचार्य शंकर केवल साधकश्रेणीभुक्त ही नहीं थे, बल्कि सिद्धाचार्य भी थे। देवकार्य के साधन हेतु उन्होंने जाग्रत चैतन्य रूप से, देवांश में, भारत के अन्तिम दक्षिण प्रान्त केरल प्रदेश के नामपुद्रि ‡ नामक एक उच्च ब्राह्मणकुल में जन्म लिया था। शंकर के जन्म और जीवन के साथ नारियल, सुपारी, आम्र और कदली वृक्षों से सुशोभित कालाडी ग्राम, आलवाई नदी, द्विजचूड़ामणि शिवगुरु तथा देवीरूपिणी विशिष्टा देवी घनिष्ठ भाव से सम्मिलित हैं।

शास्त्रसेवी शिवगुरु यद्यपि विद्याधर के एकमात्र पुत्र थे, तथापि गुरुगृह से समावर्तन की उन्हें इच्छा नहीं थी। शास्त्र के पठन-पाठन में समस्त जीवन बिता देना ही उनके हृदय की एकान्तिक इच्छा थी, परन्तु पिता के अत्यन्त आग्रह के कारण उन्हें गुरुगृह से लौटकर अधिक उम्र में भी गार्हस्थ्य जीवन का आरम्भ करना पड़ा। कालान्तर में पिता के निधन के अनन्तर अपने छोटेसे परिवार का दायित्व निबाहने के साथ ही साथ शास्त्रामोदी शिवगुरु अध्ययन-अध्यापन में जीवन का अधिकांश समय बिता देते थे। साधारण देवोत्तर सम्पत्ति से उनके छोटेसे परिवार की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी।

अपुत्रक शिवगुरु क्रमशः बूढ़े हो चले। पुत्रलाभ के द्वारा पुन्ना-

---

‡ नामपुद्रि अथवा नाम्पुरि। इन दोनों में नाम्पुरि शब्द ही उत्तम अर्थवाचक है। मलयालम भाषा में 'नाम्प्' शब्द का अर्थ है विश्वास और पुरि का अर्थ है पूर्ण होना अर्थात् जो ब्राह्मण शास्त्र-विश्वास में पूर्ण हैं वही नाम्पुरि या नाम्पुद्रि ब्राह्मण है।

मक नरक से त्राण पाने के लिए ही तो दारपरिग्रह किया गया था, परन्तु सो भी पूरा नहीं हो रहा था। सन्तानहीन विशिष्टा देवी के हृदय में भी सुख नहीं था। दोनों ने परामर्श करके व्रत-ग्रहणपूर्वक अपने ग्राम से थोड़ी दूर पर स्थित वृष-पर्वत के देवता चन्द्रमौलीश्वर शिव की शरण ली और कुछ दिनों तक केवल कन्द-मूल-फल का आहार करके तथा उसके अनन्तर केवल शिव का चरणामृत पान कर निरन्तर प्रार्थना, पूजा, अर्चना तथा कठोर साधना द्वारा शरीरक्षय करने लगे। वर्ष पूर्ण होने के पहले ही एक रात को शिवगुरु ने स्वप्न में देखा कि जटाजूटधारी कर्पूरगौर सदाशिव ज्योतिर्मय शरीर से उनके सामने आविर्भूत हुए हैं। उन्होंने मधुर स्वर से कहा—"बेटा ! मैं तुम्हारी भक्ति से बहुत ही प्रसन्न हूँ। क्या प्रार्थना है, बताओ। मैं उसे पूर्ण कर दूंगा।"

शिवगुरु ने देवाधिदेव के चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हुए कहा—"मुझे एक दीर्घायु सर्वज्ञ पुत्र दीजिये।"

भगवान् आशुतोष ने स्मित हास्य के साथ कहा—"सर्वज्ञ पुत्र चाहो तो वह दीर्घायु नहीं होगा और दीर्घायु पुत्र चाहो तो वह सर्वज्ञ नहीं होगा। बताओ, तुम किस प्रकार का पुत्र चाहते हो—सर्वज्ञ या दीर्घायु।"

धर्मप्राण शिवगुरु ने सर्वज्ञ पुत्र पाने की ही प्रार्थना की। तब महादेव ने कहा—"तुम्हारी कामना पूर्ण होगी। बेटा, तुम्हें एक सर्वज्ञ पुत्र मिलेगा। मैं स्वयं ही तुम्हारे पुत्र रूप से अवतीर्ण होऊँगा। अब तपस्या समाप्त करो। अपनी सहधर्मिणी को लेकर घर लौट जाओ। †

† आनन्दगिरि ने अपने 'शंकरविजय' ग्रन्थ में बताया है कि अष्टम वर्ष

आनन्द से आप्लुत होकर रोमांचित शरीर से शिवगुरु ने देवता की चरणवन्दना की। स्वप्न-वृत्तान्त सुनकर विशिष्टा देवी ने अपने को महान् भाग्यवती समझा। घर लौटकर दोनों पवित्र हृदय से शिव की पूजा-अर्चना में समय व्यतीत करने लगे। यथासमय ६८६ ई० में वैशाख शुक्ला तृतीया † सौर १२ तारीख के शुभ मध्याह्नकाल में विशिष्टा देवी के गर्भ से शिशुशंकर-सदृश कमनीयकान्ति एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्रमुखदर्शन से शिवगुरु परमानन्दित हुए। उन्होंने अपने मन में ब्राह्मणों को प्रचुर धन, गौ तथा भूमि का दान दिया और शंकर के आशीर्वाद से प्राप्त पुत्र का नाम 'शंकर' रखा।

देवकार्य-साधन के लिए जिन देवमानवों का धर्माचार्य रूप से संसार में आविर्भाव हुआ है, उनमें सभी देव-इच्छा से अप्राकृत और अलौकिक उपाय से उत्पन्न हुए थे। ऐतिहासिक युग में जो अतिमानव धर्मसंस्थापन के लिए आविर्भूत हुए थे—राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा मसीह, रामकृष्ण आदि, उनमें से हरएक के जन्म-कर्म अलौकिक थे। आचार्य शंकर भी श्रीभगवान् शंकर के अंश से

में विशिष्टा देवी का विवाह हुआ था। वे बचपन से ही शिवभक्त थीं। पति के संन्यासधर्म ग्रहण कर गृहत्याग करने के अनन्तर विशिष्टा देवी चिदम्बरम् ग्राम के शिवविग्रह की सेवा-पूजा में लग गयी थीं। उनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर महादेव ने उन्हें दर्शन दिया और शिव के आशीर्वाद से शंकर का दैवी जन्म हुआ था।

† आचार्य शंकर के जन्म के वर्ष, तारीख और तिथि के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। किसी किसी के मतानुसार ७८८ ई० की वैशाखी शुक्ला पंचमी शंकर की जन्मतिथि है। दशनामी संन्यासी सम्प्रदाय के अधिकांश मठों और अखाड़ों में वैशाख शुक्ला पंचमी तिथि को शंकर की जयन्ती मनायी जाती है।

उत्पन्न हुए थे तथा विशेष देवकार्य-साधन के लिए उनका जन्म हुआ था—यह हम आगे देखेंगे।

शंकर के जातकर्मादि संस्कार समाप्त कर शिवगुरु ने दैवज्ञों के द्वारा नवजात शिशु की जन्मकुण्डली बनवाकर देखा कि देव-स्वप्न ही फलीभूत हुआ है। जन्मकुण्डली के द्वारा उन्हें यह ज्ञात हुआ कि पुत्र का देवांश में जन्म हुआ है * और उसमें अवतार-योग है।

बचपन से ही शंकर बहुत ही शान्त, धीर और तीक्ष्णबुद्धि थे। युवावस्था में उनमें जो अभूतपूर्व प्रतिभा और असाधारण मेधा थी और जिससे सम्पूर्ण संसार चमत्कृत हुआ था, उसका उन्मेष बचपन से ही विशेष रूप से दिखायी पड़ने लगा था। यह अद्भुत बालक तीन वर्ष की अवस्था में ही मातृभाषा मलयालम के अनेक ग्रन्थ पढ़ चुका और उसने वेद, वेदान्त, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि अनेक शास्त्रों के श्लोक थोड़े ही दिनों में केवल दूसरों से सुनकर कण्ठस्थ कर डाले। सब से आश्चर्य की बात यह है कि यह बालक श्रुतिधर था। जो कुछ पढ़ता या सुनता, सभी कुछ उसके स्मृतिपटल पर अंकित हो जाता था।

---

* माधवाचार्य के ग्रन्थानुसार महादेव की आज्ञा से शंकर के धर्मसंस्थापन-कार्य में सहायक रूप से अनेक देवता भी नरदेह धारण कर आविर्भूत हुए थे—विष्णु के अंश से पद्मपाद, पवनदेव के अंश से हस्तामलक, ब्रह्मा के अंश से सुरेश्वर, बृहस्पति और वरुण के अंशों से आनन्दगिरि तथा चित्सुखाचार्य का जन्म हुआ था। इस बालक के मस्तक पर चक्रचिह्न, ललाट पर नेत्रचिह्न और स्कन्ध पर शूलचिह्न देखकर पण्डितों ने उन्हें शिवावतार रूप से स्वीकार किया था।

बालक की अलौकिक मेधा देखकर शिवगुरु बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने मन में निश्चय किया कि पंचम वर्ष में ही पुत्र का उपनयन-संस्कार करके उसे गुरुगृह में भेज देंगे। परन्तु अलक्ष्य में विधाता मुस्कुराये। थोड़े ही दिनों में शिवगुरु शिवपद में विलीन हो गये। आकस्मिक शोक से विह्वल विशिष्टा देवी पतिदेवता के अंतिम संस्कार आदि समाप्त कर रोती हुई बालपुत्र को गोदी में लिये अपने पिता के आश्रय में चली गयीं। परन्तु दिवंगत पति की अन्तिम इच्छा की बात वे भूली नहीं थीं। शंकर के पाँच वर्ष पूर्ण होते ही वे अपने घर लौट आयीं तथा शास्त्रीय विधि से उपनयन-संस्कार करके पुत्र को उन्होंने गुरुगृह में भेज दिया।

* * *

थोड़े ही दिनों में उस बालक शिष्य की प्रतिभा और विद्यानुराग देखकर गुरु मुग्ध हुए। बालक के विशुद्ध उच्चारण तथा तीक्ष्ण बुद्धि ने सब को आश्चर्यचकित कर दिया। बालक शंकर को जो जो ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे उन्हें तो वह कण्ठस्थ कर ही लेता था, उसके अतिरिक्त दूसरे शिष्यों को आचार्य जिन शास्त्रों का पठन कराते थे, उनके पास बैठकर उन्हें भी वह अनायास सीख लेता था। अल्प दिनों में ही बालक शंकर गुरु का विशेष प्रियपात्र बन गया। दो वर्ष में ही शंकर उपनिषद्, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र, न्याय, सांख्य, पातंजल, वैशेषिक आदि अनेक शास्त्रों में पारंगत होकर बृहस्पति के समान विद्वान् हो गया।

गुरुगृह-निवास के नियमानुसार शंकर एक दिन भिक्षा के लिए एक ब्राह्मण के घर पहुँचे। गृहस्थ बहुत ही निर्धन था। भिक्षा देने योग्य मुट्ठीभर चावल भी उसके घर में नहीं था। निदान

ब्राह्मणपत्नी ने शंकर के हाथ में एक आँवला देकर रोते हुए अपनी निरन्न अवस्था का वर्णन किया। ब्राह्मणी की दुःखद निर्धनता ने शंकर के कोमल हृदय को मथित कर डाला। उसने वहीं खड़े होकर करुणाविगलित चित्त से दारिद्र्यदुःख-विनाशिनी लक्ष्मी-देवी का एक स्तोत्र रचकर ब्राह्मणी के दुःखमोचन के लिए देवी के चरणों में कातर प्रार्थना की। बालक के स्तव से तुष्ट होकर लक्ष्मीदेवी ने आविर्भूत होकर कहा——"बेटा, मैंने तुम्हारा अभि-प्राय जान लिया है, परन्तु इस निर्धन परिवार ने पूर्वजन्मों में ऐसा कुछ भी पुण्य कार्य नहीं किया जिससे मैं इन्हें धन दे सकूँ।"

तब बालक शंकर ने उत्तर दिया——"क्यों माता, इस गृहिणी ने तो अभी मुझे एक आँवला दिया है। यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हुई हों, तो इस परिवार को दारिद्र्य से मुक्त कर दीजिये।"

बालक के वाक्य से प्रसन्न होकर देवी ने कहा——"वही होगा, बेटा। मैं इन्हें प्रचुर सोने के आँवले दूँगी।"

यह सुनकर शंकर प्रसन्नता के साथ ब्राह्मणी को शीघ्र धन-प्राप्ति का समाचार देकर अपने गुरुगृह में लौट आया। दूसरे दिन प्रातःकाल ब्राह्मण-दम्पति ने देखा, उनके घर में सर्वत्र सोने के आँवले बिखरे पड़े हैं। आनन्द से प्रफुल्लित होकर वे उन सोने के आँवलों को बटोरने लगे और उस बालक ब्रह्मचारी के आशीर्वाद से ही उन्हें प्रचुर धन की प्राप्ति हुई है, यह सब को बताने लगे। बालक शंकर की अलौकिक शक्ति की बात सर्वत्र फैल गयी। यह छोटीसी घटना शंकर की दया, करुणा का परिचय देती है।

अधिकारी पुरुष केवल दयावृत्ति का अवलम्बन करके शरीर धारण करते हैं। शंकर के जीवन में बचपन से ही उस प्रकार की कृपा का विकास देखकर हम मुग्ध होते हैं। आगे चलकर

उनके इस कृपावारि से शत-शत शुष्क हृदयों को सिंचित किया गया तथा कितने ही तापदग्ध तृषित मरुहृदय ने तृप्ति प्राप्त की थी, इसे हम आगे क्रमशः देखकर आश्चर्यचकित होंगे और यह भी हम ससझ सकेंगे कि श्रीभगवान् के अंश से उत्पन्न इस देवमानव के हृदय में अहेतुक कृपा का कैसा सागर उमड़ रहा था।

अमानव प्रतिभा, तीक्ष्ण बुद्धि तथा अपूर्व श्रुतिधरत्व गुणों से शंकर को अधिक दिनों तक गुरुकुल में नहीं रहना पड़ा। जिन शास्त्रों के अध्ययन में अत्यन्त मेधावी शिष्यों को कम से कम बीस वर्ष लग जाते थे, गुरु के आशीर्वाद और प्रसन्नता से दो वर्ष के भीतर ही उस बालक ने उन ग्रन्थों का अध्ययन समाप्त कर डाला।* इस प्रकार के मेधावी और शक्तिसम्पन्न शिष्य को पाकर गुरु अपने को विशेष गौरवान्वित समझने लगे। उन्होंने शंकर को अनेक आशीर्वाद देकर समावर्तन की आज्ञा दी।

इधर विशिष्टा देवी ने † पहले से ही एक पड़ोसिन की सुन्दरी कन्या के साथ शंकर के विवाह का निश्चय कर लिया था। पुत्र के गुरुकुल से लौटकर आते ही उन्होंने उसके सामने विवाह की

* सायण माधवाचार्य के ग्रन्थानुसार शंकर ने बचपन में ही रहस्यों के साथ समस्त विद्याएँ (अनेक क्षेत्रों में गुरु की सहायता लिये बिना ही) अधिगत कर ली थीं। उस बालक ने न्याय, सांख्य, मीमांसा, पातंजल आदि दर्शनशास्त्र, सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक और वैभाषिक आदि बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन तथा चार्वाक दर्शन का भी अध्ययन कर लिया। इसके अतिरिक्त इतिहास, पुराण, स्मृतिशास्त्र आदि में भी वह सुपण्डित हो गया था। अनेक ग्रन्थों का अध्ययन उसने स्वयं ही किया था।

† माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ में विशिष्टा देवी का 'सती' नाम से उल्लेख किया है। उनके उन्नत चरित्र के कारण उस नाम से उल्लेख किया गया अथवा उनका नाम ही सती था, निर्णय करना कठिन है।

बात उठायी। शास्त्र का भी विधान है कि गुरुकुल से समावर्तित होकर अपने घर आते ही विवाह करना चाहिए। अनाश्रमी होकर एक दिन भी नहीं रहना चाहिए। परंतु शंकर किसी प्रकार भी विवाह करने में सहमत नहीं हुआ। विशिष्टा देवी ने बहुत समझाया, बहुत रोयीं-धोयीं, परन्तु विधवा माता की भविष्य सुख-कल्पना का आश्रयस्थल शंकर अपने संकल्प में दृढ़ तथा अविचल रहा। बालक की इस प्रकार की दृढ़ता ने माता को बहुत ही विस्मित तथा अभिभूत कर दिया।

*　　　*　　　*

ब्रह्मचारी शंकर घर में रहकर ही अध्ययन और अध्यापन में तत्पर रहा, परन्तु मातृसेवा ही थी उसकी सर्वप्रधान दिनचर्या तथा श्रेष्ठ साधना। वह अनेक प्रकार से सेवा-परिचर्या द्वारा माता के सुख और आनन्द का विधान करता था। बालक शंकर के अगाध पाण्डित्य तथा असाधारण अध्यापना की ख्याति थोड़े ही दिनों में चारों ओर फैल गयी। अनेक वयोवृद्ध पण्डित भी शास्त्राध्ययन के लिए उसके पास आने लगे। सभी उसके उदार और सरल शास्त्रव्याख्यान सुनकर मुग्ध और स्तम्भित हुए। सोचा, सात वर्षीय बालक में ऐसी असाधारण पाण्डित्य-प्रतिभा यथार्थ में ही दैवशक्ति का द्योतक है।

धर्मनिष्ठ विशिष्टा देवी प्रतिदिन आलवाई नदी में स्नान करने जाती थीं और रास्ते में कुलदेवता केशव के मन्दिर में पूजा-अर्चना करके घर लौटती थीं। आलवाई † उस प्रदेश की

---

† माधवाचार्य आदि द्वारा लिखित शंकर के जीवनी-ग्रन्थों में आलवाई नदी 'पूर्णा' नदी नाम से अभिहित की गयी है। केरल प्रान्त के कालाडी विभाग के लोगों से सुना जाता है कि आलवाई एक शहर का नाम है और

पवित्र नदी है। घर से वह नदी कुछ दूर होने पर भी धर्मनिष्ठ विशिष्टा देवी प्रतिदिन उस नदी में स्नान करने जाया करती थीं। गर्मी के दिन थे। एक दिन विशिष्टा देवी नदी में नहाने गयीं। बहुत विलम्ब हो जाने पर भी माँ को न लौटते देखकर शंकर बहुत चिन्तित हुआ। वह माँ की खोज में नदी की ओर चला। कुछ दूर जाते ही उसने देखा कि माँ मार्ग में अचेत पड़ी हैं। व्याकुल होकर शंकर रोते हुए माँ की सेवा में लग गया और चेतना लौट आने पर माँ का हाथ पकड़कर उन्हें धीरे धीरे घर लिवा लाया।

मातृभक्त शंकर के मन की अवस्था अवर्णनीय थी। मातृ-कष्ट से वह अधीर हो गया और आँसू बहाते हुए श्रीभगवान् के चरणों में प्रार्थना करने लगा—"प्रभु, आप सर्वशक्तिमान् हैं। आप की इच्छा से तो सब कुछ सम्भव है। माँ का इतना कष्ट तो सहा नहीं जाता। कृपा करके नदी को मेरे घर के पास ला दीजिये ताकि माँ को नहाने के लिए दूर जाने का कष्ट न हो।" इस एकमात्र प्रार्थना ने शंकर के समस्त मन-प्राण को व्याकुल कर डाला। वह दिनरात उसी प्रार्थना में तल्लीन हो गया।

शंकर अवस्था में बालक होने पर भी महान् पण्डित तथा सर्वशास्त्र-पारंगत था। किन्तु माँ के कष्ट ने उसे अधीर कर डाला। उसने एक बार भी न सोचा कि नदी का गतिपरिवर्तन

उसके समीप की नदी का नाम 'पूर्णा' है। आलवाई नगर के पास से प्रवाहित होने के कारण उस नगर के नामानुसार पूर्णा नदी को कुछ लोग आलवाई कहते हैं। त्रिचुर अरनाकुलम् ब्राडगेज रेलवे लाइन पर आलवाई एक स्टेशन है। आलवाई नगर अरनाकुलम् से ११ किलोमीटर और त्रिचुर से ५५ किलोमीटर दूरी पर स्थित है। कालाडी से आलवाई लगभग ६० मील है।

सम्भव नहीं है। विशिष्टा देवी बालक के आचरण से विस्मित हुईं। उन्होंने अनेक प्रकार से पुत्र को समझाया परन्तु शंकर की प्रार्थना निरन्तर चलती ही रही।

करुणामय श्रीभगवान् बधिर नहीं हैं। भक्त की प्रार्थना वे सुनते हैं। इस कारण शंकर की प्रार्थना से विचलित होकर उन्होंने उसका प्रबन्ध किया। उस साल की वर्षा में ही नदी की गति का परिवर्तन हो गया। उत्तर तीर तोड़कर आलवाई नदी कालाडी ग्राम के पास से प्रवाहित हुई। विशिष्टा देवी तब बहुत गर्व से लोगों को बताने लगीं--"देखो, मेरे शंकर की प्रार्थना से ही तो श्रीभगवान् ने नदी को हमारे घर के पास ला दिया।" इस अलौकिक घटना की बात शीघ्र ही सर्वत्र फैल गयी। दल के दल लोग आकर इस अद्भुत बालक को देखने लगे। भगवद्-इच्छा से अनेक असम्भव बातें भी सम्भव होती हैं। साथ साथ भक्ति और भक्त की महिमा का भी प्रचार होता है।*

---

* बालक शंकर ने अपनी जननी के दुःख से व्यथित होकर श्रीभगवान् से नदी को अपने घर के पास ला देने की प्रार्थना की थी। परन्तु वर्तमान युग में अनेक लोग उसकी प्रार्थना से नदी का गतिपरिवर्तन हुआ था इस पर विश्वास नहीं करते। अनेक नदियों के समान ही आलवाई नदी का भी गतिपरिवर्तन हुआ होगा।

महाभारत के स्त्रीपर्वाध्याय में वर्णित है कि कुरुक्षेत्र महायुद्ध के अनन्तर व्यासदेव की आज्ञानुसार धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर आदि श्रीकृष्ण को आगे करके कौरवनारियों को लेकर कुरुक्षेत्र आये थे। महारुद्र की क्रीड़ा-स्थली के समान उस युद्धस्थल को देखकर स्त्रियाँ ऊँचे स्वर से विलाप करने लगीं। सारे पुत्रों को खोकर गान्धारी भी शोक से पागल-सी हो गयी थीं। उन्होंने कठोर कण्ठ से श्रीकृष्ण से कहा--"मधुसूदन, तुम चाहते तो इस महायुद्ध को रोक सकते थे। तुमने वैसा नहीं किया। मेरे एक भी पुत्र को

*　　　*　　　*

शंकर की दिव्य शक्ति की बात सुनकर केरल के राजा राज-शेखर बहुत ही विस्मित हुए। राजा स्वयं भी एक शास्त्रामोदी विद्वान् थे। केवल यही नहीं, वे विशेष भक्तिमान् भी थे तथा शास्त्र और पाण्डित्य का उचित आदर करते थे। सात वर्ष के एक ब्राह्मण बालक में इस प्रकार की विद्वत्ता और दैवशक्ति की बात सुनकर राजा के मन में उस बालक को देखने के लिए विशेष इच्छा उत्पन्न हुई। उन्होंने उपहार रूप में शंकर को देने के लिए प्रधानमन्त्री के साथ एक हाथी भेज दिया—शंकर को राजप्रासाद में निमन्त्रण देकर लाने के लिए। प्रधानमन्त्री ने जाकर अत्यन्त विनय के साथ राजा की इच्छा विज्ञप्त की। शंकर ने कहा—"हे दातृवर, भिक्षा ही जिनकी जीविका है, मृगचर्म जिनका वस्त्र है, सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र, वेदाध्ययन-अध्यापन तथा गुरुसेवा ही जिनका नित्यव्रत है, उन्हें हाथी से क्या काम ? हे मन्त्रिवर, आप

बचा नहीं रखा। तुमने कुरुकुल के इस विनाश की ओर उपेक्षा दिखायी। तुम्हें इसका फल भोगना होगा।...मैं भी तुम्हें शाप देती हूँ कि आज से छत्तीस वर्ष के अनन्तर तुम्हारे यादवकुल का भी ध्वंस हो जायगा और तुम्हीं अपने आत्मीयों के वध के कारण बनोगे।"

श्रीकृष्ण ने थोड़ा हँसकर अवनत मुख से कहा—"देवि, मैं उसे जानता हूँ, और उसके परिणाम के लिए मैं तैयार हूँ। जो अवश्यम्भावी है उसी के लिए आपने अभिशाप दिया।"

वृष्णिवंश-ध्वंस की बात श्रीकृष्ण जानते थे। जो भवितव्य था, वही गान्धारी के मुख से अनजान में निकल आया था।...

शंकर की प्रार्थना और आलवाई नदी का गतिपरिवर्तन इन दोनों घटनाओं के पूर्वापर सम्बन्ध के साथ, कार्यकारण-भाव मान लेने की विशेष आवश्यकता नहीं है। जो भवितव्य था, वही घटना शंकर के शुद्ध चित्त में प्रार्थना के माध्यम से केवल स्पन्दित मात्र हुई थी।

अपने प्रभु से मेरा उत्तर बताकर कहियेगा कि ब्राह्मणादि वर्ण-चतुष्टय अपने अपने धर्म का आचरण कर धर्मजीवन निभा सके, उसकी व्यवस्था करना ही राजा का प्रधान कर्तव्य है। प्रलोभन देकर उन्हें विपथ में आकृष्ट करना कदापि राजा का कर्तव्य नहीं है।" इतना कहकर उसने राजप्रासाद में जाने के निमन्त्रण को अस्वीकृत कर दिया।

शंकर के ऐसे व्यवहार से रुष्ट न होकर राजा राजशेखर शंकर के प्रति और भी अधिक श्रद्धान्वित हुए।

मन्त्रियों से परिवेष्टित होकर वे स्वयं एक दिन कालाडी ग्राम शंकर के दर्शन के लिए उपस्थित हुए। उन्होंने आकर देखा—शंकर कृष्णाजिन (मृगचर्म) पहने हुए हैं, कमर में मुंजमेखला तथा गलदेश में शुभ्र यज्ञोपवीत है। उनके चारों ओर ब्राह्मण लोग शास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं। शंकर ने राजा को यथा-योग्य सम्मान देते हुए स्वागत किया। बालक होने पर भी शंकर का व्यवहार प्रवीण लोगों की तरह का था।

केरलाधीश शंकर की विद्या की परीक्षा के लिए आये थे। अल्प समय की शास्त्र-विवेचना से ही शंकर के गम्भीर पाण्डित्य, तीक्ष्ण बुद्धि तथा असाधारण विचारशक्ति का परिचय पाकर राजा बहुत ही विस्मित हुए। शंकर दैवशक्ति-सम्पन्न हैं, इस विषय में उन्हें अणुमात्र भी संशय नहीं रहा। बहुत समय तक शास्त्रचर्चा से परमानन्द प्राप्त कर राजा ने शंकर के चरणों में अनेक स्वर्णमुद्राएँ अर्पित कर उस भेंट को ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की। परन्तु शंकर ने धीरता से कहा—"महाराज, मैं ब्राह्मण और ब्रह्मचारी हूँ। स्वर्णमुद्राओं से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। आप के द्वारा प्रदत्त देवार्चनजन्य सम्पत्ति ही मेरी माता

और मेरे लिए यथेष्ट है। आप की दया से हमें कोई अभाव नहीं है।"

शंकर की निःस्पृहता, त्याग तथा अपरिग्रह देखकर राजा स्तम्भित हो गये। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—"हे पूजनीय, ऐसी बात आप के श्रीमुख से ही शोभा देती है। मैं धन्य हो गया, परन्तु आप के उद्देश्य से अर्पित वस्तु को तो मैं पुनः ग्रहण नहीं कर सकता। आप ही इसे योग्य पात्रों में वितरित कर दीजिये।"

शंकर ने तुरन्त प्रसन्नता के साथ कहा—"आप देश के राजा हैं। योग्यायोग्य पात्रों का ज्ञान शास्त्रसेवी ब्रह्मचारी की अपेक्षा आप में ही अधिक रहना आवश्यक है। विद्यादान ब्राह्मण का धर्म है और धनदान राजा का कर्म है। आप ही इस धन का योग्य पात्रों में वितरण कर दीजिये।"

शंकर की प्रतिभा के सामने राजा ने मस्तक अवनत कर समवेत ब्राह्मणों में उस धन को वितरित कर देने की आज्ञा दी। इस घटना से राजा बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने जान लिया कि शंकर केवल सर्वशास्त्रविशारद पण्डित ही नहीं बल्कि दैवशक्ति-सम्पन्न अतिमानव हैं। शंकर के प्रति उनका आकर्षण इतना बढ़ गया कि उसके अनन्तर वे प्रायः शंकर का पवित्र संगलाभ करने के लिए वहाँ आने लगे। उन्होंने स्वरचित 'बालभारत', 'बालरामायण' आदि संस्कृत नाटक उन्हें सुनाकर उनकी आज्ञा के अनुसार बहुत-कुछ संशोधन भी कर लिया था। शंकर के इस प्रकार राजसम्मान-लाभ तथा निर्लोभता की बात चारों ओर फैल गयी। दूर-दूर के स्थानों से अनेक लोग शंकर के दर्शनार्थ वहाँ आने लगे, और अनेक विद्वान्-ब्राह्मण शंकर के मुख से शास्त्रव्याख्यान सुनने के लिए समागत होने लगे।

एक दिन कुछ दैवज्ञ ब्राह्मण अतिथि रूप में शंकर के भवन में आये। विशिष्टा देवी तथा शंकर ने अतिथिसत्कार करके उन्हें सम्मानित किया। अनेक प्रकार के शास्त्रों की मीमांसा के अनन्तर दैवज्ञों ने शंकर की जन्मपत्री देखने की इच्छा प्रकट की। जन्मपत्री विचार कर उन्होंने देखा कि शंकर के जन्मलग्न में अवतारयोग है---वे परिव्राजक होंगे। किन्तु आयुष्यकाल के विचार से उन्होंने देखा कि शंकर स्वल्पायु हैं---अष्टम, षोड़श और द्वात्रिंश वर्षों में मृत्युयोग है। ब्राह्मणों के मुख से इस बात को सुनकर विशिष्टा देवी बहुत ही दुःखित हुईं। अष्टम वर्ष का मृत्युयोग तपस्या के द्वारा खण्डित होने पर आयु और भी आठ वर्ष बढ़ सकती है। परन्तु षोड़श वर्ष के मृत्युयोग का खण्डन दैव-इच्छा के बिना सम्भव नहीं है---यह ब्राह्मणों ने बताया। उन ब्राह्मणों के चले जाने पर उस घटना से शंकर के मन में दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने संन्यासग्रहण का संकल्प किया। संन्यास-ग्रहण के बिना आत्मज्ञान नहीं होता, ज्ञानलाभ के बिना मुक्ति भी नहीं होती---ऐसा उन्होंने विचार किया। शंकर की अवस्था उस समय केवल आठ वर्ष की थी और इसी समय उनका मृत्युयोग था। अब शंकर के मन में व्याकुलता होने लगी कि कैसे संन्यास-ग्रहण किया जाय।

दिन पर दिन उनके हृदय में संन्यास लेने की इच्छा प्रबल से प्रबलतर होने लगी। संन्यास के लिए उन्होंने दृढ़ संकल्प किया। मौका देखकर माता के सामने संन्यास लेने की बात उठायी। माता रो पड़ीं और पुत्र को छाती से लगाकर बोलीं---"बेटा, वैसी बात न बोलो। अभी तुम बालक हो। मेरे मर जाने पर तुम संन्यास ले लेना। इस संसार में मेरा तो और कोई नहीं है।

तुम्हारे संन्यासी होकर घर छोड़कर चले जाने पर मुझे कौन देखेगा? प्राण रहते मैं तुम्हें कभी संन्यासी नहीं होने दूँगी।"

शंकर के नेत्रों से आँसू टपकने लगे। माता का आदेश था। निरुपाय हो उन्होंने कातर भाव से भगवान् के श्रीचरणों में संन्यास लेने की प्रार्थना की। उसके अनन्तर वे जब कभी माता के सामने संन्यास लेने की बात उठाते तभी माता से एक ही उत्तर मिलता—"मैं प्राण रहते तुम्हें संन्यास लेने की आज्ञा नहीं दूँगी।"

विशिष्टा देवी का एकमात्र अवलम्बन शंकर ही था। इधर शंकर के हृदय में संन्यास ग्रहण करने के लिए तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हुई। वे श्रीभगवान् के निकट प्रार्थना करते हुए व्याकुलता के साथ दिन बिताने लगे। जिस अद्वैत-ब्रह्मात्मविज्ञान के प्रचार के लिए उनका शरीर-धारण हुआ, उसमें संन्यास-ग्रहण अपरिहार्य था। संन्यास के बिना अद्वैत-ब्रह्मज्ञान लाभ करना सम्भव नहीं है। अतः वे एकाग्र चित्त से सर्वशक्तिमान् भगवान् की कृपा के ऊपर निर्भर रहकर संन्यास लेने के लिए उद्यत हुए। मनुष्य की क्षुद्र इच्छा महान् ईश्वरीय इच्छा के सामने पराजित हो जाती है। दैव-इच्छा ही बलवती और कार्यकरी होती है।

एक दिन प्रातःकाल माता के साथ शंकर नदी में नहाने गये। और लोग नहा रहे थे। माता स्नान कर बाहर आ गयीं। परन्तु शंकर उस समय भी नहा रहे थे। इतने में एक मगर ने आकर शंकर को पकड़ लिया। शंकर चिल्ला उठे—"ओ माँ! ओ माँ!! बचाओ, बचाओ। मुझे मगर ने पकड़ लिया है।"

विशिष्टा देवी पुत्र को बचाने के लिए जल में कूद पड़ीं। नहानेवालों में से किसी किसी ने शंकर का हाथ पकड़कर किनारे

पर खींचने की चेष्टा की। किन्तु मगर ने शंकर को गहरे जल में ले जाना शुरू किया। उस समय भी शंकर प्राणरक्षा की चेष्टा कर रहे थे। क्रमशः वे अवसन्न होते गये। उन्होंने माता से कहा—"माँ, मुझे मगर खींचे ले जा रहा है। मेरा अन्तिम काल उपस्थित है। आपने तो मुझे संन्यास लेने की आज्ञा नहीं दी। संन्यास के बिना मुक्ति नहीं होती। यदि आप अभी भी मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दें, तो मैं श्रीभगवान् का स्मरण कर मन में आतुर संन्यास-ग्रहण का संकल्प करके प्राणत्याग करूँ। इससे भी मेरी मुक्ति होगी।"

शंकर के बचने की अब कोई आशा न देखकर विशिष्टा देवी ने रोते हुए कहा—"वही हो बेटा, मैं आज्ञा देती हूँ—तुम संन्यासी हो जाओ।" इतना कहकर वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। माता की आज्ञा पाकर शंकर ने अपने मन में इष्टदेवता के चरणों में आत्मनिवेदन कर संन्यास ग्रहण किया। ‡ उनका हृदय एक अनिर्वचनीय आनन्द से भर गया।

शंकर को बचाने के लिए जो लोग चेष्टा कर रहे थे, वे उस समय भी अपने प्राणों की बाजी लगाकर उनका हाथ पकड़कर खींच रहे थे। थोड़ी दूर पर धीवर लोग जाल डालकर मछली पकड़ रहे थे। उन्होंने जल्दी से आकर चारों ओर जाल डालकर मगर को घेर लिया। तब मगर झट से शंकर को छोड़कर भागने की चेष्टा करने लगा। परन्तु जाल तोड़कर भाग न सका और धीवरों ने उसे पकड़ लिया।

शंकर और विशिष्टा देवी को किनारे पर लाया गया। विशिष्टा

---

‡ आतुर संन्यास लेने के फलस्वरूप शंकर का अष्टम वर्ष में होनेवाला मृत्युयोग भगवद्-इच्छा से कट गया।

देवी उस समय भी मूर्च्छित थीं। होश आने पर वे शंकर को गोदी में उठाने के लिए दौड़ीं। संयोग से कोलाहल सुनकर एक वैद्य उधर से आ निकले। उन्होंने उनके क्षतस्थानों पर औषध-प्रयोग किया जिससे खून का बहना रुक गया। शंकर को भी कुछ स्वस्थता का अनुभव हुआ। ग्रामवासियों ने शंकर और विशिष्टा देवी को घर तक पहुँचा दिया। वहाँ पहुँचकर शंकर ने माँ से कहा—"मैं तो अब घर में रहने में असमर्थ हूँ, क्योंकि मैंने तो संन्यास ले लिया है। शास्त्रों में संन्यासी के लिए घर में रहना वर्जित है। * मैं अब वृक्ष के नीचे रहूँगा।"

विशिष्टा देवी के सिर पर मानो वज्रपात हुआ। उन्होंने रोते-रोते कहा—"यह क्या कह रहे हो बेटा! अभी तो तुम बच्चे हो—घर छोड़कर कैसे रहोगे? मैं भी और कितने दिन जीवित रहूँगी? मेरे मरने के बाद तुम गृहत्याग कर देना। जितने दिनों तक मैं हूँ, तुम मेरे साथ ही रहो। मेरे प्रति भी तो तुम्हारा कुछ कर्तव्य है।"

किन्तु शंकर दृढ़संकल्प थे। उन्होंने कहा—"आपकी ही आज्ञा से तो मैंने सर्वान्तःकरण से आतुर संन्यास ग्रहण किया है। आपकी ही कोख से मैं उत्पन्न हुआ हूँ और मैं आपके कथन को मिथ्या नहीं होने दे सकता। गृहत्याग तो मुझे करना ही पड़ेगा।"

विशिष्टा देवी तब बहुत प्रकार से विलाप करने लगीं—"तुम चले जाओगे तो कौन मेरा भरण-पोषण करेगा? कौन इस अनाथ को तीर्थयात्रा करायेगा? अन्त में कौन मेरी सेवा-शुश्रूषा करेगा?

---

* श्रीगौरांग महाप्रभु ने भी कहा है—"निज जन्मस्थाने रहे कुटुम्ब लइया। संन्यासीर धर्म नहे संन्यास करिया"। अर्थात् अपने जन्मस्थान में परिवार के साथ रहना संन्यासी का धर्म नहीं है।

मेरे मरने के बाद कौन मुझे अग्नि देगा ? तुम जाओ मत। तुम्हारे चले जाने के बाद मैं कैसे जीवित रहूँगी बेटा ?"

शंकर के मन में सैकड़ों चिन्ताएँ व्याप्त हो गयीं। यही तो उनके लिए अग्निपरीक्षा का पवित्र क्षण था। एक ओर जन्मदात्री माँ और दूसरी ओर बृहत्तर कर्तव्य ! दोनों उन्हें अपनी अपनी ओर खींच रहे थे। उन्होंने अपने अन्तर के देवता के आगे कातर प्रार्थना की--"प्रभो, बल दो, इस मोहजाल को तोड़ने की शक्ति दो। दूर कर दो इन सब बाधाओं को। मेरी माँ को सुमति प्रदान करो, जिससे वह मेरे निःश्रेयस-लाभ के पथ में विघ्न-स्वरूप न हो। हे बलस्वरूप ! मेरी माँ के प्राणों में बल का संचार करो।"

इस प्रकार प्रार्थनारत होकर उन्होंने विशिष्टा देवी को आश्वस्त करते हुए कहा--"मुझे मगर * के मुँह से किसने बचाया माँ ? सब व्यवस्था तो भगवान् के ही हाथ में है—आप इस विषय में कोई चिन्ता न करें। मैं अपने स्वजनों को बुलाकर सब सम्पत्ति का भार उन्हें सौंप देता हूँ और आपके भरण-पोषण की पूरी व्यवस्था कर देता हूँ। आपके आशीर्वाद से मैं योगसिद्धिलाभ करूँगा और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करूँगा। अपने अन्तिम काल में आप मुझे स्मरण कर लीजियेगा, उस समय मैं कहीं भी क्यों न रहूँ--दिन हो या रात—तत्काल मैं योगबल द्वारा आकाशमार्ग से आपके पास पहुँच जाऊँगा और मृत्यु के पूर्व आपको इष्टदर्शन कराऊँगा। वही तो सभी तीर्थों का सार है। शास्त्रवाक्य मिथ्या

---

* 'शंकरविजय-विलास' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि वह मगर एक शापग्रस्त गन्धर्व था। शंकर की पवित्र देह का स्पर्श होते ही उसका शाप समाप्त हो गया और वह पुनः गन्धर्व-देह प्राप्त कर स्वर्ग में चला गया।

नहीं हो सकता माँ ! मैं भी मिथ्या नहीं बोल रहा हूँ---आप मेरी बात पर विश्वास रखें, माँ ! मैं आपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि जो कुछ भी मैं कह रहा हूँ वह अन्यथा नहीं होगा । अन्तिम समय में मैं स्मरण करने मात्र से आपके पास आ उपस्थित होऊँगा । आप धीरज रखें । प्रसन्न चित्त से मुझे आशीर्वाद दें जिससे मेरा संन्यास-ग्रहण सार्थक एवं सफल हो ।"

विशिष्टा देवी ने शंकर के जन्मवृत्तान्त का स्मरण कर भवि-तव्यता को समझते हुए कहा---"वही होगा बेटा! मैं हृदय खोलकर आशीर्वाद देती हूँ कि तुम्हारा मनोरथ सफल हो !"

शंकर की कातर प्रार्थना देवता तक पहुँच गयी थी। दैव-इच्छा से विशिष्टा देवी का मन एक अव्यक्त आनन्द से परिपूर्ण हो गया। वे सन्तान की श्रेय:प्राप्ति में सहायक बन गयीं । अब उनके मन में किसी प्रकार का दु:ख-शोक नहीं बचा था ।

शंकर ने कहा---"माँ, इस समय मैं अपने आपको विशेष स्वस्थ अनुभव कर रहा हूँ । क्षतस्थान में अब कोई पीड़ा नहीं है । कल प्रात: ही मैं यथाशास्त्र संन्यास ग्रहण कर इस ग्राम से चला जाऊँगा । आप इसका पूरा आयोजन कर दीजिये । काषाय-वस्त्र, कौपीन, दण्ड-कमण्डलु और होमकर्म का आयोजन कर दीजिये । आप अपने ही हाथों से मुझे संन्यासी के वेश में सजा दीजियेगा ।

विशिष्टा देवी के प्राणों में दैवी बल का संचार हो गया था। सारी रात वे सोयी नहीं---अपने बालक पुत्र के संन्यास-यज्ञ के आयोजन में ही व्यस्त रहीं । अगले दिन सर्वशास्त्रवेत्ता शंकर ने यथाविधि अग्निस्थापना की एवं बिना किसी अन्य संन्यासी आचार्य की सहायता के स्वयं ही विरजाहोम पूर्ण कर संन्यास ले

लिया।‡ ग्रामवासी आबालवृद्धवनिता सभी बालक शंकर के इस अद्भुत कर्म को देखकर स्तम्भित रह गये। विस्मयविमुग्ध चित्त से अवाक् हुए सभी देख रहे थे कि बालक क्या कर रहा है।

संन्यास-ग्रहण के अनन्तर मातृचरणों में प्रणाम कर एवं उनका आशीर्वाद मस्तक पर धारण कर शंकर कुलदेवता केशव भगवान् के दर्शन के लिए चल पड़े। उस समय आकाश में भगवान् सूर्य का उदय हो रहा था।

दो

विशिष्टा देवी विक्षिप्त के समान शंकर के पीछे पीछे चल रही थीं। सैकड़ों ग्रामवासी नर-नारी भी पीछे पीछे चल रहे थे। सब के मुखों पर एक ही प्रश्न था—'कहाँ चला जा रहा है शंकर?' धीर पदविक्षेप करते हुए नतमुख शंकर क्रमशः केशव-देव के मन्दिर में आ पहुँचे। उनके मन में आज प्रेम का सागर हिलोरें ले रहा था। प्रतीक से वे प्रत्यक्ष की ओर चले थे, मूर्ति से व्याप्ति की ओर, सम्पर्क से विराट् बन्धनहीनता की ओर, एवं चले थे अल्प से भूमा की ओर।

केशवविग्रह के सम्मुख वे नतजानु होकर बैठ गये। सृष्टि के महामौन में प्रच्छन्न शाश्वत रुदन मानो उस समय उनका हृदय निचोड़कर निर्गत होने लगा। प्रेमाश्रु उनके दोनों कपोलों पर

---

‡ अनेक जीवनी-ग्रन्थों मे लिखा है कि शंकर ने आनुष्ठानिक संन्यास अपने गुरु गोविन्दपाद से लिया था। किसी किसी जीवनचरित्र में उनके आनुष्ठानिक संन्यास-ग्रहण का उल्लेख नहीं है। हमारा भी विचार है आनुष्ठानिक संन्यास उन्होंने गोविन्दपाद से ही लिया होगा।

लुढ़क आये। आँखें बन्द कर स्वरचित मनोज्ञ छन्दों से देवता की स्तुति करते हुए उन्होंने पूजा-अर्चना की। भावातिरेक से उन्होंने केशव का आलिंगन कर लिया। मन्दिर से जब वे बाहर निकलने लगे उस समय पुजारियों ने मन्दिर की भग्नावस्था की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। * आलवाई नदी के गतिपरिवर्तन के फल-स्वरूप मन्दिर पतनोन्मुख हो गया था। शंकर समझ गये कि यदि भगवद्-विग्रह को किसी निरापद स्थान पर न हटा दिया गया तो शीघ्र ही वह नदी के गर्भ में विलीन हो जायगा। तत्काल सब की सम्मति से उन्होंने केशवविग्रह को अपने वक्ष:स्थल पर ले लिया और निरापद स्थान में ले जाकर स्थापित कर दिया। साथ ही ग्रामवासियों से उसके ऊपर मन्दिर निर्माण करवा देने की प्रार्थना की।

* * *

गुरुगृह में व्याकरणशास्त्र के अध्ययनकाल में पतंजलिकृत महाभाष्य का पाठ करते समय शंकर ने गुरुमुख से सुना था कि स्वयं पतंजलि भगवान् नर्मदा नदी के किनारे एक गुफा में एक सहस्र वर्षों से समाधिस्थ हैं। ‡ गौड़पाद के प्रधान शिष्य

---

*मतान्तर में, जब शंकर विग्रहदर्शन के लिए गये उस समय दैववाणी हुई थी। श्रीकेशव ने उनसे कहा था—"हमें निरापद स्थान में स्थापित करो। यह मन्दिर शीघ्र ही नदीगर्भ में निपतित हो जायगा।" इसी से शंकर ने केशव-विग्रह को स्थानान्तरित किया था। किसी ग्रन्थ में यह भी है कि विग्रह के स्थानान्तरण के लिए श्रीकृष्ण ने शंकर के स्वप्न में आदेश दिया था।

‡ मतान्तर में, महाभाष्यकार पतंजलिदेव उस समय योगी गोविन्दपाद के रूप में भूतल पर अवतीर्ण होकर समाधिस्थ हो नर्मदातीर किसी गुफा में अवस्थित थे। योगशास्त्र में लिखा है कि योगीजन सैकड़ों वर्ष तक इस प्रकार समाधिस्थ रह सकते हैं।

गोविन्दपाद के नाम से वे आजकल विख्यात हैं। गुरुमुख से महायोगी तत्त्वज्ञ एवं अद्वैत-ब्रह्मविद्या में दृढ़प्रतिष्ठ गोविन्द की कथा सुनकर शंकर ने मन ही मन उन्हें गुरु रूप से वरण कर लिया एवं उनके श्रीचरणों में बैठकर अद्वैतज्ञान-लाभ का संकल्प करते हुए सुयोग की प्रतीक्षा करने लगे। अब इतने दिन के बाद वह शुभ घड़ी भी आ पहुँची।

ग्रामसीमा का अतिक्रमण कर शंकर क्रम से उत्तर दिशा की ओर बढ़ चले। विशिष्टा देवी भी पीछे पीछे चल रही थीं। ग्रामवासी भी अनुगमन कर रहे थे। ग्राम के सीमान्त के पास आकर विशिष्टा देवी ने कहा--"बेटा, ग्राम के बाहर ही एक कुटिया बनाकर तुम तपस्या करो, अनाथा को छोड़कर मत जाओ।" विशिष्टा ने शंकर को रखने की यह अन्तिम प्रचेष्टा की। ग्रामवासियों ने भी उनसे वहीं रह जाने का अनुरोध किया। किन्तु शंकर सब को धैर्य देकर, विशिष्टा देवी को पुनः प्रणाम करके नीरव, उत्तर दिशा में नर्मदा नदी की ओर चल पड़े।*

---

*एकमात्र सन्तान शंकर अपनी विधवा माँ को असहाय छोड़कर चले गये। कितना कठोर था उनका हृदय! क्या यही संन्यास का आदर्श है? "सब प्राणियों के प्रति प्रेम" ही जब संन्यास-जीवन का लक्ष्य है तब माँ क्या "सब प्राणियों" से बाहर थीं? स्वामी विवेकानन्द ने २९ जनवरी १८९४ को शिकागो से हरिदास विहारीदास देसाई को लिखा था--"आप मेरी दुःखिनी माँ और छोटे भाइयों को देखने गये थे--यह जानकर प्रसन्नता हुई। किन्तु आपने मेरे अन्तर के एकमात्र कोमल स्थान को स्पर्श कर दिया है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि मैं निष्ठुर नहीं हूँ। इस विपुल संसार में मेरी श्रद्धा का पात्र यदि कोई है तो वह मेरी माँ ही है। तथापि मुझे दृढ़ विश्वास है कि यदि मैं गृहस्थी का त्याग न करता तो जिस विराट् सत्य के प्रचार के लिए मेरे श्रीगुरु रामकृष्णदेव अवतीर्ण हुए थे वह प्रकाशित न

नर्मदा कहाँ हैं ? कौन उन्हें मार्ग बतायेगा ? शंकर ने केवल इतना ही सुना था कि नर्मदा उत्तर में है। भारत के आध्यात्मिक इतिहास में यह भी एक गौरवपूर्ण क्षण था। एक आठ साल का बच्चा संसारसुखों से वीतराग हो माँ के स्नेहांचल का परित्याग कर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए चल रहा था।

मुण्डितमस्तक, गैरिकचीरवास, दण्डकमण्डलुधारी उस संन्यासी बालक को जो देख लेता वही विस्मय से अवाक् रह जाता, स्नेहमयी माताओं की आँखों में जल भर आता, प्राणों में एक अव्यक्त वात्सल्यरस का हिण्डोला-सा आ जाता। किन्तु शंकर किसी ओर भी नहीं देखते थे। मन में उसी सर्वभूतात्मा भुवनमंगल का ध्यान करते हुए वे निरन्तर आगे ही बढ़ते जा रहे थे। प्रातःकाल चलते रहते और मध्याह्न होने पर किसी देवालय या ग्राम में माधुकरी भिक्षा ग्रहण करते तथा किसी वृक्ष की छाया में विश्राम करने के लिए बैठ जाते। पुनः आगे बढ़ते। रात्रियापन किसी देवालय में या किसी वृक्ष के नीचे करते थे। इसी प्रकार कितने ही ग्राम-जनपद, कितने ही नगर-प्रान्तर, नद-नदी, हिंसक पशुओं से परिपूर्ण गहन वन तथा गिरि-गुहाओं को पार करते हुए शंकर दिन पर दिन अज्ञात पथ पर अज्ञात लक्ष्य की

हो पाता।" स्वामी विवेकानन्द पाषाणहृदय नहीं थे। उन्होंने बृहत्तर कल्याण की बलिवेदी पर अपनी मातृभक्ति का अर्घ्य दिया था। किन्तु उनका वेदनाविधुर हृदय निरन्तर माँ के लिए रोता रहता था। इसी प्रकार शंकर ने भी देवकार्य-साधन के लिए माँ के प्रति अपने कर्तव्य पूरे किये बिना ही गृहत्याग कर दिया था। किन्तु तब भी माता के प्रति उनको बहुत भक्ति थी। उनके हृदय के समस्त स्तरों में माँ यशोदा रूप में थीं और वे स्वयं बालकृष्ण के रूप में थे।

ओर बढ़ते चले जा रहे थे।

बहुत प्राचीन काल में भी एक ऐसी ही घटना हुई थी। दासीपुत्र नारद की अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी। माता का वह इकलौता पुत्र था। जन्म से ही उसका मन भगवान् के लिए व्याकुल रहने लगा था। मुनि-ऋषिगण चातुर्मास्य बिताने के लिए मालिक की अतिथिशाला में रहा करते थे। बालक नारद उनकी सेवा-शुश्रूषा करता। उनके मुख से भगवान् की कथाएँ सुनकर बालक का मन भगवान् के दर्शन के लिए तड़प उठा। नीरव में वह आँसू बहाता हुआ भगवान से कातर प्रार्थना करता रहता। कहाँ जाकर क्या करने से भगवान के दर्शन होंगे—एकमात्र यही चिन्ता श्वास-प्रश्वास के समान निरन्तर उसके मन में समायी रहती थी। श्रीभगवान् तो अन्तर्यामी हैं। नारद की कातर प्रार्थना को उन्होंने एक कल्पनातीत उपाय से पूर्ण कर दिया।

एक रात को सर्पदंश से उनकी माता की मृत्यु हो गयी। इस दारुण शोकपूर्ण घटना को भी श्रीभगवान् की परम कृपा मानकर वह आत्मदर्शन के लिए गृहत्याग कर चला गया। नारद ने कहा है :—

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम्॥—भागवत, १-६-१०

"मातृवियोग को मैं भक्तों के कल्याणकारी परम कारुणिक श्रीभगवान् का ही अनुग्रह मानकर उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा।" पंचमवर्षीय नारद मृत्यु से बिना डरे हिंसक जन्तुपूर्ण कितने ही निबिड़ वन, गिरिकन्दरा, जनपद, नदी-नाले आदि का अतिक्रमण कर भूख-प्यास एवं मार्ग की थकावट की परवाह किये बिना दिन पर दिन निरन्तर उत्तर दिशा की ओर चलता जा रहा

था। उसके मन में एक ही कातर प्रार्थना थी—"हे हरि! हे दीनानाथ! आर्तंतारण! तुम कहाँ हो? दर्शन दो।" इसी प्रकार चलते चलते एक दिन क्लान्त-देह हो नारद एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठ गया। बुद्धि को संयत कर उसने अपने को श्रीकृष्णचरणों के ध्यान में नियोजित कर लिया। प्रेम से उसकी देह पुलकित हो उठी। दोनों चक्षु प्रेमाश्रु से पूरित हो उठे। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त उसे किसी भी अन्य सत्ता का ज्ञान नहीं रहा। उस समय नारद ने अपने हृदय में सर्वशोकहारी दिव्य-भास्वर-कलेवर श्रीकृष्णरूपी भगवान् के दर्शन किये।

* * *

बालसंन्यासी शंकर भी निविष्टमन हो आत्मज्ञान-लाभ के लिए श्रीगुरु की खोज में नर्मदा की ओर चल रहे थे। शान्ति, दान्ति, उपरति, क्षान्ति और श्रद्धा उनके अन्तर के आभूषण थे। मार्ग में मिलनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से वे योगी गोविन्दपाद के बारे में ही पूछते। इस प्रकार दो मास से भी अधिक निरन्तर चलते रहने के अनन्तर वे नर्मदातीरस्थ ओंकारनाथ में पहुँचे। पूछताछ करने पर उन्हें पता लगा कि वहाँ एक गुफा में कोई महायोगी शत शत वर्षों से समाविस्थ हुए बैठे हैं। शंकर का मन एक अनिर्वचनीय आनन्द से भर गया। कुछ दूर आगे एक गुफा में कतिपय वृद्ध संन्यासियों को देखकर शंकर ने उनसे गोविन्द-पाद के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। इस बालक संन्यासी को देखकर संन्यासी मुग्ध हो गये। बाद में शंकर का सम्यक् परिचय पाकर तो उनका विस्मय और भी बढ़ गया। कितनी दूर केरल देश! और यह बच्चा वहाँ से अकेला ही आया है—श्रीगुरु के सन्धान में। जब उन्होंने देखा कि इस अल्प अवस्था में ही वह

भाष्यसमेत सभी शास्त्रों में पारंगत है और इसके फलस्वरूप उसके मन में निर्वेद उत्पन्न हो गया है तो उन सब का मन प्रसन्नता से भर गया।

एक वृद्ध संन्यासी ने शंकर से कहा—"श्रीमान् गोविन्द योगी यहीं पर विराजमान हैं। वह जो गुफा दिखायी दे रही है उसी में दीर्घ काल से वे समाधिस्थ हुए बैठे हैं। कब से वे वहाँ हैं कोई नहीं जानता। उनकी समाधि टूटने के अनन्तर उनसे उपदेश प्राप्त करने की प्रतीक्षा में बैठे हम भी अब वृद्ध हो चले। तुम धन्य हो बालक! और धन्य है तुम्हारी गुरुभक्ति!"

शंकर ने रुद्ध श्वास से पूरी बात सुनी। उनका मन और प्राण आनन्द एवं विस्मय से ओतप्रोत हो गया। उन्होंने अत्यन्त व्यग्र हो जिज्ञासा की—"महानुभाव! क्या मैं उनके दर्शन कर सकता हूँ?"

वृद्ध यति ने उत्तर दिया—"हाँ, कर सकते हो! किन्तु गुहा-स्थान अत्यन्त अप्रशस्त एवं अन्दर से अन्धकाराच्छन्न है। यहाँ प्रदीप है, उसे प्रज्वलित कर साथ में ले जाओ और तब गुफा के भीतर जाकर उनके दर्शन करो।"

कम्पित-कलेवर शंकर ने गुफा में प्रविष्ट होकर प्रदीप के क्षीणालोक में विस्मय से विमुग्ध हो देखा कि एक ओर अति-दीर्घकाय कंकालमात्रावशिष्ट, लम्बितजटाजूटधारी एक यति पद्मासन में ध्यानस्थ बैठे हैं। उनकी नासिका दीर्घ, ललाट प्रशस्त और दोनों नयन आकर्णविस्तीर्ण थे। उनके शरीर की त्वचा यद्यपि सूख चुकी थी फिर भी उनकी देह ज्योतिर्मय थी।

ध्यानमग्न महादेव के समान उन यतिराज को देखकर शंकर का मन एक प्रकार के अनिर्वचनीय दिव्यानन्द से भर उठा।

हृदय के अव्यक्त आवेग में नतजानु हो वे भी ध्यान में लीन हो गये। अबाध अश्रुजल से उनका वक्षःस्थल प्लावित हो गया। इस अवस्था में करबद्ध हो वे स्तुति करते लगे--"प्रभो! आप मुनियों में श्रेष्ठ हैं। आप शरणागतों को कृपा कर ब्रह्मज्ञान देने के लिए पतंजलि रूप में भूतल पर अवतीर्ण हुए हैं। आप अनन्त के अंश से ही अवतरित हुए हैं। महादेव के डमरू की ध्वनि के समान आपकी भी महिमा अनन्त एवं अपार है। व्याससुत शुकदेव के शिष्य (किसी किसी के मतानुसार शुकदेव के पुत्र) गौड़पाद से ब्रह्मज्ञान लाभ कर आप यशस्वी हुए हैं। मैं भी ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति की कामना से आपके श्रीचरणों में आश्रय की भिक्षा माँगता हूँ। समाधिभूमि से व्युत्थित होकर इस दीन शिष्य को ब्रह्मज्ञान प्रदान कर आप कृतार्थ करें।"

इस सुललित स्तवगान की ध्वनि से गुफा मुखरित हो उठी। तब अन्य संन्यासी भी गुफा में आ इकट्ठे हुए। शंकर तब तक स्तवगान में ही मग्न थे। विस्मयविमुग्ध चित्त से सब ने देखा कि गोविन्दपाद की वह निश्चल-निःस्पन्द देह बार बार कम्पित हो उठी है। प्राणों का स्पन्दन दिखायी देने लगा! क्षण भर में ही उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर चक्षु उन्मीलित किये। शंकर ने गोविन्दपाद को साष्टांग प्रणाम किया। दूसरे संन्यासी भी योगिवर के चरणों में प्रणत हुए। आनन्दध्वनि से गुफा गुंजित हो उठी। ‡

‡ मतान्तर में, जिस दिन गोविन्दपाद की समाधि छूटी थी ठीक उसी दिन शंकर वहाँ पहुँचे थे। भिन्न भिन्न ग्रन्थों में गोविन्दपाद को गोविन्दनाथ, गोविन्दमुनि, गोविन्दाचार्य आदि नामों से व्यक्त किया गया है। माधवाचार्य ने गोविन्दपाद और गोविन्दाचार्य इन दो नामों का व्यवहार किया है। साथ ही,

तब प्रवीण संन्यासीगण योगिराज को समाधि से सम्पूर्ण रूप से व्युत्थित कराने के लिए यौगिक प्रक्रियाओं में नियुक्त हो गये। क्रम से उनका मन जीवभूमि पर उतर आया। यथासमय आसन का परित्याग कर वे गुफा से बाहर निकले। योगिराज की सहस्रों वर्षों की समाधि एक बालक संन्यासी के आने से छूट गयी है—यह संवाद द्रुत गति से चतुर्दिक् फैल गया। सुदूर स्थानों से यतिवर की दर्शनाकांक्षा से अगणित नर-नारियों ने आकर ओंकार-नाथ को एक तीर्थक्षेत्र में परिणत कर दिया।

शंकर का परिचय प्राप्त कर गोविन्दपाद ने जान लिया कि यही वह शिवावतार शंकर है जिसे अद्वैत-ब्रह्मविद्या का उपदेश करने के लिए हमने (गोविन्दपाद ने) सहस्रों वर्षों तक समाधि में अवस्थान किया और अब यही शंकर वेदव्यास-रचित ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर जगत् में अद्वैत-ब्रह्मविद्या का प्रचार करेंगे।

तदनन्तर एक शुभ दिन में गोविन्दपाद ने शंकर को शिष्य-रूप में ग्रहण कर लिया और उसे योगादि की शिक्षा देने लगे। अन्यान्य संन्यासियों ने भी उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। प्रथम वर्ष में उन्होंने शंकर को शिक्षा दी हठयोग की। वर्ष पूरा होने

उन्होंने इन्हें गौड़पाद का शिष्य भी माना है।

अद्वैत-वेदान्त अतिप्राचीन मतवाद है। आचार्य शंकर ने गुरुपरम्परा से प्राप्त इसी मतवाद का प्रचार किया। महर्षि बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र की रचना कर अद्वैतवाद की दर्शन रूप में प्रतिष्ठा की। बाद में उन्होंने अपने पुत्र शुकदेव को अद्वैत-वेदान्त की शिक्षा दी थी। शुकदेव ने अपने शिष्य गौड़पाद को इस तत्त्व की शिक्षा दी थी और गौड़पाद के शिष्य गोविन्दपाद ने अपने गुरु गौड़पाद से अद्वैत-वेदान्त का उपदेश प्राप्त किया था। शंकर ने भी गुरुपरम्परा से प्राप्त इसी मतवाद का प्रचार किया था।

के पूर्व ही शंकर ने हठयोग में पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली। द्वितीय वर्ष में शंकर राजयोग में सिद्ध हो गये। हठयोग और राजयोग की सिद्धिप्राप्ति के फलस्वरूप शंकर बहुत बड़ी अलौकिक शक्ति के अधिकारी हो गये। दूरश्रवण, दूरदर्शन, सूक्ष्मदेह से व्योममार्ग में गमन, अणिमा, लघिमा, देहान्तर में प्रवेश एवं सर्वोपरि इच्छामृत्युरूप शक्ति के वे अधिकारी हो गये।

तृतीय वर्ष में गोविन्दपाद अपने शिष्य को विशेष यत्नपूर्वक ज्ञानयोग की शिक्षा देने लगे। श्रवण-मनन, निदिध्यासन, ध्यान-धारणा, समाधि का प्रकृत रहस्य सिखा देने के बाद उन्होंने अपने शिष्य को साधनक्रमानुसार अपरोक्षानुभूति के उच्च स्तर में दृढ़ प्रतिष्ठित कर दिया। ध्यानबल से समाधिस्थ होकर नित्य नव दिव्यानुभूति से शंकर का मन अब सदैव एक अतीन्द्रिय राज्य में विचरण करणे लगा। उनकी देह में ब्रह्मज्योति प्रस्फुटित हो उठी। उनके मुखमण्डल पर अनुपम लावण्य और स्वर्गीय हास झलकने लगा। उनके मन की सहज गति अब समाधि की ओर थी। बल-पूर्वक उनके मन को जीवभूमि पर रखना पड़ता था। क्रमशः उनका मन निर्विकल्प भूमि पर अधिरूढ़ हो गया।

गोविन्दपाद ने देखा कि शंकर की साधना और शिक्षा अब समाप्त हो चुकी है। शिष्य उस ब्राह्मीस्थितिरूप अवस्था में उपनीत हो गया है जहाँ प्रतिष्ठित होने से श्रुति कहती है-"भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥" वह परावर ब्रह्म दृष्ट होने पर द्रष्टा का अविद्या आदि संस्काररूप हृदयग्रन्थिसमूह नष्ट हो जाता है एवं (प्रारब्ध-भिन्न) कर्मराशि का क्षय होने लगता है। शंकर अब उसी दुर्लभ

अवस्था में प्रतिष्ठित हो गये ।†

* * *

वर्षाऋतु का आगमन हुआ। नर्मदावेष्टित ओंकारनाथ की शोभा अनुपम हो गयी। कुछ दिनों तक अविराम वृष्टि होती रही। नर्मदा का जल क्रमश: बढ़ने लगा। उसने बाढ़ का रूप धारण किया। सब कुछ जलमय ही दिखायी दे रहा था। ग्रामवासियों ने पालतू पशुओं समेत ग्राम त्यागकर निरापद उच्च स्थानों में आश्रय ले लिया। गुरुदेव कुछ दिनों से गुफा में समाधिस्थ हुए बैठे थे। बाढ़ का जल बढ़ते बढ़ते गुफा के द्वार तक आ पहुँचा। संन्यासीगण गुरुदेव का जीवन विपन्न देखकर बहुत शंकित होने लगे। गुफा में बाढ़ का जल प्रविष्ट होना अनिवार्य था। और वहाँ गुरु समाधिस्थ थे। समाधि से व्युत्थित कर उन्हें किसी निरापद स्थान पर ले चलने के लिए सभी व्यग्र हो उठे। यह व्यग्रता देखकर शंकर कहीं से मिट्टी का एक कुम्भ ले आये और उसे गुफा के द्वार पर रख दिया। फिर अन्य संन्यासियों को आश्वासन देते हुए वे बोले--"आप चिन्तित न हों। गुरुदेव की समाधि भंग करने की कोई आवश्यकता नहीं है। बाढ़ का जल इस कुम्भ में प्रविष्ट होते ही प्रतिहत हो जायगा--गुफा में प्रविष्ट नहीं हो सकेगा।"

सब को शंकर का यह कार्य बालक्रीड़ा जैसा ही लगा। किन्तु सभी ने विस्मित होकर देखा की जल कुम्भ में प्रवेश करते ही

---

† गोविन्दपाद ने जिस अद्वैतभूमि पर शंकर को दृढ़प्रतिष्ठ किया था, उस अद्वैत-ब्रह्मविद्या की गुरुपरम्परा इस प्रकार है--नारायण से आरम्भ करके ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्त्रि, पाराशर, वेदव्यास, शुक, गौड़पाद, गोविन्दपाद और शंकर।

प्रतिहत एवं रुद्ध हो गया है। गुफा अब निरापद हो गयी। शंकर की यह अलौकिक शक्ति देखकर सभी अवाक् रह गये। क्रमशः बाढ़ शान्त हो गयी, गोविन्दपाद भी समाधि से व्युत्थित हो गये। उन्होंने शिष्यों के मुख से शंकर के अमानवीय कार्य की बात सुनी तो प्रसन्न होकर उसके मस्तक पर हाथ रखकर कहा—"वत्स, तुम्हीं शंकर के अंश से उद्भूत लोकशंकर हो। गुरु गौड़पाद के श्रीमुख से मैंने सुना था—तुम आओगे और जिस प्रकार सहस्र-धारा नर्मदा का स्रोत एक कुम्भ में अवरुद्ध कर दिया है उसी प्रकार तुम व्यासकृत ब्रह्मसूत्र पर भाष्यरचना कर अद्वैतवेदान्त को उससे आपातविरोधी सब धर्ममतों से उच्चतम आसन पर प्रतिष्ठित करने में सफल होगे तथा अन्य धर्मों को सार्वभौम अद्वैत-ब्रह्मज्ञान के अन्तर्भुक्त कर दोगे—ऐसा ही गुरु गौड़पाद ने अपने गुरु शुकदेव के मुख से सुना था। इस विशिष्ट कार्य के साधन के लिए ही तुम्हारा जन्म हुआ है। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम समग्र वेदार्थ ब्रह्मसूत्र-भाष्य में ही लिपिबद्ध कर दो।†

गोविन्दपाद ने जान लिया कि शंकर की शिक्षा समाप्त हो गयी है। उनका कार्य भी सम्पूर्ण हो गया। एक दिन उन्होंने शंकर को अपने निकट बुलाकर जिज्ञासा की—"वत्स, तुम्हारे मन में किसी प्रकार का सन्देह है क्या? क्या तुम अपने भीतर किसी प्रकार अपूर्णता का अनुभव कर रहे हो? अथवा तुम्हें अब

---

† माधवाचार्य का ग्रन्थ देखने पर पाया जाता है कि गोविन्दपाद के मुख से "महावाक्य" का उपदेश श्रवण कर शंकर पतंजलि-कथित असम्प्रज्ञात समाधि में लीन हो गये थे। समाधि से व्युत्थित हो गुरु को निश्चल भाव से अवस्थित देखकर गुरु की समाधि कहीं भंग न हो जाय, इसलिए उन्होंने नर्मदा का स्रोत स्तम्भित कर दिया था।

क्या कोई जिज्ञासा है ?"

शंकर ने आनन्दित हो गुरुदेव को प्रणाम करके कहा—"भगवान् ! आपकी कृपा से अब मुझे ज्ञातव्य अथवा प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है। आपने मुझे पूर्णमनोरथ कर दिया है। अब आप अनुमति दें कि मैं समाहित-चित्त होकर चिरनिर्वाण लाभ करूँ।"

कुछ देर मौन रहकर गोविन्दपाद ने शान्त स्वर में कहा—"वत्स, वैदिक धर्म के संस्थापन के लिए देवाधिदेव शंकर के अंश से तुम्हारा जन्म हुआ है। तुम्हें अद्वैत-ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने के लिए मैं गुरुदेव की आज्ञा से सहस्रों वर्ष से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था। अन्यथा ज्ञान प्राप्त करते ही मैं देहत्याग कर मुक्तिलाभ कर लेता। अब मेरा कार्य समाप्त हो गया है। अब मैं समाधियोग से स्वस्वरूप में लीन हो जाऊँगा। तुम अब अवि-मुक्त क्षेत्र काशीधाम में जाओ। वहाँ तुम्हें भवानीपति शंकर के दर्शन प्राप्त होंगे। वे तुम्हें जिस प्रकार का आदेश देंगे उसी प्रकार तुम करना।"

शंकर ने मौनसम्मति-पूर्वक श्रीगुरु का आदेश शिरोधार्य कर लिया। तदनन्तर एक शुभ दिन गोविन्दपाद ने सभी शिष्यों को आशीर्वाद प्रदान कर समाधियोग से देहत्याग कर दिया। शिष्यों ने यथाचार गुरुदेव की देह का नर्मदाजल में योगिजनोचित संस्कार किया।

* * *

साधारण मानव को किसी एक साधनमार्ग में सिद्ध होने में जन्म-जन्मान्तर बीत जाते हैं। शंकर ने तीन वर्ष में ही तीन श्रेष्ठ योगों की सिद्धि कर ली थी। इससे एक ओर हमें सिद्ध योगी गोविन्दपाद की योगशक्ति का विशेष परिचय मिलता है,

तथा दूसरी ओर हमें इस बात का भी पता चलता है कि शंकर कोई साधारण मानव या साधकश्रेणी के भक्त नहीं थे क्योंकि ओंकारनाथ में एक ही समय शंकर के अतिरिक्त अन्य अनेक ज्ञानवृद्ध संन्यासियों ने भी गोविन्दपाद का शिष्यत्व ग्रहण किया था। किन्तु इतने अल्प समय में ही योगत्रय में सिद्धिलाभ कर लेना एकमात्र शंकर के पक्ष में ही सम्भव हो सका था। विशेष देवकार्य को सिद्ध करने के लिए विपुल दैवी शक्ति के अधिकारी होकर ही शंकर ने मानवशिशु रूप में जन्म ग्रहण किया था। बाल्यावस्था से इस समय तक हम शंकर के जीवन में अनेक प्रकार से अलौकिक शक्ति का विकास देखते हैं। इसीलिए इस बालक को लोकोत्तर महापुरुष समझकर अनेक व्यक्ति इनके प्रति श्रद्धालु हैं। भगवान् के स्वरूप-वर्णन के प्रसंग में शास्त्र में लिखा है :—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

—विष्णुपुराण ६।५।७८

अर्थात्, जगत् की उत्पत्ति, प्रलय, समस्त प्राणियों की जन्म एवं मृत्यु के बाद गति तथा ज्ञान एवं अज्ञान (माया एवं पराविद्या जिससे माया को अतिक्रम कर दिया जाय) को जिसने जान लिया, उसी को भगवान् कहते हैं।

षडैश्वर्यशाली भगवान् ही अपने द्वारा सृष्ट मानवसन्तानों को धर्मपथ पर परिचालित करने के प्रयोजन से युग-युग में आदर्श मानवरूप धारण कर जगत् में अवतीर्ण होते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीमद्भागवतकार ने लिखा है— "एते चांशकलाः पुंसः...।" उसी परमपुरुष के अंश वा कलाशक्ति का जिस आधार में अवतरण होता है उसी आधार की जगत् नतमस्तक हो भगवान्

के अवतार रूप में पूजा करता है ।

शंकर के जीवन में बाल्यावस्था से आरम्भ करके गुरुगृहगमन, समावर्तन, अध्ययन, अध्यापन, देव-मातृसेवा, संन्यासग्रहण, योग-साधना एवं तत्त्वज्ञानलाभ का एक धारावाहिक इतिहास हम पाते हैं। किन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्र अथवा श्रीकृष्ण के जीवन-इतिहास में इस प्रकार की किसी साधना का कोई उल्लेख नहीं मिलता। भगवान् वशिष्ठदेव ने श्रीरामचन्द्र को शास्त्र आदि पढ़ाये थे एवं तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया था। किन्तु किसी साधना के बिना ही श्रीरामचन्द्र को हम परब्रह्मवेत्ता आदर्श मानव रूप में पाते हैं।

श्रीकृष्ण ने उपनयन के अनन्तर बलराम के साथ सन्दीपन मुनि के आश्रम में कुछ दिन शास्त्राध्ययन किया था ‡ एवं किसी किसी पुराण के मत से वे बदरिकाश्रम में तपस्या करने गये थे। और फिर भी श्रीकृष्ण ब्रह्मज्ञ, स्थितप्रज्ञ, अखिल वेदवेत्ता एवं निखिल शास्त्रों के मर्मव्याख्याता महापुरुष थे।

अतिमानवों के जीवन में जिस आध्यात्मिक अनुभूति, तत्त्व-ज्ञान और अलौकिक शक्ति को देखकर जगत् उनके चरणों में नतमस्तक होता है, वह साधना द्वारा अर्जित शक्ति नहीं होती। वह उन्हें अपने उत्तराधिकारसूत्र से प्राप्त होती है। साधना

‡ श्रीमद्भागवतकार के मत में श्रीकृष्ण ६४ दिन सन्दीपन मुनि के आश्रम में रहे एवं प्रतिदिन एकएक कलाशास्त्र सीखते हुए चतुःषष्टि कलात्मक समग्र शास्त्र में व्युत्पन्न हो गये। उपनिषद् में लिखा है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, शिक्षाकल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः शास्त्र और ज्योतिषशास्त्र एवं समग्र इतिहास पुराणादि सभी विद्याएँ अपराविद्यास्वरूप इन्हीं चतुःषष्टि कलाओं के अन्तर्गत हैं। जो इन सब कलाओं में व्युत्पन्न होता है, वही सर्वशास्त्रविद् है।

करके वे सिद्धिलाभ नहीं करते—वे तो नित्यसिद्ध हैं। उनकी साधना तो केवल लोकसंग्रह, जीवजगत् का कल्याण एवं आदर्श उपस्थापित करने के लिए ही होती है। इसलिए प्रत्येक अवतार के जीवन में एक ही प्रकार की साधना अथवा एक ही प्रकार की जीवनधारा देखने में नहीं आती। युगप्रयोजन के अनुसार उनके जीवन और साधना का विकास भी भिन्न भिन्न रूपों में होता है।

शंकर के जीवन में ग्यारह वर्ष की अल्पावस्था में ही योगसिद्धि तथा प्रचुर परिमाण में अतीन्द्रिय शक्ति का विकास देखकर हम चमत्कृत होते हैं। देवकार्य-साधन के लिए उस समुदय विशेष-शक्ति का प्रयोजन कैसे था—यह हम आगे देखेंगे।

* * *

गोविन्दपाद के देहत्याग के थोड़े ही समय बाद शंकर भी गुरु का आदेश स्मरण कर कुछ अन्य संन्यासियों के साथ वाराणसी की ओर चल पड़े एवं क्रमशः विन्ध्यारण्य तथा प्रयागतीर्थ को पार कर 'आत्मबोधरूपा' वाराणसी में जा पहुँचे। निर्जन स्थान देख शंकर ने मणिकर्णिका के निकट अवस्थान किया। वाराणसी में आकर उनके ब्रह्मावगाही प्राणों में एक अनिर्वचनीय भावान्तर आ गया। वे नित्य गंगास्नानपूर्वक श्रीविश्वनाथ एवं अन्नपूर्णा का दर्शन करते तथा ब्रह्मध्यान में निमग्न रहते। उनका निर्विषय मन स्वतः ही उस "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" के गम्भीर ध्यान में डूबा रहता। उपदेशप्रार्थियों को वे अद्वैत ब्रह्मतत्त्व का उपदेश देते। कुछ ही दिनों में उस सौम्यदर्शन बालक संन्यासी का अगाध पाण्डित्य, असाधारण शास्त्रव्याख्यान-कौशल, अद्भुत मेधा और मधुर व्यक्तित्व सर्वत्र चर्चा का विषय बन गया। क्रमशः शंकर के पास विभिन्न दर्शनों के ज्ञाता एवं विभिन्न मतावलम्बी

पण्डित तथा साधकवर्ग का समागम प्रारम्भ हो गया। वे भी आनन्दपूर्वक विविध संशयों का उन्मूलन कर सब को अद्वैत-ब्रह्मात्मज्ञान का उपदेश देने लगे। इसी प्रकार परवर्ती काल में आचार्य शंकर ने समग्र भारतवर्ष में जिस वैदिक धर्मराज्य का स्थापन किया था, उस पुनीत कार्य का शुभ आरम्भ काशीधाम में हुआ था। ‡

प्रागैतिहासिक युग से ही वाराणसीक्षेत्र सनातन वैदिक धर्म और संस्कृति का एक प्रधान केन्द्र रहा है। कितने ही विभिन्न मतों के साधक और कितने ही दिग्विजयी पण्डित काशी में वास कर अपने जीवन की साधना को मूर्त करते रहे हैं—इसकी कोई सीमा या संख्या नहीं है। शंकर के आगमनकाल में भी काशी में शैव, पाशुपत, सांख्य, पातंजल, सौर, शाक्त, गाणपत्य, जैन,

‡ शंकर ने तत्कालीन धर्म के रूप को विकृत बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से मुक्त करके अखण्ड भारत में सनातन वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की थी। उनके जीवन के प्रभाव एवं प्रचार के फलस्वरूप ही वेद और वैदिक धर्म, विशेषतः वर्णाश्रमधर्म, संरक्षित रहा। उन्होंने केवल संन्यासी-सम्प्रदाय ही नहीं बनाये थे। (आचार्य शंकर-सृष्ट दशनामी संन्यासी-सम्प्रदाय यथाक्रम से—तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी हैं।) उन्होंने संन्यासियों पर, विशेषतः मठाधीशों पर वैदिक धर्मरक्षा का गुरुदायित्व सौंपा था। इसके फलस्वरूप अत्यन्त अल्पकाल में ही समग्र भारत में वैदिक धर्म जाग्रत हो उठा था। इसीलिए परवर्ती काल मे विदेशी एवं विधर्मियों के प्रबल प्लावन एवं उत्पीड़न के आघात सहकर भी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए वैदिक धर्म ने नैतिक वल अर्जन किया था। इसी कारण आज भी हिन्दू धर्म केवल बचा ही नहीं अपितु समग्र विश्व में सगौरव अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा है।

बौद्ध आदि अनेक सम्प्रदायों के साधक एवं पण्डितगण श्रेष्ठ पुरुषार्थलाभ के लिए वास करते रहे। शंकर के आगमन एवं उनकी प्रतिभा के सम्बन्ध में श्रवण कर अनेक जन उनके पास आने लगे। उनका आवासस्थान पवित्र तीर्थक्षेत्र के रूप में परिणत हो गया। अनेक व्यक्ति इस बालक संन्यासी को वाद में परास्त कर अपना मत प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से शंकर के साथ वादविवाद में प्रवृत्त होने लगे। शंकर भी बहुत ही धैर्य के साथ सब का मतवाद सुनते और अनायास ही अकाट्य युक्तियों द्वारा उनका खण्डन भी कर देते।

बालसंन्यासी की प्रतिभा एवं व्यक्तित्व के समक्ष विजिगीषु परास्त होकर एवं वादी सत्योपलब्धि कर अपने को धन्य समझते। जिज्ञासु छिन्नसंशय होकर आध्यात्मिक जीवन का नव आलोक प्राप्त करते थे। साधक चरितार्थता प्राप्त कर उससे धर्मजीवन को पुष्ट करने की विपुल प्रेरणा प्राप्त करते। शंकर की अवस्थिति काशी की तत्कालीन आध्यात्मिक भावधारा को उलटे मार्ग पर प्रवाहित कर रही थी।

* * *

चोलदेशीय सनन्दन नामक एक ब्राह्मण युवक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए * सद्गुरु की खोज में काशी आया और काशी में कुछ दिन अवस्थान करने के अनन्तर लोगों के मुख से शंकर की अलौकिक शक्ति और असामान्य प्रतिभा की चर्चा सुनकर उनके प्रति श्रद्धालु हो गया था। उन्हें गुरुपद में वरण करने की

---

* किसी का मत है कि वह शास्त्राध्ययन के लिए काशी आया था एवं शंकर के पाण्डित्य की ख्याति सुनकर उनके पास आ शास्त्राध्ययन करने लगा था।

इच्छा से एक दिन वह शंकर के समीप आया और उनके चरणों में प्रणत होकर उनसे अपनी अभिलाषा प्रकट की। सनन्दन को देखते ही शंकर आनन्दित हो गये एवं परिचय प्राप्त करके उसे अपने पास रहने की अनुमति दे दी। कुछ दिन वास करने के अनन्तर ही आचार्य के देवोपम जीवन के प्रभाव से सनन्दन उनके प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हो गया। उन्होंने सोचा कि इस महामानव की कृपा प्राप्त करने से ही मेरा मानवजीवन सार्थक होगा तथा इनसे आत्मज्ञानलाभ करके ही जीवन धन्य होगा। फलत: उसने एक दिन आचार्य से संन्यास ग्रहण करने की प्रार्थना प्रकट की। शंकर ने भी प्रसन्न होकर सनन्दन को शिष्य रूप में ग्रहण कर एक शुभ दिन उसे संन्यासधर्म की दीक्षा दे दी। सनन्दन ही आचार्य शंकर का प्रथम संन्यासी शिष्य हुआ।

सनन्दन का भी एक अलौकिक जीवन था। बाल्यकाल में ही वह संसार के प्रति वीतराग होकर श्रीभगवान् को प्राप्त करने की अभिलाषा से दक्षिणदेश में 'बल' नामक पर्वत पर चला गया था।

सनन्दन ने सुन रखा था कि भगवान् नृसिंहदेव मानव के सकल मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण कर देते हैं। इस कारण वे इसी पर्वत पर फलमूल भक्षण करते हुए नृसिंहदेव की आराधना में प्रवृत्त हो गये। क्रमश: उनके मन में देवदर्शन की आकांक्षा तीव्र से तीव्रतर होने लगी। एक दिन एक व्याध-युवक ने आकर उनसे जिज्ञासा की—"आप इस विजन वन में एकाकी क्यों रह रहे हैं?"

सनन्दन ने अपने मनोभाव को छिपाकर कहा—"मैं एक जन्तु का अन्वेषण कर रहा हूँ, जिसका मुख सिंह के समान और शरीर मनुष्य के समान है। क्या तुम किसी ऐसे जन्तु का पता बता

सकते हो ?"

व्याध बिना कुछ उत्तर दिये ही चला गया और थोड़ी ही देर में लता-पत्तों से लपेटकर एक नृसिंहमूर्ति ले आया। सनन्दन उस नृसिंहमूर्ति को देखकर नतजानु हो स्तुति करने लगे। व्याध तब तक अदृश्य हो गया था। नरसिंहदेव ने अपनी मूर्ति से दर्शन देते हुए सनन्दन से कहा—"वत्स, अभीष्ट वर माँगो।" बालक सनन्दन ने भगवान् से 'अभय' वर की प्रार्थना की—"विपत्ति में आपका स्मरण करते ही आप दर्शन देकर मुझे विपन्मुक्त कर दें —यही मेरी प्रार्थना है।"

नृसिंहदेव भी "तथास्तु" कहकर अदृश्य हो गये।

श्रीभगवान् के वरप्राप्त सनन्दन ने आचार्यचरणों में आश्रय पाकर अपने आपको कृतकृत्य माना। गुरुगतप्राण सनन्दन छाया के समान सर्वक्षण श्रीगुरु के पास ही रहते। गुरुसेवा और गुरु को सन्तुष्ट करना ही उनकी एकमात्र साधना थी। वे शास्त्रज्ञ और मेधावी तो थे ही, अतः अल्प दिनों में ही गुरु के प्रियपात्र बन गये। जैसे महावीर श्रीरामचन्द्र के अनन्य भक्त थे वैसे ही सनन्दन भी आचार्य शंकर के एकान्तिक अनुरक्त भक्त थे। बहुत बार उन्होंने अपना जीवन विपत्ति में डालकर भी गुरु की प्राण-रक्षा की थी। सनन्दन की गुरुभक्ति अनुपम थी।

* * *

शंकर वेदादि शास्त्रों में व्युत्पन्न होकर एवं गोविन्दपाद से योगादि की शिक्षा प्राप्त करके ब्रह्मात्मविज्ञान में प्रतिष्ठित हो गये थे। ब्रह्म सत्य है एवं जगत् मिथ्या—जीव ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। निर्विशेष ब्रह्म में शक्ति का पृथक् स्थान नहीं है—यही परम सत्य है। साधनभजनरूप कर्म और उपासना

द्वारा जब तक चित्त निर्मल नहीं हो जाता तब तक यह सत्य चित्त-दर्पण में प्रतिफलित नहीं होता। गम्भीर समाधि की अवस्था में ही यह अद्वैत-ब्रह्मात्मज्ञान अनुभूत होता है। जीवभूमि पर रहते हुए व्यावहारिक क्षेत्र में सभी प्राणियों के प्रति यह ब्रह्मदृष्टि अक्षुण्ण रखना दीर्घ अभ्यास के अनन्तर ही आंशिक रूप से सम्भव होता है। सर्वोपरि प्रयोजन भगवत्कृपा का है। साधारण जीव के लिए यह अवस्था दुर्लभ है।

आचार्य शंकर को देवकार्य-साधन के लिए अखण्ड ब्रह्मानुभूति में प्रतिष्ठित रहकर ब्रह्मदृष्टि लेकर ही जगत् में रहना था। अतः आद्याशक्ति ने ही मानो कृपापूर्वक ब्रह्मज्ञान के पुष्टिविधान के लिए आचार्य की ब्रह्मदृष्टि खोल दी थी। तीनों लोकों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्ता सगुण ब्रह्म ही है। शक्तिनिरपेक्ष निर्गुण ब्रह्म जगत् का कर्ता नहीं हो सकता। अघटनघटनापटीयसी महाशक्ति ही ब्रह्म का गुण एवं उपाधि है। इस गुण को आश्रय कर ही निरुपाधिक ब्रह्म सगुण एवं सोपाधिक हैं। अरूप होते हुए भी सरूप हैं। सगुण ब्रह्म मानो 'अरूप का रूपसागर' है।

ज्ञानियों की अद्वैतभूमि पर जो निर्गुण ब्रह्म परमात्मा है वही द्वैतभूमि पर सगुण ईश्वर है। सर्वरसकदम्बमूर्ति भगवान् ही सर्व-शक्ति का आश्रय हैं। "जैसे जल और उसकी हिमशक्ति अभिन्न हैं वैसे ही चिच्छक्ति और वेदान्त का ब्रह्म भी अभिन्न ही हैं।" इसीलिए साधक इस अवस्था पर पहुँचकर कहते हैं—"साकार मेरा पिता और निराकार मेरी माँ हैं"; "काली ही ब्रह्म हैं, इस तत्त्व को जानकर मैंने धर्माधर्म सब छोड़ दिया है।" आचार्य शंकर ने अपने शारीरक भाष्यग्रन्थ में ब्रह्म के सगुण एव निर्गुण दोनों भावों का समर्थन किया है, और श्रुत्युक्त सगुण ब्रह्म की उपासना

को विशेष स्थान दिया है। सगुण की उपासना निर्गुण तक पहुँचने की अपरिहार्य सीढ़ी है। अद्वैतज्ञान ही सभी साधनाओं की परम उपलब्धि तथा अन्तिम अवस्था है। अधिकारी-भेद और अवस्था-भेद से अद्वयब्रह्मतत्त्व और सगुण सोपाधिक ब्रह्मोपासना का श्रुतियों में विधान है। ब्रह्मविद्वरिष्ठ आचार्य शंकर भी ज्ञान और भक्ति की मिलनभूमि पर खड़े होकर परमात्मा का स्तवन करते हुए कहते हैं—"सत्यपि भेदापगमे नाथ, तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः।"—"हे नाथ, तुम्हारे और मेरे बीच जो भेद है उसके अपगत होने के बावजूद अर्थात् अभेदबुद्धि होने पर भी 'तुम्हारा' ही मैं हूँ। तुम कभी 'मेरे' नहीं हो। क्योंकि समुद्र और तरंग एक होने पर भी समुद्र की ही तरंगें कही जायेंगी। तरंगें कभी भी समुद्र को अपना अंश कहने का दावा नहीं कर सकतीं।"

* * *

अति प्रत्यूष में अन्धकार रहते ही सशिष्य आचार्य स्नानार्थं मणिकर्णिका घाट की ओर चले थे। इसी समय उन्होंने देखा कि एक युवती अपने मृत पति के मस्तक को गोदी में लिए खूब विलाप करती हुई सब से अपने पति के दाहसंस्कार के लिए साहाय्य की भिक्षा माँग रही है।

स्त्री शव को लेकर मणिकर्णिका के संकीर्ण पथ को रोककर बैठी थी। आचार्य ने कुछ क्षण प्रतीक्षा की। स्नान को विलम्ब हो रहा था। फिर भी मणिकर्णिका को जाने का और कोई रास्ता न देखकर उन्होंने उस स्त्री से कहा—"माँ, शव को यदि तुम एक ओर हटा लो तो दूसरी ओर से हम निकल जायें।"

स्त्री शोक में इतनी डूबी थी कि शंकर की बात का उसने कोई

जवाब नहीं दिया। आचार्य बारम्बार मृत देह को एक ओर हटाने का अनुरोध करने लगे तो स्त्री ने उत्तर दिया—"महात्मन्, आप शव को ही हटने के लिए क्यों नहीं कह देते ?"

यह सुन आचार्य ने करुणापूर्ण कण्ठ से कहा—"माँ, शोक में आप अप्रकृतिस्थ क्यों हो रही हैं ? शव क्या कहीं हट सकता है ? उसमें हट सकने की शक्ति ही कहाँ है ?"

तब उस स्त्री ने शंकर की ओर देखते हुए कहा—"क्यों, यतिवर ! आप के मत में तो शक्तिनिरपेक्ष ब्रह्म ही जगत् का कर्ता है । फिर शक्ति के बिना शव क्यों नहीं हट सकता ?"

स्त्री का यह ज्ञानपूर्ण वाक्य सुनकर स्तम्भित हो आचार्य सोच में पड़ गये ।

किन्तु कहाँ वह स्त्री, और कहाँ वह शव ? क्षण भर में ही सब अन्तर्हित हो गया। यह कैसी दैवी लीला ! शंकर का अन्तर एक अनिर्वचनीय आनन्द से भर उठा । अन्दर और बाहर वे उसी आद्याशक्ति महामाया की लीला का अनुभव करने लगे । भूलोक में एवं द्युलोक में उनका ही कृपाकटाक्ष स्पन्दित हो रहा था । नतजानु होकर वे उसी भवगेहिनी देवी भवानी की स्तुति करने लगे—

"...हे भवानि ! ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य अथवा अन्य किसी को मैं नहीं जानता। मैंने तो आपके ही चरणों में शरण ली है, आप ही मेरी एकमात्र गति हैं । आप ही एकमात्र आश्रय हैं।... माता भवानि ! मैं आपकी शरण में आया हूँ, आप ही विवाद में, विपद् में, प्रमाद में, प्रवास में, जल में, अग्नि में, पर्वत पर, शस्त्राघात से, अरण्य में—सर्वत्र मेरी रक्षा करें । आप ही मेरी गति हैं, आप ही एकमात्र गति हैं।"

शंकर ने समझ लिया कि लोकवरदा विश्वेश्वरवन्द्या देवी भगवती ने कृपा करके अपने अस्तित्व का परिचय दे दिया है। इस जगत् की सृष्टि-स्थित-प्रलयकारिणी देवी ही भुक्ति-मुक्ति-प्रदायिनी हैं। उन्हीं के लीलाकटाक्ष से इस जगत् का विकास हुआ है। उन्हीं के स्नेहमय वक्ष में जगत् की स्थिति है एवं वे ही ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरी हैं।

शंकर आनन्दपरिपूर्ण हृदय से मणिकर्णिका पर स्नान कर मानो विह्वल के समान अपने स्थान पर लौट आये। उनके चिन्तन और व्यवहार में एक युगान्तर-सा आ गया। उन्होंने अनुभव किया कि जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं। निर्विशेष ब्रह्म केवल द्रष्टा मात्र हैं—जगत् की रचना तो आद्याशक्ति महामाया ने ही की है।

आचार्य शंकर समाधियोग द्वारा अद्वैत-ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित हुए थे। किन्तु जीवभूमि पर व्यावहारिक क्षेत्र में "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्"—यह ज्ञान और दृष्टि तब भी उन्हें पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हुई थी। देवकार्य-साधन के लिए शंकर का जन्म हुआ था। निर्विकल्प समाधि में आत्मानन्दसम्भोग करके ही उनका कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता था। सब प्राणियों में ब्रह्मानुभूति एवं सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि लेकर ही तो उन्हें जगत् में व्यवहार करना था। और तभी तो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" रूप महावाक्य का उनके जीवन में सार्थक रूपान्तरण होगा एवं अद्वैत-ब्रह्मात्मविज्ञान उनके भीतर मूर्तरूप हो उठेगा।

* * *

व्यावहारिक क्षेत्र में शंकर के ब्रह्मात्मविज्ञान के परिपूर्णत्व-विकास के लिए भवानीपति शंकर ने एक अत्यद्भुत लीला की सृष्टि की।

अन्य एक दिन सशिष्य शंकर गंगास्नान के लिए चले थे। मणिकर्णिका के निकट आये। उसी समय देखा कि सामने से एक कुरूप भीषणमूर्ति चाण्डाल चार श्रृंखलाबद्ध कुत्तों को लिये बड़ी उच्छृंखलता से चला आ रहा है। अनन्योपाय हो आचार्य ने चाण्डाल को सम्बोधन कर कहा---"अरे चाण्डाल, कुत्तों के साथ तुम एक ओर खड़े हो जाओ। हमें निकल जाने दो।"

चाण्डाल को अपनी बात अनसुनी कर आगे ही बढ़ते देखकर शंकर ने किंचित् उत्तेजित होकर कहा---"अरे, रुको। रोको अपने कुत्तों को। हमें मार्ग छोड़ दो।"

शंकर की बात को पुनः अनसुनी कर उस दुर्धर्ष चाण्डाल ने एक विकट अट्टहास के साथ शंकर को सम्बोधित करके श्लोकबद्ध संस्कृत भाषा में कहा---"तुम किसे हट जाने को कह रहे हो? आत्मा को या देह को? आत्मा तो सर्वव्यापी निष्क्रिय और सतत शुद्धस्वभाव है। यदि देह को एक ओर हटने को कह रहे हो तो देह तो जड़ है---वह कैसे हट सकता है? और तुम्हारी देह से अन्य देह किस अंश में भिन्न है? तुम 'एकमेवाद्वितीयम्' इस ब्रह्मतत्त्व में प्रतिष्ठित होने का मिथ्या अभिमान करते हो। तत्त्व-दृष्टि से क्या ब्राह्मण और चाण्डाल में कोई भेद है? . . गंगा-जल में प्रतिबिम्बित सूर्य और सुरा में प्रतिबिम्बित सूर्य में क्या कोई भेद है? क्या यही तुम्हारा ब्रह्मज्ञान है?"

चाण्डाल के इन ज्ञानगर्भ वचनों को सुनकर शंकर स्तम्भित और लज्जित-से हो गये। उनके मन में आया कि निश्चय ही यह दैव-लीला है। वहीं पर उन्होंने हाथ जोड़कर स्तुति प्रारम्भ कर दी---"जो सब भूतों के प्रति समज्ञानी है---तदनुरूप ही जिनका व्यवहार है---वही मेरे गुरु हैं। उनके चरणों में कोटि कोटि

प्रणाम करता हूँ।"

सहसा चाण्डाल और कुत्ते अन्तर्हित हो गये। उन्होंने देखा कि सूर्य एवं अग्नि के समान दिव्यपुरुष महादेव चारों वेद हाथ में लिये उनके सम्मुख विराजमान हैं। आचार्य ने भक्तिगद्गद चित्त से देवदेव के श्रीचरणों में प्रणाम निवेदन करके निम्नोक्त स्तुति प्रारम्भ कर दी :—

"पशूनां पतिं पापनाशं परेशं,
गजेन्द्रस्य कृत्तिं वसानं वरेण्यम्।
जटाजूटमध्ये स्फुरद्गांग्यवारिं,
महादेवमेकं स्मरामि स्मरारिम् ॥१॥

* * *

अजं शाश्वतं कारणं कारणानां,
शिवं केवलं भासकं भासकानाम्।
तुरीयं तमः पारमाद्यन्तहीनं,
प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम् ॥७॥
नमस्ते नमस्ते विभो विश्वमूर्ते,
नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्ते।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य,
नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य † ॥८॥

---

† (१) जो समस्त जीवों के पति, पापनाशक, परमेश्वर, गजचर्मधारी और रमणीय हैं, जिनके जटाजूट में गंगा का जल प्रवाहित हो रहा है, उन्हीं अद्वितीय महादेव का मैं स्मरण करता हूँ।

(७) जो जन्मरहित, शाश्वत, सकल कारणों के कारण, जो केवल मंगलमय, जगत्प्रकाशक, तमःपारवर्ती, आद्यन्तहीन, तुरीय, परम पावन और अद्वैत हैं—उन्हीं की मैं शरण लेता हूँ।

इस स्तुति से सन्तुष्ट हो महेश्वर ने शंकर के मस्तक पर हाथ रखकर कहा—"वत्स, मैं प्रसन्न हो गया हूँ। मैं तुम्हारे द्वारा जगत् में वैदिक धर्म की पुनःप्रतिष्ठा कराने की इच्छा करता हूँ। तुम वेदान्त की निर्दोष व्याख्या द्वारा भ्रमसंकुल मतवादों का खण्डन करके व्यासकृत ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की रचना करो; एवं वेदान्त का मुख्य तात्पर्य जो ब्रह्मज्ञान है उसकी प्रतिष्ठा करके वैदिक धर्म का सर्वसाधारण में प्रचार करो। तुम्हारा कार्य पूर्ण होने पर तुम मुझमें ही मिल जाओगे। जगत् के सर्वविध कल्याण के लिए ही तुमने मेरे अंश से जन्मग्रहण किया है।" यह कहकर महादेव अन्तर्धान हो गये।

देवदर्शन से पुलकितमन शंकर का अब तक बाह्यज्ञान लौट आया था। वे आविष्ट के समान गंगास्नान एवं देवदर्शन करके लौट आये। उनके मन में एकमात्र यही चिन्ता थी कि किस प्रकार देवादेश का पालन किया जाय। गम्भीर अभिनिवेश के साथ विचार करके ब्रह्मसूत्र पर भाष्यरचना करने के लिए उन्होंने बदरिकाश्रम जाना स्थिर किया। अनन्तर एक शुभ दिन में विश्वेश्वर एवं अन्नपूर्णा को प्रणाम कर सशिष्य आचार्य बदरिकाश्रम की ओर चल पड़े।

---

(८) हे विभो, हे विश्वमूर्ते, तुम्हें मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ। हे चिदानन्दमूर्ते, तुमको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ। हे तपोयोगगम्य, तुम्हें मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ। और हे वेदज्ञानगम्य, तुमको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

तीन

द्वादशवर्षीय बालक शंकर दुर्गम तीर्थ बदरिकाश्रम को लक्ष्य करके चले जा रहे थे। मार्ग में अनेक तीर्थस्थान एवं देवविग्रह आदि के दर्शन तथा पूजार्चन कर पवित्र जाह्नवी के किनारे-किनारे प्रयाग आदि तीर्थ होते हुए वे हरिद्वार पहुँचे।

अतीत युग के बहुऋषिमुनिसेवित हरिद्वार के दर्शन से शंकर को विशेष आनन्द प्राप्त हुआ। हरिद्वार हिमालय का प्रवेश-द्वार है। यहाँ पर तीर्थकृत्य आदि समाप्त कर वे प्राचीन काल की यज्ञभूमि हृषीकेश की ओर बढ़े। यहाँ से हम आचार्य को धर्मसंस्थापक के रूप में देख सकेंगे। उन्होंने धर्म का संस्कारसाधन भी किया था। कितने ही देवमन्दिरों में उन्होंने पूजा आदि का प्रवर्तन किया और कितने ही नये देवमन्दिरों का निर्माण भी करवाया। विग्रहहीन कितने ही देवमन्दिरों का संस्कार कर उनमें विग्रहस्थापन किया। इस प्रकार समग्र भारतभूमि का पैदल परि-भ्रमण करके उन्होंने धर्म की संस्थापना की।

आचार्य शंकर ब्रह्मात्मविज्ञान में प्रतिष्ठित हो गये थे। किन्तु समाधिस्थ हो आत्मानन्द सम्भोग करने के लिए ही तो उनका जन्म नहीं हुआ था। अपितु विभिन्न स्तरों के द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैतसाधकों के लिए समग्र वैदिक धर्म का पुनः संगठन और संस्थापन तो उनका जीवनव्रत था।

ज्ञानी अद्वैतज्ञान प्राप्त करने के बाद किस भाव से संसार में रहते हैं, इसका भी आदर्श शंकर के जीवन में देखने को मिलता है। ज्ञानी रहते हैं—विद्यामाया को आश्रय करके, भक्ति, दया और वैराग्य का सम्बल लेकर। उनके जीवन के दो उद्देश्य रहते हैं—लोकशिक्षा एवं रसास्वादन।

जीवकोटि के साधक एवं ईश्वरकोटि या आधिकारिक पुरुषों के जीवन भिन्न होते हैं। जीवकोटि भजन-साधन और तीव्र तपस्या द्वारा अधिक से अधिक आत्मज्ञान की प्राप्ति तक पहुँचते हैं, किन्तु निर्विकल्प समाधि से व्युत्थित हो जीवभूमि पर अधिक दिन अवस्थान नहीं कर पाते। उनसे लोकसंग्रहरूप कार्य सम्भव नहीं होता। शास्त्र का कथन है कि जीवकोटि का साधक पूर्ण ज्ञान-लाभ के पश्चात् अधिक से अधिक इक्कीस दिनों तक ही इस स्थूल देह में रह पाता है। उसके बाद उसकी आत्मा अखण्ड, अद्वय ब्रह्मस्वरूप में लीन हो जाती है। देह शुष्क पत्ते के समान झड़ जाती है। वे जीवन-मरण के चक्कर से चिरमुक्त होकर निर्वाण-मुक्ति प्राप्त करते हैं।

किन्तु जो आधिकारिक पुरुष हैं उनका देहधारण देवकार्य-साधन तथा जीवजगत् के कल्याणार्थ होता है। वे ईश्वरप्रेरित विशेष-मानव होते हैं। उनकी संख्या बहुत ही कम होती है। जब भी जगत् में धर्म की ग्लानि होती है, तभी श्रीभगवान् अपने पार्षदों को जगत् में धर्म का ह्रास दूर करके धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए प्रेरित करते हैं। साधन द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त कर निजमुक्ति के लिए उनका जन्म नहीं होता। वे तो जगद्वासियों को धर्म का अवलुप्त और विस्मृत शाश्वत पथ दिखाकर मुक्ति की ओर ले जाने के लिए आते हैं।

आधिकारिक पुरुष ब्रह्मविद्वरिष्ठ भी हो सकते हैं एवं ईश्वर की विशेष इच्छा से वे उस दुर्लभ अवस्था से किंचित् नीचे उतर-कर लोकसंग्रह के लिए द्वैतभूमि में अवस्थान भी करते हैं। अद्वैतब्रह्मज्ञान का भी स्तर है—ज्ञान और विज्ञान। निर्विकल्प अवस्था में स्थिति के समय और अन्यान्य अवस्थाभेद से इस ज्ञानो-

पलब्धि का स्तर भी शास्त्र में वर्णित है---ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ। साधारण जीवकोटि का साधक ब्रह्मज्ञान-लाभ तो कर सकता है किन्तु विज्ञान की अवस्था में नहीं पहुँच पाता, ब्रह्मविद्वरिष्ठ-अवस्था को भी वह प्राप्त करने में असमर्थ रहता है।

आधिकारिक पुरुष भगवदिच्छानुसार समाधिभूमि से उतरकर जितने दिन जीवलोक में रहते हैं, उतने दिन उनकी एक ही कामना रहती है---जीवजगत् का कल्याण-साधन। वे यदि केवल समाधिस्थ होकर रह जायें तो इससे तो लोकशिक्षा होगी नहीं। इसलिए वे सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि लेकर जगत् में रहते हैं। ज्ञान के बाद जो भक्ति है वही भक्ति की व्यंजना होती है। आचार्य शंकर के जीवन में हम देखते हैं कि वे दैवी इच्छा से व्यावहारिक क्षेत्र में भक्ति और भक्त के भाव का आश्रय लेकर विचरण कर रहे थे। भक्ति को विलासभूमि बनाकर वे अपना चित्त 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म में ही समाहित करते थे। उनके जीवन में पुनः हम देखते हैं कि हमारे देवी देवताओं के आवासस्थल तीर्थभूमियों की महिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने स्वयं तीर्थस्वरूप होते हुए भी तीर्थपर्यटन किया।

आचार्य शंकर केवल अद्वैत मत का प्रचार करने के लिए ही तो जगत् में आये नहीं थे, यद्यपि अद्वैतानुभूति ही समस्त साधनाओं की अन्तिम अवस्था है, किन्तु सर्वभावमय वैदिक धर्म की पुनः-प्रतिष्ठा के लिए ही उनका आगमन हुआ था। अद्वैत-ब्रह्मज्ञान के अधिकारी बहुत ही विरले होते हैं। श्रीभगवान् के विभिन्न स्वरूप, भाव और शक्ति के प्रकाशस्वरूप देवी-देवताओं के पूजनादि द्वारा चित्त के विशुद्ध और निर्मल होने पर उस परिशुद्ध

मन में अद्वयब्रह्मतत्त्व प्रतिभासित होता है। इसी के लिए विभिन्न स्तरों के साधक और मुमुक्षुओं के लिए पूजार्चनादि कर्म और द्वैतभाव की उपासना आदि का विधान भी शास्त्र में वर्णित है। तभी आचार्य शंकर बहुजनहिताय तीर्थस्थानों के संस्कार-साधन में प्रवृत्त हुए थे।

उन्होंने केवल तीर्थों के शुद्धिविधान के ही लिए समग्र भारत में तीर्थाटन किया हो, ऐसी बात नही। स्वयं तीर्थकृत्यादि करके इन सभी स्थानों की महिमा को उन्होंने प्रकाशित किया और अगणित नरनारियों को देवपूजा की मर्मवाणी सुनाकर उन्हें पूजार्चना-परायण बनाया। "स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते"—आचार्य के आदर्श से अब भी लोग देवार्चना-वन्दनादि से अनुप्राणित हो रहे हैं। अतएव उनका तीर्थगमन धर्मस्थापनकार्य का ही एक अभिन्न अंश था।

* * *

हृषीकेश में आकर आचार्य शंकर सर्वप्रथम यज्ञेश्वर विष्णु के मन्दिर में गये। प्राचीन समय में यज्ञसम्पादनकाल में ऋषियों ने इस स्थान पर यज्ञेश्वर विष्णु की प्रतिष्ठा की थी। किन्तु आचार्य ने मन्दिर को नितान्त शून्य देखा। न तो वहाँ देवविग्रह था और न पूजा की कोई अन्य व्यवस्था ही थी। हताश मन से उन्होंने स्थानीय लोगों से सुना कि चीनदेशीय दस्युओं के उपद्रव से भीत होकर अर्चक ने मन्दिर के विष्णुविग्रह को गंगागर्भ में छिपाकर रख दिया था, किन्तु बाद में बहुत सन्धान करने पर भी विग्रह पुनः प्राप्त नहीं किया जा सका।

आचार्य यह सुनकर विशेष क्षुण्ण हो गये। क्षणभर मौन रहने के बाद वे ध्यानमग्न हो गये। ध्यान भंग होने पर उन्होंने

स्थानीय ब्राह्मणों से जिज्ञासा की—"देवविग्रह यदि खोज लिया जाय, और उसकी यहाँ पुनः प्रतिष्ठा कर दी जाय तो उसकी सेवा-पूजादि की व्यवस्था करने के लिए क्या आप लोग प्रस्तुत हैं ?"

सब ने सानन्द अपनी सहमति व्यक्त की। अनन्तर गात्रोत्थान कर आचार्य शंकर सब को गंगातीर पर ले आये एवं एक स्थान पर निर्देश करते हुए बोले—"इसी स्थान पर श्रीविग्रह है।" बड़ी अद्भुत बात थी कि सामान्य चेष्टा से ही विग्रह प्राप्त हो गया एवं एक शुभ दिन आनन्दोत्सव-सहित ससमारोह श्रीविग्रह की पुनःप्रतिष्ठा कर दी गयी। कुछ दिन उस स्थान पर रहकर धर्मोपदेश से सब को परितृप्त कर आचार्य बदरीनाथ की ओर पुनः चल पड़े।

हम भी इस तीर्थपथ में सशिष्य भगवान् शंकर का अनुगमन करेंगे और जो पथ शत-शत ऋषि-मुनि एवं तीर्थयात्रियों के पदस्पर्श से पवित्र है, उस पथ के परम पावन धूलिकणों के स्पर्श से धन्य होंगे। देवऋषिसेवित तपोभूमि और हिमालय का तपोगम्भीर परिवेश शंकर के प्राण में अनिर्वचनीय भावान्तर की सृष्टि कर रहे थे। वे सदैव अन्तर्मुख रहते थे। जीवन्मुक्त महापुरुष शंकर जीवकल्याण के लिए दुर्गम हिमालय के पथक्लेश चुपचाप सहन करते हुए आगे बढ़ते चले जा रहे थे।

हृषीकेश से कुछ दूरी पर हीं विदुरजी का तपस्या-स्थल 'लक्ष्मण-झूला' है। गंगा पार हो विजन वनस्थलीपूर्ण एक उच्च पर्वत का अतिक्रमण कर आचार्य व्यासाश्रम में पहुँचे। वहाँ से मार्ग देव-प्रयाग की ओर जाता है। अलकनन्दा और भागीरथी का मिलन-क्षेत्र देवप्रयाग हिमालय के पाँच प्रयागों में अन्यतम श्रेष्ठ तीर्थ-स्थान है। यहाँ पर राम-सीता, हर-पार्वती और गणेश आदि देवी-

देवताओं के मन्दिर के दर्शन एवं तीर्थकृत्यादि समाप्त कर आचार्य ने परम तृप्ति का अनुभव किया। हिमालयक्षेत्र में प्रवेश करते ही वे विशेष अन्तर्मुख हो गये। शिष्यगण प्रयत्नपूर्वक उनकी देहरक्षा करते हुए चल रहे थे। चलने के समय को छोड़कर उनका अधिकांश समय ध्यान में ही बीतता था। अन्त में बिल्वकेदार को पार कर सशिष्य शंकर श्रीनगर में पहुँचे। इस स्थान का एक नाम श्रीक्षेत्र भी है। पूर्वकाल में यह उत्तराखण्ड के राजाओं की राजधानी थी। वहाँ के अनेक देवमन्दिरों में कमलेश्वर शिव और श्रीविष्णुमन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त श्रीयन्त्रशिला, राजराजेश्वरी, कंसमर्दिनी, चामुण्डा और महिषमर्दिनी—इन पाँच सिद्धपीठों में तान्त्रिकों का प्राधान्य था। उस समय स्थानीय तान्त्रिकों में देवी के सामने नरबलि की प्रथा प्रचलित थी।

शंकर के आगमन का संवाद पाते ही लोग दलबद्ध हो धर्मोपदेश लाभ करने के लिए उनके पास आने लगे। स्थानीय ब्राह्मणों के मुख से तान्त्रिकों द्वारा नरबलि का विवरण सुनकर आचार्य ने तान्त्रिकों को शास्त्रार्थ के लिए आह्वान करने का निश्चय किया। तान्त्रिकगण समूह में आकर आचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त हो गये, किन्तु शंकर ने अति धीरभाव से धर्मतत्त्व की यथार्थ व्याख्या करके उनके भ्रम का निवारण किया और नरबलिरूप बीभत्स कर्म से उन्हें निवृत्त कर दिया। जिस शिलाखण्ड पर खड़े करके नर की बलि दी जाती थी, उसे नदी में विसर्जित कर दिया गया।

धर्म के नाम पर कितना बड़ा क्रूरकर्म! ब्रह्माण्डप्रसविनी आद्याशक्ति सकल सृष्ट प्राणियों की चिरन्तन जननी है। अपनी

ही सन्तान का रुधिर पान कर एवं मस्तक नैवेद्य रूप में ग्रहण कर क्या वह प्रसन्न होगी ?

*　　　　*　　　　*

श्रीनगर के बाद आचार्य क्रमशः रुद्रप्रयाग होकर नन्दप्रयाग आये। ये सभी स्थान हिमालय के प्रसिद्ध तीर्थ हैं। प्रत्येक स्थान पर आचार्य ने समवेत लोगों को वैदिक धर्म के पालन का ही उपदेश दिया। नन्दप्रयाग के बाद ही बदरीक्षेत्र प्रारम्भ हो जाता है। यह स्थान मन्दाकिनी और अलकनन्दा का मधुर मिलनस्थल है। इस पुण्यतीर्थ के मनोरम-गम्भीर परिवेश ने महर्षि वशिष्ठ को आकृष्ट किया था। यहीं शिव से वर पाने के लिए उन्होंने कठोर तपस्या की थी। वशिष्ठेश्वर शिव उन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित किये गये थे। थोड़ी ही दूर पर विरहीगंगा और विरहेश्वर महादेव हैं। प्राचीन काल में सती के विरह से विह्वल होकर भोलानाथ ने इस स्थान पर कठोर तपश्चर्या की थी। वह पुण्यस्मृति आज भी इस स्थान का माहात्म्य बता रही है। साथ ही जागरित कर रही है यात्रियों के प्राणों में एक करुणभाव का स्पन्दन। शक्तिशून्य शिव निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप हैं। शक्तिविहीन शिव तो वस्तुतः शवरूप ही हैं। इसीलिए तो शिव की कठोर साधना, शक्ति के साथ--सती के साथ--मिलने के लिए ही थी।

आचार्य नें पवित्र स्थानों के दर्शन किये। उनका निरुपाधिक अद्वय ब्रह्म यहाँ पर सोपाधिक भूमि के रूप से व्यक्त हो रहा था--'साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना।' लोकोत्तर महामानव अपने मन को निर्गुण निर्विकल्प भूमि से उतारकर सगुण ब्रह्मभाव का आश्रय ले अवस्थान करते हैं। अरूप के प्रतिष्ठान से उतरकर रूप की भूमि में अवस्थान करते हैं, अरूप एवं रूप

के मध्य विलास—एकत्व और बहुत्व के मध्य में आरोह एवं अवरोह।

इससे आगे गरुड़-गंगा है। इस स्थान पर परमभागवत गरुड़ ने भगवान् विष्णु के दर्शन के लिए अत्युग्र तपस्या की थी। हिमालय के सभी स्थान तपःपूत हैं। इसीलिए तो हिमालय को 'देवतात्मा' कहा है। जिस स्थान पर कोई महापुरुष साधना में प्रवृत्त होकर सिद्धिलाभ करता है, उस स्थान पर उसकी अनुभूति की भावधारा दीर्घकाल तक वर्तमान रहती है। परवर्ती साधक इस भावधारा से ही अपने आध्यात्मिक जीवन को पुष्ट करने का सुयोग पाते हैं।

एक के बाद दूसरे पर्वत-शृंग का अतिक्रमण कर सशिष्य आचार्य ज्योतिर्धाम में पहुँचे। उनके आगमन का समाचार पा स्थानीय राजा ने आगे आकर परम श्रद्धा से यतिवर का स्वागत एवं अभ्यर्थना की। उस स्थान पर वासुदेव, नृसिंहदेव, दुर्गादेवी और ज्योतिर्लिंग शिव के प्रसिद्ध मन्दिर थे। मन्दिर आदि के दर्शन कर आचार्य बड़े आनन्दित हुए और राजा के आन्तरिक आग्रह से उन्होंने कुछ दिन वहीं निवास किया।

आचार्य के आगमन के पूर्व ही उनकी अलौकिक शक्ति की कथा समस्त हिमालयक्षेत्र में फैल चुकी थी। कितने ही ब्राह्मण, पण्डित और साधक तथा अन्य साधारण जन द्वादशवर्षीय दिव्य-कान्ति यतिराज का अपने प्रवीण शिष्यों के साथ आगमन सुनकर मन में उनके दर्शन की आकांक्षा लिए ज्योतिर्धाम में एकत्र होने लगे। शंकर ने भी अक्लान्त भाव से अद्वैत-ब्रह्मात्मतत्त्व एवं वेद-वाक्यों की सुललित व्याख्या कर सब को चमत्कृत कर दिया। उस संन्यासी बालक का अनुपम देहलावण्य, ब्रह्मोपलब्धि की

आनन्दोज्ज्वल मुखकान्ति, अन्तर्दृष्टिसम्पन्न प्रदीप्त नयनयुगल, सौम्यमूर्ति और सर्वोपरि उनके सुमधुर व्यक्तित्व ने सब के हृदय में आनन्द और विस्मय का युगपत् संचार कर दिया। श्रोता और शिष्य सभी अवस्था एवं सांसारिक ज्ञान में आचार्य की अपेक्षा बहुत बढ़े-चढ़े थे। किन्तु वे तरुण संन्यासी, शास्त्रव्याख्या और अपने ब्रह्मानुभूतिपुष्ट व्यक्तित्व से सभी को परितृप्त एवं संशय-मुक्त कर रहे थे।

आचार्य शंकररचित दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र में इसका एक सुन्दर चित्र परिस्फुटित होता है--

"चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।"

---बड़ी अद्भुत बात है कि वटवृक्ष के नीचे बैठे शिष्य तो वृद्ध हैं किन्तु गुरु युवा है। गुरु की मौन अवस्थिति के द्वारा ही शिष्यों के सभी संशय छिन्न हो रहे हैं।

"मौनव्याख्याप्रकटितपरब्रह्मतत्त्वं युवानं,
वर्षिष्ठान्तेवसदृषिगणैरावृतं ब्रह्मनिष्ठैः।
आचार्येन्द्रं करकलितचिन्मुद्रमानन्दरूपं,
स्वात्मारामं मुदितवदनं दक्षिणामूर्तिमीडे॥"

---जिन्होंने मौनभाव में आसीन होकर ही परब्रह्मतत्त्व को प्रकाशित कर दिया है, जो ब्रह्मनिष्ठ-वृद्ध-ऋषिगणावृत युवा और आचार्यों में श्रेष्ठ हैं, जिनके हाथों में ज्ञानमुद्रा है, जो आनन्द-स्वरूप, स्वात्माराम और मुदितवदन हैं उन दक्षिणामूर्ति की मैं स्तुति करता हूँ।

इस स्तव में आचार्य ने मानो अपनी ही गुरुमूर्ति का वर्णन किया है। इसी दक्षिणामूर्ति से उन्होंने कितने ही प्राणों में ज्ञान-

दीप प्रज्वलित कर दिये थे, और शत-शत प्राणों में अमृतरस का संचार किया था। ब्रह्मज्ञ पुरुष के दर्शन मात्र से जीव का अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। और वे जो मूर्ति परिग्रह करते हैं, वह तो उनका अप्राकृतिक रूप है।

* * *

समग्र हिमाचल के ज्ञानपिपासुजन आचार्य को पाकर धन्य हो गये। ज्योतिर्धाम से चलकर क्रमशः विष्णुप्रयाग, धौलिगंगा ब्रह्मकुण्ड, विष्णुकुण्ड, शिवकुण्ड और गणेशतीर्थ आदि अनेक पुण्यस्थानों के दर्शन करते हुए आचार्य पाण्डुकेश्वर पहुँचे। किंवदन्ती है कि राजा पाण्डु ने इस स्थान पर कठोर तपस्या और आराधना द्वारा आशुतोष के पुण्यदर्शन प्राप्त किये थे। इसीलिए इस स्थान के महादेव का नाम 'पाण्डुकेश्वर' है।

आजकल प्रतिवर्ष समग्र भारत के विभिन्न प्रदेशों से यात्रा के समय लाखों यात्री बदरीनारायण के दर्शन के लिए आते हैं। आधुनिक वाहनों द्वारा थोड़े ही प्रयास से कुछ ही दिनों में बदरीतीर्थ के दर्शन कर यात्री हृषीकेश लौट आते हैं। वर्तमान समय में पान्थनिवास, चट्टी आदि की उन्नति एवं स्वास्थ्यविभाग की विशेष व्यवस्था के फलस्वरूप पैदल तीर्थयात्रा करनेवाले यात्रियों को भी पहले के समान भयंकर कष्ट नहीं भोगने पड़ते हैं। दुर्गम पर्वतीय तीर्थस्थान भी आजकल सुगम हो गये हैं। विशेषतया जो व्यक्ति पैसा खर्च कर सकता है उसके लिए तो ये सभी स्थान शैलनिवास के समान सुखद हैं। किन्तु शंकर जिस समय गये थे, उस समय अधिक लोक इस मृत्युसंकुल दुर्गम तीर्थ की यात्रा करने का साहस नहीं करते थे। ये स्थान सचमुच ही 'महाप्रस्थान का पथ या द्वारस्वरूप' थे।

यद्यपि शंकर अद्वैत-ब्रह्मानुभूति के उच्च स्तर तक आरोहण कर चुके थे एवं अगाध पाण्डित्य और यशस्करी वाग्मिता के भी अधिकारी बन चुके थे, तथापि शारीरिक निर्माण एवं शक्ति की दृष्टि से वे केवल द्वादशवर्षीय बालक ही थे। फिर भी देवादिष्ट हो देवकार्य-साधन के लिए तीन महीनों तक पथकष्ट एवं प्राकृतिक दुर्योगों के साथ संग्राम करते हुए वे कितने ही नद-नदी, हिंस्र-जन्तुयुक्त निविड़ वन, दुर्गम गिरिकन्दर, गिरिशृंग एवं सैकड़ों अन्य बाधाओं का अतिक्रमण करते हुए चले जा रहे थे।

* * *

होते होते थोड़ी ही दूर पर बदरीक्षेत्र दिखायी पड़ने लगा। यह स्थान १०,२४४ फीट उँचाई पर है। शिष्यों को साथ लेकर आचार्य इस परमपुण्यधाम भूवैकुण्ठ में पहुँचे। इस पुण्यभूमि का अनुपम सौन्दर्य एवं गम्भीर परिवेश स्वतः ही मन को एक देहातीत सत्ता के अतीन्द्रिय राज्य की ओर ले जाता है। इसी स्थान पर नर और नारायण ऋषियों ने तपस्या की थी। दोनों ओर फेनशुभ्र हिममय नर और नारायण पर्वत उसी अतीत युग की महिमा का गान करते हुए गौरव के साथ उन्नतशिर हो दण्डायमान हो रहे हैं। समीप ही तुषाराच्छन्न हिमवाहिनी अलकनन्दा अपने भीतर हिमालय का सन्देश लिये चल रही है। नारायण के मन्दिर के समीप ही तप्तकुण्ड है। आचार्य शिष्यों के साथ तप्तकुण्ड में स्नान कर श्रीबदरीविशाल के मन्दिर में गये। किन्तु सत्ययुग में ऋषियों द्वारा प्रतिष्ठित चतुर्भुज नारायण का विग्रह तो मन्दिर में था ही नहीं। उसके स्थान पर शालग्राम-शिला की, भगवान् मानकर पूजा होती थी। यथाविधि देवार्चनादि समाप्त कर आचार्य भारी मन से मन्दिर के बाहर

आये। उनके दर्शन के लिए मन्दिर के पुजारी समवेत हुए। उन्हें सम्बोधन कर आचार्य ने कहा—"हे पूज्य अर्चकगण, मन्दिर नारायणविग्रह से शून्य क्यों है? मैंने तो यही सुना था कि इस पुण्यक्षेत्र में भगवान् चारों युगों में निवास करते हैं।"

अर्चकों ने उत्तर दिया—"महात्मन्! चीनी दस्युओं के अत्याचार से हमारे पूर्वपुरुषों ने निकटवर्ती किसी कुण्ड में श्रीविग्रह को छिपाकर रख दिया था, किन्तु बाद में सैकड़ों प्रयास करने पर भी विग्रह की खोज नहीं की जा सकी, एवं उस अवधि से शालग्राम-शिला को ही भगवान् मानकर पूजादि कार्य सम्पन्न किये जा रहे हैं।"

अर्चकों की बात सुनकर विशेष चिन्तित चित्त से आचार्य ध्यावमग्न हो गये। ध्यान से व्युत्थित हो उन्होंने गम्भीर स्वर में पुजारियों से पूछा—"यदि विग्रह का उद्धार सम्भव हो तो उस विग्रह की पुनः प्रतिष्ठा कर यथाविधि पूजा करने के लिए क्या आप लोग तैयार हैं?"

आचार्य के श्रीमुख से यह बात सुनते ही सभी असीम आनन्द व्यक्त करते हुए एक साथ बोल उठे—"हम धन्य हो जायेंगे, कृतकृत्य हो जायेंगे; इस विग्रह की बहुत आदर के साथ प्रतिष्ठा करके पूजा करेंगे।"

तब आचार्य उठकर निविष्ट चित्त से धीरे धीरे नारद-कुण्ड की ओर चले। शिष्यगण, पूजक और यात्री सभी उनके पीछे पीछे चल रहे थे। कुण्ड के किनारे आकर स्तब्धभाव से कुछ क्षण खड़े रहकर आचार्य कुण्डजल में उतर पड़े। यह देखकर पुजारीगण विचलित हो हाहाकार कर उठे—"यतिवर, इस कुण्ड में मत उतरिये। कुण्ड के साथ अलकनन्दा का संयोग है। अतः

स्रोत आपको नदीगर्भ में खींच ले जायगा। अनेक व्यक्ति इसी प्रकार अपने प्राणों से हाथ धो बैठे हैं। आप निकल आइये, निकल आइये।"

शंकर ने मानो कुछ भी नहीं सुना। वे कुण्ड के जल में डुबकी लगा गये एवं थोड़ी ही देर में चतुर्भुज नारायण की एक मूर्ति हाथ में लिये जल के ऊपर आ गये। किन्तु देखनें पेर पता चला कि विग्रह तो खण्डित था। दक्षिण हस्त की कुछ अंगुलियाँ टूट जाने से विग्रह की अंगहानि हो गयी थी। यह देख उन्होंने उस खण्डित मूर्ति को पार्श्वस्थ अलकनन्दा में विसर्जित कर दिया एवं पुनः कुण्ड में निमज्जित हो गये। इस बार भी वे एक नारायण-मूर्ति हाथ में लेकर ऊपर आये। किन्तु कितनी अद्भुत बात थी! इस बार भी पहलेवाला वही भग्नविग्रह था। इस विग्रह को भी नदीस्रोत में विसर्जित कर शंकर तीसरी बार कुण्ड के जल में निमज्जित हुए एवं एक विग्रह पुनः हाथ में लिये ऊपर उठे। उन्होंने निरीक्षण किया तो वही भग्नविग्रह! स्तम्भित हो मूर्ति को हाथ में लिये शंकर सोचने लगे--यह क्या दैवी माया है! तब आकाशवाणी हुई--"शंकर, तुम दुविधा में मत पड़ो। कलियुग में इस भग्नविग्रह की ही पूजा होगी।"

यह सुनकर शंकर का हृदयसिन्धु उद्वेलित हो उठा। वे भक्ति-आप्लुत चित्त से अखिल जन-गण के आश्रयस्थल भुवनमंगल दिव्यनामधेय उस नारायण को अपने कन्धे पर लेकर बाहर निकल आये। चारों दिशाएँ आनन्दजयध्वनि से मुखरित हो उठीं। सभी लोग इस अलौकिक घटना को देखकर स्तम्भित हो गये। आचार्य शंकर ने यथाशास्त्र अभिषेक-कार्य सम्पन्न कर स्वयं श्रीनारायणविग्रह की शत युगों के लिए मन्दिर में प्रतिष्ठा

की एवं अपने संगी एक योग्य ब्राह्मण पर सेवा-पूजा का भार सौंपकर व्यास-आश्रम की ओर चल दिये।

चार

बदरीविशालजी के मन्दिर से थोड़ी ही दूर पर त्रिकोण क्षेत्र की अन्तिम सीमा पर स्थित एक पर्वत के अधोदेश में वह प्राचीन व्यासाश्रम स्थित था। वह एक बड़ी भारी गुफा थी। निकट ही अलकनन्दा और केशवगंगा का संगमस्थल केशवप्रयाग है। चारों ओर केवल चिरतुषारमण्डित हिमाद्रि है। कहा जाता है कि जागतिक कोलाहल से बहुत दूर इस गुफा में रहते हुए ही भगवान् बादरायण ने लक्षश्लोकी महाभारत की रचना की थी। गुहा के समीप ही दक्षिणभाग में सरस्वती देवी और वामभाग में गजानन गणपति का मन्दिर है। किंवदन्ती है कि मर्त्यलोकवासी जनों के उपयोगी लक्षश्लोकी महाभारत की मन ही मन में रचना कर व्यासदेव सोचने लगे—किस प्रकार इस पुण्यग्रन्थ को शिष्यों को पढ़ायें और संसार में इसका प्रचार करें। बिना इसे लिपिबद्ध किये तो इसका प्रचार सम्भव नहीं है। वेदव्यास की इस उत्कण्ठा को जान लेने पर पितामह ब्रह्मा उनके पास आये और बोले—"आप गणेश का स्मरण करें। वे आपके इस ग्रन्थ के लिपिकार होंगे।"

व्यासदेव द्वारा गणेश का स्मरण किये जाते ही वे आविर्भूत होकर बोले—"मैं आपके ग्रन्थ का लिपिकार बनने को तैयार हूँ। किन्तु लिखते समय मेरी लेखनी क्षणमात्र के लिए भी रुकेगी नहीं। यदि आप जल्दी-जल्दी श्लोक न बोल सके और मेरी लेखनी रुक

गयी तो उससे आगे मैं नहीं लिखूँगा।"

व्यासदेव ने सोचा—मेरी इस रचना में आठ हजार ऐसे कूट-श्लोक हैं, जिनका अर्थ केवल मैं और मेरा पुत्र शुकदेव ही समझ सकते हैं।

तब वे गणेशजी से बोले—"ठीक है, लेकिन जो कुछ मैं कहूँगा, उसका अर्थ बिना समझे आप लिखियेगा नहीं।"

गणेशजी ने कहा—"बहुत अच्छा, वही होगा।" यद्यपि गणेशजी सर्वशास्त्रपारंगत हैं तो भी उन्हें उन कूटश्लोकों का अर्थसम्बन्ध सोचने में थोड़ासा समय तो लगता ही था। और इतनी देर में व्यासजी अन्य बहुतसे नये श्लोकों की रचना कर डालते थे। इसी प्रकार सम्पूर्ण महाभारत लिखा गया। इस कार्य में साक्षी-रूप में सरस्वती देवी भी वहाँ उपस्थित थीं।‡

* * *

व्यासतीर्थ में आने के बाद आचार्य ने कुछ दिन गम्भीर ध्यान में मग्न होकर बिताये। बाद में भूलोक-देवलोक-समादृत ब्रह्मसूत्र के भाष्य की रचना में उनकी प्रवृत्ति हुई। ज्यों ज्यों भाष्य की

‡ व्यासदेव किंवा वैशम्पायन शुकदेव आदि उनके प्रधान शिष्यों में क्या कोई भी लिखना नहीं जानता था? वे यदि लिख सकते थे तो 'गणेश' नामक अन्य लिपिकार को नियुक्त करने की सार्थकता क्या है? यह प्रश्न स्वभावतः ही हमारे मन में उठता है। वेदव्यास ने वेदों का विभाग किया है; अष्टादश पुराण, अनेक महापुराण, उपपुराण एवं महाभारत आदि अनेक संहिताग्रन्थों के वे प्रणेता हैं। सकल शास्त्रों के पण्डित होते हुए भी वे लिख नहीं सकते थे—यह सोचने को भी हमारा मन नहीं करता। अथवा यह भी हो सकता है, भारत में उस समय तक "लिखने" की परम्परा ही न हो। शास्त्रादि, श्रुति अर्थात् सुन-सुनकर एवं स्मृति अर्थात् स्मरण करके ही रक्षित होते थे।

रचना होती जाती थी त्यों त्यों रचित अंश वे शिष्यों को पढ़ाते भी जाते थे। वे ध्यानबल से सूत्रों का प्रकृत मर्मार्थ अवगत कर तदनुरूप भाष्य की रचना करते थे।

आचार्य भाष्यरचना के लिए हिमालय की एक गुप्त कन्दरा में निवास कर रहे हैं, यह समाचार चारों ओर फैलते ही नाना मतों एवं विभिन्न सम्प्रदायों के पण्डितगण व्यासाश्रम में आकर इकट्ठे होने लगे। भाष्यरचना से अवशिष्ट काल में शंकर प्रति-दिन शिष्यों तथा साधकों को योगसाधना का उपदेश भी देते रहते थे। इस प्रकार भाष्यपाठ, शास्त्रमीमांसा और योगसाधनादि से सब के मन एक उच्च आध्यात्मिक भावराज्य की ओर उठते चले जा रहे थे।

आचार्य के शिष्यों में सनन्दन नामक एक शिष्य सर्व विषयों में योग्य था। तीक्ष्ण बुद्धि, पाण्डित्य, शास्त्रानुराग, गम्भीर मेधा, सर्वतोमुखी प्रतिभा और सर्वोपरि असीम गुरुभक्ति के कारण वह शंकर का विशेष प्रियपात्र था। अतः अन्य शिष्यगण सनन्दन को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे। शंकर को भी यह ज्ञात था। तब उन्होंने एक अद्भुत उपाय से सनन्दन का श्रेष्ठत्व प्रकट किया।

कहा जाता है कि एक दिन किसी प्रयोजन से सनन्दन अलक-नन्दा के उस पार स्वल्प दूरस्थ सेतु का अतिक्रमण करने गये। शंकर ने अपने प्रिय शिष्य के माहात्म्य को सब लोगों के समक्ष प्रकट करने के लिए ठीक उसी समय—मानो उन्हें विशेष प्रयोजन हो, इस भाव से—उच्च स्वर में पुकारा—"सनन्दन! सनन्दन! शीघ्र आओ!" गुरुदेव के त्रस्त आह्वान से सनन्दन बड़े विचलित हो उठे। निश्चय ही गुरुदेव किसी संकट में पड़ गये हैं, परन्तु सेतु लाँघकर उस पार जाने में बड़ा समय लगेगा—यह सोचकर शीघ्र

उस पार पहुँचने के लिए सनन्दन सीधे अलकनन्दा में ही कूद पड़े। हिमाच्छन्न खरस्रोता नदी ! मत्त मातंग भी उसमें बह जाय। प्राणों का मोह छोड़ सनन्दन नदी में कूद पड़े। दूसरी ओर अन्य शिष्य सनन्दन की मृत्यु को ध्रुव मान हाहाकार कर उठे। किन्तु सनन्दन का शरीर देवरक्षित था। आद्याशक्ति महामाया की इच्छा से नदी में थोड़ी-थोड़ी दूर पर कमल प्रस्फुटित हो उठे; और सनन्दन इन्हीं कमलों पर पैर रखते नदी के दूसरे किनारे पर पहुँच गये। हाँफते हुए वे एकदम आचार्य के पास पहुँचे। शिष्य-गण इस अलौकिक घटना को देखकर विस्मित हो उठे। वे एकदम अवाक् रह गये। §

आचार्य ने तब शिष्यों से सनन्दन की ओर इशारा करते हुए कहा —"देखा तुम लोगों ने, सनन्दन पर भगवती की कितनी कृपा है ! आज से सनन्दन का नाम पद्मपाद होगा। सभी इन्हें इसी नाम से बुलावें।"

इतने समय में सनन्दनजी आचार्य के आह्वान का गूढ़ उद्देश्य समझ गये। भावपूर्ण हो उन्होंने श्रीगुरुदेव की चरणधूलि बार-म्बार अपने मस्तक पर धारण की। "गुरुकृपा हि केवलम्।" इस अगाध भवजलधि से पार होने का एकमात्र उपाय है श्रीगुरुकृपा। विशेषतः आचार्य शंकर के समान 'महापुरुष-संश्रय' तो वस्तुतः ही दुर्लभ है। ऐसा होने पर गुरुकृपा से साधक को चतुर्वर्गफल-प्राप्ति होती है एवं आत्मकामी को 'करामलकवत्' आत्मदर्शन हो जाता है। गुरु केवल देह का नाम नहीं है। अपितु देह के मध्य जो चित् रूप से देही वास करता है वह चित्-शक्ति ही प्रकृत

§ किसी जीवनीकार के मत में यह घटना उत्तरकाशी में घटित हुई थी। कोई वाराणसी में गंगातीर पर भी बताते हैं।

गुरुशक्ति है ।

अपनी भूल समझ जाने पर शिष्यों ने आचार्यचरणों में क्षमा की भिक्षा माँगी । उन्होंने तब अपने शिष्यों को आशीर्वाद देते हुए कहा––"तुम लोग भी पद्मपाद के समान बनने की चेष्टा करो एवं ऐसा करने पर ही यह दुर्लभ मनुष्यजन्म सार्थक होगा ।"

* * *

उन्हीं दिनों में आचार्य ने ब्रह्मसूत्र, द्वादश उपनिषद्, भगवद्-गीता, विष्णुसहस्रनाम और सनत्सुजातीय––इन सोलह प्रसिद्ध ग्रन्थों की भाष्यरचना पूरी की । समस्त भाष्य शिष्यों को पढ़ाये भी जा चुके थे एवं विभिन्न साधनाओं के साथ साथ शम, दम, तितिक्षा, उपरति, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि की शिक्षा द्वारा शंकराचार्य शिष्यों के आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता का विधान भी कर रहे थे । इस विशेष कार्य के लिए ही तो उनका व्यासतीर्थ में आगमन हुआ था । चार साल में ही उन्होंने ये सभी कार्य समाप्त कर दिये ।

शिष्यों के मन में अब विशेष उन्मुखता का भाव आ गया था । भाष्यादि को जनसाधारण में किस प्रकार प्रचारित किया जाय, इस सम्बन्ध में उन्होंने आचार्य का ध्यान आकृष्ट किया । आचार्य भी इसके लिए प्रस्तुत हो गये ।

* * *

बदरीक्षेत्र से शिष्योंसहित आचार्य अब ज्योतिर्धाम की ओर चले । शून्य में लटकते हुए घण्टे की ध्वनि की तरह शंकराचार्य के अलौकिक जीवन का प्रभाव बहुत दूर दूर तक फैल गया । अनेक सुविख्यात विद्वान् ब्राह्मण तथा विभिन्न श्रेणियों के लोग उनके अनुगामी हो गये । ज्योतिर्धाम के राजा ने इससे पहले ही शंकरा-

चार्य के शिष्य होकर व्यासाश्रम में आचार्य के रहने का प्रबन्ध कर दिया था। भगवान् शंकर ज्योतिर्धाम आ रहे हैं जानकर राजा ने उनके समक्ष जाकर उनके श्रीचरणों में अवनत हो अपने पूज्य गुरुदेव का स्वागत किया। देखते देखते ज्योतिर्धाम एक महान् धर्मोत्सवक्षेत्र में परिणत हो गया। समस्त हिमाचल प्रदेश के अनेक ब्राह्मण पण्डित, प्रतिष्ठित व्यक्ति, विभिन्न सम्प्रदाय के अनेक साधु एवं साधक के समागम से ज्योतिर्धाम आनन्दपूरित हो गया। मन्दिरों में विशेष पूजा-अर्चना होने लगी। शकर तथा पद्मपाद प्रभृति शिष्य विभिन्न स्थानों में भाष्यों की व्याख्या करने लगे। शास्त्रार्थ, शास्त्रमीमांसा तथा वेद का महिमाकीर्तन चलने लगा। शंकर के श्रीमुख से अद्वैत-ब्रह्मतत्त्व की व्याख्या सुनकर सब लोग मुग्ध हो गये।

आचार्य द्वारा भाष्यादि के प्रचार की इच्छा जानकर राजा ने भाष्यग्रन्थ आदि की प्रतिलिपि कराने के लिए अनेक पण्डितों को नियुक्त किया। सुविज्ञ तथा भक्तिमान् अर्चकों को नियुक्त करके सभी देवमन्दिरों में आचार और निष्ठा के साथ पूजा आदि का पुनःप्रवर्तन भी कर दिया। जो मन्दिर बौद्धधर्मप्लावन के कारण परित्यक्त हो गये थे वहाँ पुनः विग्रह स्थापित कर पूजादि का प्रवर्तन हो गया। राजा स्वयं प्रजा को विद्याचर्चा, सदाचार, देवपूजा तथा धर्मजीवन-पालन करने के लिए उत्साहित करने लगे। अनेक स्थलों में राजा के ही व्यय से यज्ञ, होम, देवार्चना आदि का अनुष्ठान होने लगा। आचार्य ने गृहस्थाश्रमियों को पंचदेवता की पूजा तथा पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान के लिए उत्साहित किया। इस प्रकार समस्त पार्वत्य प्रदेश में थोड़े दिनों के भीतर एक महान् धर्मप्लावन के द्वारा वैदिक धर्म का पुनः प्रतिष्ठान हुआ।

ज्योतिर्धाम में कुछ दिन निवास करके आचार्य शंकर अपने शिष्यों के साथ उत्तराखण्ड के अन्यान्य तीर्थों के दर्शन के लिए चले। बदरीधाम की तरह केदारक्षेत्र का माहात्म्य भी पुराणादि में अनेक प्रकार से वर्णित है। इस तीर्थयात्रा में राजा भी आचार्य के अनुगामी हुए। उनके आदेश से उनके कर्मचारीगण पहाड़ी मार्ग का यत्र तत्र संस्कार तथा पदयात्रा सुगम करने की सभी व्यवस्थाएँ करते हुए आगे आगे चलने लगे।

ज्योतिर्धाम से केदार जाने का मार्ग बड़ा दुर्गम है। सब लोग नन्दप्रयाग के रास्ते से पंचकेदार के अन्यतम कल्पेश्वर तीर्थ में आये। अनन्तर गोपेश्वर, अनसूया देवी आदि स्थानों से होकर रुद्रनाथ नामक चतुर्थ केदार के स्थान में पहुँचे। सभी जगह अनेक लोग आचार्य के दर्शन के उद्देश्य से समवेत होते थे। वे भी सभी को धर्मोपदेश से सन्तुष्ट करके धार्मिक भाव से जीवनयापन करने के लिए उत्साहित करते थे।

इसके अनन्तर तुंगनाथ नामक तृतीय केदार अवस्थित है। उसकी ऊँचाई १२,०७२ फीट है। अतीव ऊँचे पर्वत पर स्थित तुंगनाथ का भव्य दृश्य अत्यन्त नयनाभिराम है। यहाँ खड़े होने पर उत्तर की ओर पश्चिम से पूर्व तक विशाल हिमालय के अगणित धवल हिमाच्छादित शिखरों को देखकर मनुष्य मुग्ध हो जाता है। ऐसा अतुलनीय सौन्दर्य-माधुर्य और कहीं नहीं दिखायी पड़ता। मानो महायोगी केदार और बदरीनाथ की श्वेत पुष्पशय्या बिछी हुई है। इस अभेदात्मा हरिहर की सेवा में प्रकृतिदेवी उनके चरणों के नीचे अपने मुक्त केश फैलाकर श्यामल शोभामय रूप से ध्यानमग्न हो बैठी हुई हैं।

इस रमणीय दृश्य ने आचार्य के मन को मुग्ध कर लिया।

उनका चित्त भूमा के ध्यान में लीन हो गया। यों भी जब हम व्यष्टिचेतना के भीतर रहते हैं उस समय हमारे चित्त का आकाश परिमित रहता है। मनुष्य जब समष्टिचैतन्य में अपनी व्यष्टि-चेतना को विलीन कर देता है, अर्थात् जब वह उदारता और महत्ता के शीर्षस्थान में उठ खड़ा होता है उस समय वह अपने हृदय और दृष्टि की परिव्याप्ति देख सकता हैं। मनुष्य उस समय अपने को ब्रह्माण्ड के भीतर ओतप्रोत पाता है। उस समय न जन्म है न मृत्यु। आनन्द के समुद्र में वह आप्लुत हो जाता है। अपने ससीम व्यक्तित्व को खोकर वह विश्वात्मा बन जाता है। जलबिन्दु समुद्र में गिरकर जिस प्रकार समुद्र बन जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी असीम हो जाता है। क्षुद्र मनुष्य उस समय लोक से लोकोत्तर में, क्षुद्र से बृहत्तम में, जीवन से महाजीवन में और आनन्द से भूमानन्द में पहुँच जाता है।

तुंगनाथ के ब्राह्मण-पण्डितगण आचार्य के दर्शन तथा उनके श्रीमुख से धर्मोपदेश का श्रवण करके इतने अधिक मुग्ध हुए कि उनकी पुण्यस्मृति के तर्पण के लिए वहाँ अन्यान्य देवविग्रहों के साथ आचार्य की भी प्रस्तरमूर्ति स्थापित की।

तुंगनाथ से आचार्य क्रमशः शोणितपुर, गुप्तकाशी, माध्यमेश्वर (द्वितीय केदार), महिषमर्दिनी, शाकम्भरी, त्रियोगीनारायण, शोणप्रयाग, मुण्डहीन गणेश आदि स्थानों का दर्शन कर गौरी के तपस्या-स्थल गौरीकुण्ड में पधारे। इस स्थान की ऊँचाई ६५०० फीट है। यहाँ एक बहुत बड़ा गरम जल का कुण्ड है। इस कारण यह स्थान यात्रियों के लिए विशेष आनन्ददायक है। हिमालय के जिन-जिन स्थानों में गरम जल का कुण्ड है वहीं एक-एक तीर्थस्थान बन गया है।

यहीं से केदारक्षेत्र का आरम्भ समझना चाहिए। जो लोग केदार के प्रचण्ड शीत को सहन नहीं कर सकते वे गौरीकुण्ड से प्रतिदिन केदारदर्शन के लिए यातायात करते हैं। धारणा है कि यहाँ गौरीदेवी ने कार्तिकेय को गर्भ में धारण किया था। तप्त-कुण्ड में स्नान करके वहाँ के देवमन्दिरों का दर्शन कर आचार्य कुछ समय तक विश्राम करने लगे। अनन्तर चीरवासा भैरव और भीमसेन चढ़ाई पार कर केदारक्षेत्र में पहुँचे।

केदारधाम एक त्रिकोणाकृति विस्तीर्ण पठार है। यह स्थान चिरतुषारमण्डित, पर्वतमाला-परिवेष्टित, शान्ति और गाम्भीर्य से पूर्ण है। स्थान की ऊँचाई के कारण वहाँ श्वासकष्ट होता है। केदारनाथ जाग्रत देवता हैं। स्मरण मात्र से ही आशुतोष भक्तों के प्रति प्रसन्न होते हैं। वहाँ अनेक तीर्थों का समावेश है। पुराणों में वर्णित है कि युधिष्ठिर आदि पंचपाण्डव महाप्रस्थान के मार्ग में जाते हुए इस केदारधाम में भी आये थे।

इस पुण्यधाम में आने पर आचार्य के हृदय में एक अनिर्वचनीय दिव्यानन्द उत्पन्न हुआ। उन्होंने आनन्द से देवदर्शन तथा तीर्थ-कृत्यादि समाप्त किया। केदारधाम की ऊँचाई ११,७५३ फीट है। बदरीनारायण की अपेक्षा इस स्थान की ऊँचाई अधिक होने के कारण शीत भी यहाँ बहुत अधिक है। शिष्यवृन्द अत्यधिक शीत से विशेष क्लेशित हो गये। इसे देखकर आचार्य का हृदय करुणा से भर आया। उन्होंने ध्यानमग्न होकर देखा कि निकट ही एक उष्ण प्रस्रवण है। उस गरम सोते के अस्तित्व को कोई नहीं जानता था। आचार्य के आदेशानुसार राजा के कर्मचारीगण उस स्थान की बर्फ और पत्थर को हटाकर वहाँ खोदने लगे। और थोड़ी देर खोदने के पश्चात् बहुत गरम जलधारा पाकर सभी लोग आन-

न्दित हुए । उतने ऊँचे पहाड़ पर उस प्रकार का अति उष्ण प्रस्रवण का मिलना कितना दुर्लभ है !

केदार में आकर आचार्य प्रायः सदा ही ध्यानमग्न रहा करते थे। वे केदार में कितने दिन रहे इसका किसी को पता नहीं। कुछ लोगों के मतानुसार वे वहाँ एक मास तक थे। प्रतिदिन वे केदारनाथ के मन्दिर में जाकर बहुत देर तक ध्यानमग्न रहते थे। आचार्य के साथ अनेक यात्री उस पुण्यतीर्थ में आये थे। सभी उनके साहचर्य में आनन्दित थे।

केदार के उस निर्जन परिवेश में कुछ दिनों तक आत्मानन्द का सम्भोग कर आचार्य गंगोत्री (भागीरथी के उत्पत्तिस्थल गौमुखी) की ओर चल पड़े।

यात्रापथ गौरीकुण्ड, त्रियोगीनारायण, बूढ़ाकेदार होकर दुर्गम गिरिसंकट (दर्रा) पँवाली की कठिन चढ़ाई (११, ३६४ फीट) तथा हिंसक जन्तुओं से पूर्ण जंगलों के भीतर से गया है। इस तरह मृत्यु से संग्राम करते हुए एक पक्ष तक चलने के बाद भागीरथी का दर्शन मिला। त्रिलोकपावनी सुरनदी की शोभा यहाँ अपूर्व थी। न जाने कितने युग से पर्वतों के साथ उनका अनवरत अनन्त संघर्ष चल रहा है। अक्लान्त भाव से कठिन शिलाखण्डों को उखाड़कर, पर्वतों का भेदन कर वह उच्छ्वासमय अविराम गति से चल रही है। न जाने कितने रमणीय स्थान एवं समृद्ध नगर-महानगर, कितने ग्राम, उपवन तथा जनपदों को पवित्र करती हुई समुद्र में पहुँचने के लिए वह निरन्तर प्रधावित हो रही है। चारों ओर के पर्वत प्रतिध्वनित हो रहे हैं। हरगुणगानरत गंगा की आनन्दलहरी से जंगल गूँज रहे हैं। आचार्य शंकर गंगादेवी के दर्शन पाकर आनन्दित चित्त से सुललित स्तवनगान द्वारा गंगाजी

की स्तुति-वन्दना करने लगे--

देवि सुरेश्वरि भगवति गंगे त्रिभुवनतारिणि तरलतरंगे ।
शंकरमौलिविहारिणि विमले मम मतिरास्तां तवपदकमले ॥१॥
भागीरथि सुखदायिनि मातस्तव जलमहिमा निगमे ख्यातः ।
नाहं जाने तव महिमानं त्राहि कृपामयि मामज्ञानम् ॥२॥‡ इत्यादि ।

---

‡ आचार्य-रचित सम्पूर्ण गंगास्तोत्र का अनुवाद नीचे दिया है--

हे सुरेश्वरि भगवति त्रिभुवनतारिणि देवि तरलतरंगशालिनि शिव-शिरोवासिनि विमले गंगे ! आपके चरणकमलों में मेरी मति स्थिर हो ।१॥

हे सुखदायिनि माता भागीरथि ! वेदो में आपके पुण्यसलिल की महिमा विख्यात है । मैं आपकी अनन्त महिमा नहीं जानता । हे कृपामयि ! मैं अज्ञानी हूँ, मेरी रक्षा कीजिये ।२॥

हरिचरणकमल से तरंग रूप में निर्गत, तुषारचन्द्र और मुक्ता के समान शुभ्र तरंगशालिनि हे गंगे ! मेरे पापभार दूर कीजिये और कृपापूर्वक भवसागर से मेरा उद्धार कीजिये ।३॥

हे मातः ! आपके अमल सलिल का जिसने पान किया है वह अवश्य ही परमपद को प्राप्त होगा । जो आपका भक्त है उसे देखने तक का अधिकार यम को नहीं है ।४॥

हे पतितोद्धारिणि जाह्नवि ! खण्डित गिरिवर द्वारा मण्डिततरंगशालिनि, भीष्मजननि, जह्नुकन्ये, पतितनिवारिणि गंगे ! आप त्रिभुवनधन्या हैं ।५॥

पारावार-विहारिणि , देववधुओं के द्वारा चंचल कटाक्षों से अवलोकित गंगे, आप संसार में कल्पतरु के समान फल देनेवाली हैं । जो आपको प्रणाम करता है वह इस लोक में पतित नहीं होता ।६॥

नरकनिवारिणि, कलुषविनाशिनि, अपनी महिमा में अति यशस्विनि जाह्नवि गंगे ! आपकी कृपा से यदि कोई आपके प्रवाह में स्नान करता है तो उसे फिर कभी जननी-जठर में प्रवेश नहीं करना पड़ता ।७॥

हे उज्ज्वलांगि; पवित्र तरंगवाली, कृपाकटाक्षमयि, इन्द्रमुकुटमणि-उद्भासित-चरणे, सुखदायिनि, मंगलप्रदे, सेवकाश्रये, कृपाकटाक्षकारिणि

भागीरथी के तीर पर से आचार्य गंगा के उत्पत्तिस्थान गौमुखी की ओर चलने लगे। उनके हृदय में अमृतगंगा का करुणास्रोत प्रवाहित हो रहा था। गंगोत्री तक कुछ लोगों का आना-जाना है। परन्तु गौमुखी जाने के लिए पगडण्डी तक नहीं है। जब गंगा का ऊपरी स्तर बरफ से आच्छादित रहता है तो उस बरफ पर से ही लोग गौमुखी तक जाते हैं। मानों यह बरफ का ही राज्य है। यहाँ न कोई मनुष्य दिखायी पड़ता है और न कोई पशु-पक्षी ही। आचार्य दैवबल से बलीयान् होकर जीवन और मृत्यु को तुच्छ

जाह्नवि ! आपकी जय हो, आपकी जय हो ।८।।

हे भगवति ! मेरे रोग-शोक, पाप ताप, कुमति-कलाप हरण कीजिये। हे त्रिभुवन-श्रेष्ठे, वसुधाहार-स्वरूपे ! आप ही मेरी एकमात्र गति हैं ।९।।

हे अलकानन्ददायिनि परमानन्दस्वरूपे, हे कातरवन्दिते ! मेरे प्रति करुण कीजिये। आप के तीर के समीप जिसका निवास है अवश्य ही उसका वैकुण्ठवास हो रहा है ऐसा कहना होगा ।१०।।

आपके जल में कच्छप या मत्स्य किंवा तीर पर छोटा गिरगिट अथवा तीर के दो कोसों के भीतर दीन चण्डाल होना भी अच्छा है। तथापि आप से दूर कुलीन नृपति होना भी अच्छा नहीं है ।११।।

हे भुवनेश्वरि त्रिभुवनपावनि सर्वजनप्रशंसिते देवि, जलमयि, जह्नुसुते ! जो मनुष्य प्रतिदिन इस पवित्र गंगास्तोत्र का पाठ करता है अवश्य ही उसे सर्वत्र जयलाभ होता है ।१२।।

जिनके हृदय में गंगाभक्ति है उन्हें सदा सुख तथा मोक्ष का लाभ होता है। शंकरसेवक शंकर के द्वारा परमानन्द से निबद्ध सुन्दर और मधुर पज्झटिका छन्द में रचित अभीष्टफलप्रद, संसार के साररूप इस गगास्तोत्र का विषयविमुग्ध जन पाठ करें ।१३-१४।।

शंकर की गंगाभक्ति मर्मस्पर्शी है। विशेष रूप से ब्रह्मज्ञ पुरुष ने गंगा के माहात्म्य का कीर्तन किया है इस कारण गंगा की महिमा केवल एक भावोच्छ्वास मात्र नहीं है।

समझकर गौमुखी के अभिमुख चले जा रहे हैं । गुल्म-पादप-रहित चिरतुषाराच्छादित इस दुर्गम गौमुखी के मार्ग में दो-एक यात्री के अतिरिक्त जनमानव का चिह्न तक दृष्टिगोचर नहीं होता ।

वर्तमान समय में यात्रियों का समागम कुछ बढ़ गया है । और गंगोत्री को पार कर गौमुखी के मार्ग में धर्मशाला आदि का भी निर्माण हुआ है । आजकल यात्रा के समय कुछ यात्री उस तीर्थ में जाते भी हैं---किन्तु आचार्य जिस समय गये थे उस समय की अवस्था सर्वथा भिन्न थी ।

गौमुखी† में आकर आचार्य आत्मविभोर हो गये । उस नयनाभिराम दृश्य ने उनके अन्त:करण को पुलकित कर दिया । क्षितिज मानो असीम के साथ मिलकर एक हो गया है । चारों ओर दृष्टि की अन्तिम सीमा तक सर्वत्र बरफ ही बरफ है । निर्मल आकाश के नीचे सूर्यकिरणरंजित उस हेममय सौन्दर्य की तुलना नहीं हो सकती । अभिभूत की तरह उन्होंने उस विराट् के चरणतल में अवलुण्ठित होकर भक्ति-गद्गद चित्त से तीर्थक्रिया आदि सम्पन्न की । दुर्दान्त शीत से शरीर अवसन्न हो गया । चिरतुषार के राज्य में वे आ गये । सुरसरि भागीरथी हिमवाह के भीतर से विपुल जलोच्छ्वास के रूप में एक गौमुखाकृति स्थान में से प्रबल स्रोत के आकार में निकल रही है । बड़े बड़े हिमशिला-खण्ड उस स्रोत के साथ

---

† पुराणादि की वर्णना से जाना जाता है कि सुरसरि धूर्जटि का जटाजाल भेदकर स्वर्ग से पृथ्वी पर उतर आयी थी । वेग को संयत करने के लिए गंगा ने हिमवाह का रूप धारण कर लिया और क्रमश: वे तीन धाराओं में प्रवाहित हुईं । गंगा की एक धारा का नाम भागीरथी तथा अन्य दो धाराओं के नाम मन्दाकिनी और अलकानन्दा हुआ । शतपन्थ हिमवाह से ही ये तीन नदियाँ तीन ओर से निकली हुई हैं । एक ही गंगा तीन धाराओं में प्रवाहित हुई हैं ।

बहते जा रहे हैं। शीतऋतु के छः मास तक गंगा का स्रोत क्षीण हो जाता है। गौमुखी में गंगा का विस्तार केवल ४०-५० गज चौड़ा है।

घोर हिमपात के कारण आचार्य वहाँ अधिक समय न ठहरकर गंगोत्री की ओर लौट चले। रास्ते में अनेक बार तुषारपात के कारण सभी के प्राण संकट में पड़ गये थे। केन्नरुण संन्यासी असीम धैर्य और तितिक्षा के साथ गौमुखी की तीर्थयात्रा समाप्त करके गंगोत्री लौट आये।

जिस मार्ग से हिमालय की दुर्गम तीर्थयात्रा के लिए यात्रीदल जाते हैं उस पथ में तीर्थदेवता ने अनेक दुःख-कष्टों को बिछा रखा है। ऐसे दुर्गम मार्ग में अनेक बाधाविघ्नों के बीच प्राणसंकट की अवस्था में, तीर्थयात्रियों की भक्ति एवं आन्तरिकता की परीक्षा होती है। गंगोत्री से लौट आने पर आचार्य के हृदय में एक दिव्य भाव का उदय हुआ। करुणा से वे एकदम विगलित हो गये। इस दुर्गम पथ में सब लोग जा नहीं सकेंगे। इस कारण दुर्बल और असमर्थ यात्रियों के लिए उनका चित्त विकल हो उठा। उन्होंने गंगोत्री में एक मन्दिर का निर्माण कर उसमें शिवलिंग और गंगादेवी की मूर्ति प्रतिष्ठित करने का संकल्प किया। यह भी उन्होंने कह दिया कि, यात्रीगण यहाँ तक आकर देवदर्शन करने से ही गौमुखी-दर्शन का फल पा जायेंगे।

आचार्य की इच्छा जानकर ज्योतिर्धाम के राजा ने तुरन्त ही मन्दिरनिर्माण का प्रबन्ध कर दिया। ऐसा कहा जाता है कि मन्दिर बन जाने पर आचार्य ने अपने हाथ से शिवलिंग और गंगादेवी की मूर्ति-प्रतिष्ठा की।

पाँच

गंगोत्री में कुछ दिनों तक निवास करने के अनन्तर आचार्य अपने शिष्यों के साथ उत्तरकाशी के लिए रवाना हो गये। उस प्राचीन तीर्थ में न जाने कितने योगी, ऋषि-मुनि, साधु-संन्यासी मुक्ति की कामना से तपस्या करते आये हैं। उस तपोभूमि में काशी के सभी देवी-देवताओं का समावेश है। उत्तरवाहिनी गंगा उस पवित्र तीर्थ को अर्धचन्द्राकार में वेष्टन करते हुए उस स्थान के माहात्म्य की घोषणा कर रही है। गगनस्पर्शी पर्वतमालाओं से आवेष्टित उत्तरकाशी सांसारिक कोलाहल से सुरक्षित रहकर इस तपःक्षेत्र का गाम्भीर्य बढ़ा रही है।

उत्तरकाशी में आकर आचार्य अत्यन्त आनन्दित हुए। इस स्थान में पैर रखते ही उनके मन में एक विशेष भावान्तर उपस्थित हुआ। शंकर ने उस समय सोलहवें वर्ष में पदार्पण किया था। जन्मकुण्डली के अनुसार उनकी आयु समाप्त हो गयी थी। जिन महान् कार्यों के सम्पादन के लिए उन्होंने देह धारण की थी वे सभी सम्पन्न हो चुके। अब वे मानो अपनी देहातीत सत्ता में लौट जाने के लिए तैयार होने लगे। अधिक समय तक वे समाधिमग्न रहते थे। भूख-प्यास की अनुभूति भी विलुप्त हो गयी थी।

पद्मपाद आदि शिष्य उनका यह भावान्तर देखकर अत्यन्त विषण्ण हो उठे। मानो आचार्यदेव भूमा की पुकार सुनकर परि-निर्वाण के लिए प्रस्तुत हो गये हैं। उनके द्वारा रचित "विज्ञान-नौका" नामक निबन्ध से आचार्य की तत्कालीन मानसिक अवस्था का आंशिक चित्र मिलता है। उन्होंने लिखा है—तपस्या, यज्ञ, दान आदि द्वारा बुद्धि शुद्ध होने पर, राजपद आदि पर तुच्छबुद्धि

तथा आसक्तिहीन होने से जो आत्मलाभ होता है, मैं वही नित्य परब्रह्म हूँ ।। १ ।। ब्रह्मनिष्ठ, प्रशान्त, दयालु, गुरु की आराधना करके विवेकबुद्धि द्वारा स्वरूपविचारपूर्वक विद्वान् व्यक्ति निदिध्यासन और ध्यानयोग से जिस तत्त्व को प्राप्त करते हैं, मैं वहीं नित्य परब्रह्म हूँ ।।२।। जो आनन्दस्वरूप, प्रकाशस्वरूप परमात्मा इस विश्वप्रपंच को अपनी महिमा के द्वारा निरस्त कर रहे हैं, जो परिच्छेद-शून्य 'अहं ब्रह्म' इस वृत्ति के द्वारा लक्ष्य होते हैं, वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन अवस्थात्रय से अतीत चतुर्थ पद तुरीय नित्य परब्रह्म मैं ही हूँ ।। ३ ।। जिस आत्मज्ञान के अभाव से सारे ब्रह्माण्ड का अस्तित्व-बोध होता है और जिस आत्मज्ञान के उदय से उसका अस्तित्व क्षण भर में विलुप्त हो जाता है, जो मन-वाणी से अतीत है, मैं ही वह विशुद्ध, विमुक्त, नित्य परब्रह्म-स्वरूप हूँ ।।४।। 'तन्न तन्न' अर्थात् यह ब्रह्म नहीं है वह ब्रह्म नहीं है—इस वेदान्तवाक्य के द्वारा समस्त प्रपंच विलुप्त होने पर समाधिस्थ योगियों के अन्तःकरण में जो अद्वितीय तुरीय ब्रह्म पूर्ण रूप से प्रकाशमान होते हैं मैं ही वह नित्य परब्रह्म-स्वरूप हूँ ।। ५ ।। जिसके आनन्दकण से ब्रह्माण्ड के सारे प्राणी आनन्दमय हो रहे हैं, जिसके प्रकाश से समस्त वस्तुओं का प्रकाश है, जिसके सौन्दर्य से सारा ब्रह्माण्ड सुन्दर रूप से प्रतीयमान हो रहा है, मैं ही वह परब्रह्म-स्वरूप हूँ ।। ६ ।। जो अनन्त, सर्वकारण, विभु, निश्चेष्ट, निःसंग, मंगलमय, प्रणवगम्य, मृत्युहीन, निराकार, ज्योतिर्मय हैं, मैं ही वह नित्य परब्रह्म-स्वरूप हूँ ।। ७ ।। जो ज्ञानामृतपान से तृष्णा दूर करते हैं और इस विज्ञाननौका पर आरोहणपूर्वक अज्ञानमय भवसागर से उत्तीर्ण होते हैं वे पुरुष विष्णु के परम-पद को प्राप्त करते हैं ।। ८ ।।

आचार्य के निर्लिप्त, निष्क्रिय और ब्रह्मस्थ भाव को देखकर सभी लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। ज्योतिर्धाम के राजा उत्तरकाशी तक आचार्य के साथ साथ आये। शंकर ने राजा को अनेकानेक आशीर्वाद देकर समग्र उत्तराखण्ड में वैदिक धर्म के पुन:संस्थापनकार्य में आत्मनियोग करने का उपदेश देकर बिदा किया।

श्रीगुरु के चित्त को किसी प्रकार जीवभूमि में खींच रखने के उपाय के परिचिन्तनार्थ शिष्य लोग सन्नद्ध हुए। सोच-विचारकर उन्होंने आचार्य के श्रीचरणों में भाष्यादि के अध्यापन की प्रार्थना की। शिष्यों के विशेष आग्रह से वे अध्यापन में तत्पर हुए। शिष्यगण अत्यन्त उत्साहपूर्वक भाष्यादि का अध्ययन करने लगे।

उस समय एक अचिन्तनीय घटना का अवलम्बन कर भगवद्-इच्छा से आचार्य के निर्विषय मन में जीवकल्याण की कामना का उदय हुआ और उस कार्य के सम्पादन के लिए उनकी आयु और भी सोलह वर्ष बढ़ गयी। श्रीभगवान् ने संसार के अशेष कल्याण के लिए महर्षि वेदव्यास को निमित्त बनाकर किस ढंग से वह महान् कार्य सम्पन्न किया वही अब दिखायी पड़ेगा।

एक दिन प्रात:काल शंकर शिष्यों को 'शारीरकसूत्र-भाष्य' पढ़ा रहे थे। इतने में एक वृद्ध ब्राह्मण वहाँ आ उपस्थित हुए। ब्राह्मण के आगमन से अध्ययन बन्द करके सभी ने उन्हें आदर के साथ आसन ग्रहण करने के लिए अनुरोध किया। परन्तु उन्होंने बिना आसन ग्रहण किये ही पूछा—"यहाँ एक संन्यासी, सुना है, ब्रह्मसूत्र-भाष्य पढ़ाते हैं। वे कहाँ हैं बता सकते हो?"

शिष्यों ने उत्तर में कहा—"समस्त शास्त्र जिन्हें कण्ठस्थ हैं

वही हमारे गुरु ये शंकराचार्य हैं। इन्होंने समस्त भेदाभेदों का खण्डन कर शारीरक-सूत्र का जो भाष्य लिखा है वही हमें पढ़ा रहे हैं।"

तब ब्राह्मण ने उपविष्ट होकर आचार्य से पूछा—"ये लोग तुम्हें तो वेदव्यासरचित ब्रह्मसूत्र का भाष्यकार बताते हैं। अच्छा बताओ तो, तृतीय अध्याय के प्रथम पाद के प्रथम सूत्र का तात्पर्य क्या है।"

शंकर ने अत्यन्त विनीत भाव से कहा—"जिन आचार्यों को सूत्र की व्याख्या ज्ञात है, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ। सूत्रवित् होने का गर्व मुझे नहीं है तथापि आपने जो प्रश्न उठाया है उसका मैं ठीक ठीक उत्तर देता हूँ।"

इतना कहकर उन्होंने ब्राह्मण के प्रश्न के अनुसार उस सूत्र की ठीक ठीक व्याख्या कर सुनायी।‡ ब्राह्मण ने साथ ही साथ आचार्य की व्याख्या खण्डन कर फिर से पूछा, आचार्य ने भी धीरता के साथ तत्काल यथायोग्य उत्तर दिया। ब्राह्मण ने पुनः उसका खण्डन कर अन्य प्रश्न उठाया। आचार्य ने उसका भी जवाब दिया। ब्राह्मण एक के अनन्तर दूसरा प्रश्न करते जा रहे थे और शंकर भी अनायास ही उसका उत्तर देते जाते। इसी प्रकार आलोचना-प्रसंग में समस्त ब्रह्मसूत्र, चार वेद, कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, विविध शास्त्र तथा मतमतान्तरों की चर्चा भी चलने लगी। केवल प्रश्न और उसका उत्तर ही होता। प्रश्नों

---

‡ शंकर के किसी किसी जीवनीग्रन्थ में आचार्य और वेदव्यास के सुदीर्घ जटिल शास्त्रार्थ का विवरण प्रश्नोत्तर रूप से मिलता है। वह शास्त्रार्थ किस रूप में रक्षित हुआ था; यह ज्ञात नहीं है। स्थानाभाव के कारण वह गहन शास्त्रविचार यहाँ लिपिबद्ध नहीं किया गया।

का अन्त नहीं । और आचार्य भी साथ ही साथ सारे प्रश्नों के सद् उत्तर देने लगे ।

दोनों के असाधारण पाण्डित्य, स्मृतिशक्ति, मेधा, अन्तर्दृष्टि तथा विचारनैपुण्य ने शिष्यों को स्तम्भित कर दिया । उन लोगों ने ऐसा विचार कभी सुना ही नहीं था और आचार्य की ऐसी प्रतिभा तथा विद्वत्ता भी कभी नहीं देखी थी । विचार और मीमांसा में मध्याह्न व्यतीत हो गया । ब्राह्मण ने कहा—"अच्छा, आज शास्त्रार्थ यहीं स्थगित रहे, कल फिर होगा ।"

ब्राह्मण उठकर जिधर से आये थे उधर ही चले गये । दूसरे दिन प्रातःकाल जब आचार्य पढ़ा रहे थे, उस समय वही ब्राह्मण पुनः उपस्थित होकर शास्त्रविचार में प्रवृत्त हुए । गम्भीर विचार चलने लगा । ब्राह्मण ने अनेक जटिल प्रश्नों की अवतारणा की । आचार्य ने भी शान्त भाव से सब का यथार्थ उत्तर दिया । ब्राह्मण के प्रश्नों का अन्त नहीं होता और शंकर के ज्ञानभण्डार में भी न्यूनत्व कहाँ ! इस प्रकार सात दिन (किसी किसी जीवनचरित-लेखक के मत से सत्रह दिन) तक शास्त्रार्थ चला । सातवें दिन ब्राह्मण इसी शास्त्रार्थ की समाप्ति की घोषणा करके चले जाने के उपरान्त पद्मपाद ने आचार्य से एकान्त में पूछा—"प्रभु, वेदान्त के निगूढ़ तत्त्वों के ज्ञाता ये ब्राह्मणदेवता कौन थे ? ऐसी गम्भीर विद्वत्ता, तीक्ष्ण बुद्धि, विचारशक्ति और मेधा एक वेदव्यास के अतिरिक्त और किसी में तो होना सम्भव नहीं है । वेदव्यास स्वयं छद्मवेष में छलने आये थे, क्या यह सम्भव हो सकता है ?"

पद्मपाद की बात सुनकर आचार्य ने हँसते हुए कहा—"तुम्हारा यह अनुमान सत्य ही तो प्रतीत होता है । मुझे भी लगता है कि

वेदव्यास ही आये थे। अच्छा, कल यदि फिर आयें तो उनका परिचय पूछ लिया जायगा।"

शास्त्रार्थविचार के आठवें दिन प्रातःकाल ब्राह्मण ने आकर शंकर से एक बहुत ही जटिल प्रश्न पूछा। आचार्य ने ब्राह्मण-देवता की चरणवन्दना की और श्रद्धापूर्वक विनीत भाव से पूछा—"महात्मन्, प्रश्न का उत्तर देने के पहले आपके श्रीचरणों में मेरा एक निवेदन है। अपना परिचय प्रदान कर हमारे कौतूहल की निवृत्ति कीजिये। हम सब की ऐसी धारणा है कि आप स्वयं वेदव्यास कृष्णद्वैपायन हैं। किसी देवकार्य के साधन के लिए दूसरी मूर्ति में हमें छलने आये हैं। यदि आप स्वयं महामुनि कृष्णद्वैपायन ही हैं तो कृपा करके अपना स्वरूप हमें दिखाइये। मैं उन आदिगुरु की वन्दना करके कृतार्थ हो जाऊँ।"

शंकर के कथन को सुनकर ब्राह्मणदेवता प्रसन्न होकर बोले—"तुम्हारा अनुमान सत्य है।" इतना कहकर उन्होंने तुरन्त विद्युत्कान्ति जटाकिरीट-शोभित यज्ञोपवीतधारी कृष्णसार-मृग-चर्मपरिहित वर्षणशील-मेघतुल्य कृष्णकाय विशालवपु का रूप धारण कर प्रसन्न वदन से शंकर के मस्तक पर हाथ रखकर उन्हें आशीर्वाद दिया।

शंकर महर्षि के चरणों में प्रणत होकर युक्त कर से स्तुति करने लगे—"हे ऋषिवर द्वैपायन, आपके श्रीचरणों के दर्शन से मेरा जीवन धन्य हुआ। आपने चिरकालिक परोपकार के लिए आत्मोत्सर्ग किया है। हे मुनिवर, आपने जीवकल्याण के लिए जिन लोकहितकर कार्यों का साधन किया है, वे संसार में चिरकाल तक अमर रहेंगे। आपने अष्टादश पुराण, महापुराण तथा उप-

पुराणों का संकलन किया है। * आपने वेद को चार भागों में विभक्त किया है। आप त्रिकालज्ञ हैं। आपके लिए संसार में अज्ञात कुछ भी नहीं है। आपने अपने क्षीरसमुद्र-सदृश शरीर से महाभारतरूप चन्द्रमा को प्रकाशित कर संसार का अशेष कल्याण साधन किया है। आपकी महिमा अपरम्पार है। आपके क्रिया-कलाप अद्भुत हैं। आप हमारे आदिगुरु हैं।"

आचार्य द्वारा इस प्रकार स्तवन किये जाने पर महर्षि बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने शंकरप्रदत्त आसन पर बैठकर कहा---"हे विद्वन्, मैं तुम्हारे पाण्डित्य का परिचय पाकर परम प्रसन्न हुआ हूँ। इस संसार में तुम्हारे अतिरिक्त और कोई मेरे एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता था। तुम मेरे पुत्र शुकदेव के ही समान स्नेहपात्र हो। मेरे सूत्रों का भाष्य लिखा है सुनकर मैं तुम्हें देखने आया हूँ। मुझे मालूम था कि स्वयं भगवान् शंकर ही शंकर के रूप में मेरे सूत्रों के भाष्य की रचना करेंगे।"

---

* वेदव्यास-रचित अष्टादश पुराण हैं---ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णु-पुराण, श्रीमद्भागवत, मार्कण्डेय पुराण, वराह, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, स्कन्द, लिंग, वामन, शिव तथा नारदीय पुराण, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड-पुराण।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में सूतजी ने पुराणादि के लक्षण बताये हैं---सृष्टि, प्रलय, चन्द्र और सूर्य आदि के वंशक्रम, चतुर्दश मन का अधिकार-कीर्तन और चन्द्र-सूर्यवंशीय राजाओं के वंश-वर्णन---ये पाँच लक्षण पुराणों में अवश्य ही रहेंगे। उपपुराणों में भी उक्त पाँचों लक्षण होंगे। महापुराण में सृष्टि, स्थिति, प्रलय, पालन-कर्म; वासना-वर्णन, चतुर्दश मनुओं के प्रत्येक के नामादि का कीर्तन, प्रलय-वर्णन, मोक्ष-निरूपण, श्रीहरि का गुण-कीर्तन और पृथक् पृथक् रूप से देवताओं के गुण-कीर्तन---ऐसे दस प्रकार के लक्षण अवश्य वर्तमान रहेंगे।

यह सुनकर आचार्य ने वेदव्यास के चरणस्पर्श कर प्रसन्न चित्त से अपना स्वरचित भाष्यग्रन्थ वेदव्यास के करकमलों में समर्पित कर दिया। वेदव्यास विशेष आदर के साथ उस भाष्यग्रन्थ को हाथ में लेकर एकाग्र चित्त से देखने लगे। बहुत समय बीत जाने के अनन्तर अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने कहा—"बेटा, यह भाष्यग्रन्थ तुम्हारे ही उपयुक्त हुआ है। स्थान स्थान पर किसी किसी सूत्र के प्रति कटाक्ष भी किया गया है। इससे मैं विशेष रूप से प्रसन्न हूँ। हे धीमन्, तुम सर्वार्थदर्शी महानुभव पुरुष हो इसमें कोई सन्देह नहीं। सूर्यदेव जिस प्रकार आकाश में प्रतिभात होकर अन्धकार का नाश करते हैं, तुम भी उसी तरह अद्वैत-ब्रह्मात्म-ज्ञान-महिमा का प्रचार करके मनुष्य का अज्ञानान्धकार दूर कर अपूर्व प्रतिभा का परिचय दोगे। सूत्रों में मेरे अस्फुट मनोभाव को भाष्य में तुमने जिस प्रकार परिस्फुटित किया है, वह केवल तुम्हारे द्वारा ही सम्भव है। मुझे ज्ञात है कि परमपुरुष महादेव से ही तुम्हारा शरीर और शक्ति उद्भूत है। गोविन्दपाद और उनके गुरु गौड़पाद आदि मेरे ही शिष्य-सम्प्रदाय के हैं। गौड़पाद ने मेरे पुत्र शुक से शास्त्रादि की शिक्षा प्राप्त की थी, श्रुति और स्मृति प्रस्थानद्वय की भाष्यरचना का भार भी तुम्हारे ही ऊपर अर्पित है।"

वेदव्यासजी के वचन सुनकर शंकर ने विशेष आनन्द प्रकट कर कहा—"देव, आपकी इच्छा को भी मैंने पूर्ण किया है। आप कृपा करके एक बार अवलोकन कीजिये।" इतना कहकर शंकर ने समस्त भाष्यग्रन्थों को वेदव्यासजी के हाथ में दे दिया। बहुत देर तक एकाग्रता के साथ श्रुति और स्मृति के भाष्यों को पढ़कर अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने कहा—"बहुत ही उत्तम हुआ

है। यह कार्य तुम्हारे ही योग्य है।"

यतिवर शंकर ने नतजानु होकर प्रार्थना की—"भगवन्, आपके अभिलषित सभी कार्य तो समाप्त हो चुके हैं। अब आज्ञा दीजिये। आपके सामने ही समाधियोग से यह शरीर छोड़ दूं।"

आचार्य की ऐसी बात सुनकर शिष्यगण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। वेदव्यासजी भी स्तम्भित हो पड़े। कुछ देर तक सोचकर उन्होंने कहा—"नहीं शंकर, तुम्हारा कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ है। भारत के प्रख्यात दिग्विजयी पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित करके अपने मत में लाने का कार्य अभी असमाप्त है, वह काम तुम्हें ही करना होगा। मैं तुम्हारे कार्य से सन्तुष्ट होकर, तुम्हारी आयुवृद्धि का वर देने के लिए ही आज यहाँ आया हूँ। बेटा, तुम्हारी आयु केवल आठ वर्ष तक थी। महादेवजी की प्रसन्नता से तुमने पहले ही आठ वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है। परन्तु जिस विशेष दैवकार्य के साधन के लिए तुम्हारा शरीर-धारण हुआ है उसे समाप्त करने के लिए देवदेव की अनुज्ञा से तुम्हारी आयु और भी सोलह वर्ष बढ़ गयी है। तुम बत्तीस वर्ष तक इस शरीर में निवास करोगे। महान् कर्मकाण्डी कुमारिल भट्ट को पराजित करना तुम्हारा पहला काम है। उसके अनन्तर भारत के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक परिभ्रमण करके विविध वादियों को परास्त करो। विभिन्न प्रकार के मतवादों को पूर्णता प्रदान करना भी तुम्हारा अन्यतम कार्य है। वेदान्त की महिमा की घोषणा करके अद्वैत-ब्रह्मात्मविज्ञान की प्रतिष्ठा तुम्हें ही करनी होगी। इस प्रकार के समस्त कार्य समाप्त होने पर तुम स्वस्वरूप में लीन हो जाओगे।"

आचार्य ने आदिगुरु की आज्ञा मानकर उनके चरणों की वन्दना

की। इतने में ही वेदव्यासजी अदृश्य हो गये। शंकर ऋषिवर के अदर्शन से बहुत व्यथित हुए। परन्तु आचार्य की आयुवृद्धि से उनके शिष्यों को परमानन्द प्राप्त हुआ। उनके चित्त से एक महान् दुश्चिन्ता के मेघ छँट गये।

* * *

व्यासदेवजी के चले जाने के अनन्तर उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए शंकर का चित्त बहुत ही व्यग्र हुआ। उनके हृदय में अपने प्रथम कार्य---कुमारिल-विजय---की बात बार बार उठने लगी। कुमारिल भट्ट कौन हैं? कहाँ और कैसे मिलेंगे? इसके लिए आचार्य के मन में चिन्ता उत्पन्न हुई। गुरुदेव का मनोभाव जानकर शिष्य लोग चारों ओर कुमारिल की खोज में निकल पड़े। एक ब्राह्मण आचार्य से शास्त्रव्याख्या सुनने आया करते थे। कुमारिल भट्ट का पता पाने की शिष्यों की इच्छा जानकर उन्होंने कहा---"वे तो प्रातःस्मरणीय व्यक्ति हैं। वेदविरोधी विभिन्न धर्म एवं मतावलम्बियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड की पुनः प्रतिष्ठा की है। वे दिग्विजयी पण्डित हैं। आजकल वे बहुत वृद्ध होने के कारण प्रयागधाम में निवास कर रहे हैं।"

शिष्यों का आग्रह देखकर वे कुमारिल भट्ट की जीवनी के सम्बन्ध में कहने लगे---"भट्टपाद के अलौकिक जीवन तथा कार्य से ऐसा लगता है कि आर्यभूमि में वैदिक धर्म की पुनःस्थापना के लिए ही उनका शरीर-धारण हुआ है। दक्षिण भारत के चोल-प्रदेश में एकनिष्ठ धर्मपरायण ब्राह्मणकुल में उनका जन्म हुआ। बचपन से ही वे वेदानुरागी हैं। अल्प अवस्था में ही उन्होंने एक प्रख्यात वेदज्ञ विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।"

प्रख्यात बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति उनके भ्रातुष्पुत्र हैं। धर्मकीर्ति बौद्ध धर्म ग्रहण कर बौद्धाचार्य धर्मपाल के निकट बौद्ध दर्शन में विशेष योग्यता प्राप्त कर स्वदेश लौट आये। उन्होंने घर आकर कुमारिल भट्ट को शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया। विचार में पराजित होकर प्रण के अनुसार कुमारिल भट्ट को बौद्ध धर्म ग्रहण करना पड़ा* और वे नालन्दा के बौद्ध विहार में आकर धर्मपाल के शिष्य हुए तथा उनसे बौद्ध न्यायशास्त्र का अध्ययन करने लगे। यद्यपि बाध्य होकर वे बौद्ध हुए थे, तथापि वैदिक धर्म में उनकी श्रद्धा अटूट रही।

कहते हैं, एक दिन बौद्ध आचार्य धर्मपाल ने कुमारिल आदि शिष्यों के सामने वेद की निन्दा की। सुनकर कुमारिल के अन्तर में बहुत कष्ट हुआ। वे सिर झुकाये चुपचाप आँसू बहाने लगे। पास के बौद्ध भिक्षुओं ने कुमारिल को रोते देखकर कारण पूछा। कुमारिल ने रोते हुए कहा—"आचार्य वृथा ही वेद की निन्दा कर रहे हैं। उससे मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है।"

बौद्ध श्रमणों के द्वारा आचार्य को ज्ञात कराते ही उन्होंने कुमारिल से पूछा—"तुम रोते क्यों हो? क्या तुम अभी भी वेदविश्वासी प्रच्छन्न हिन्दू हो? बौद्ध श्रमण बनकर क्या तुम हमें प्रताड़ित करने आये हो?"

---

*आनन्दगिरि-रचित शंकरविजय ग्रन्थ में लिखा है कि कुमारिल बौद्ध दर्शन पढ़ने के लिए नालन्दा आये थे। उन्होंने आचार्य शंकर से कहा था—"निषेध्यबोधाद्धि निषेध्यबाधः—किसी मत का खण्डन करना हो तो सब से पहले उस मत के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। बौद्ध सिद्धान्त के सम्बन्ध में मुझे विशेष ज्ञान नहीं था।.. इस कारण मैं बाध्य होकर बौद्धों का शिष्य हो गया और विनीत भाव से उनके सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया था।"

कुमारिल ने विनीत भाव से कहा—"आप बिना कारण वेद की तीव्र निन्दा कर रहे हैं।" बौद्ध आचार्य ने उत्तेजित कण्ठ से कहा—"तो तुम मेरे कथन की असत्यता प्रमाणित करो।" तब आचार्य और कुमारिल भट्ट में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। कुमारिल ने वेद के प्राधान्य के प्रतिपादन में कटिबद्ध होकर जटिल तर्कजाल से आचार्य को जर्जरित करते हुए कहा—"सर्वज्ञ की कृपा के बिना जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता। बुद्ध ने वैदिक धर्ममार्ग का अनुसरण कर वेदज्ञान से ज्ञानी होकर वेद को अस्वीकार कर दिया था। यह उनके लिए चोरी के सिवाय और कहा ही क्या जा सकता है?"

कुमारिल के कठोर मन्तव्य से क्रुद्ध होकर बौद्ध आचार्य ने कहा—"तुम भगवान् तथागत की निन्दा करते हो। इस ऊँचे महल से गिराकर तुम्हारा प्राणसंहार करना ही इस पाप का एकमात्र प्रायश्चित्त है।" आचार्य का इशारा पाकर उत्तेजित भिक्षुओं ने कुमारिल को पकड़कर छत पर से नीचे फेंक दिया। कुमारिल ने श्रीभगवान् का स्मरण कर योगस्थ होकर कहा—"यदि वेद सत्य हैं, तो मेरे जीवन की रक्षा भी हो जायगी।"

ऊँची छत से फेंके जाने पर कुमारिल की मृत्यु न होते देखकर भिक्षुओं को बहुत ही आश्चर्य हुआ। उधर ब्राह्मण लोग इस समाचार को सुनकर कुमारिल को आदरपूर्वक कोलाहल करते हुए नालन्दा विहार से बाहर ले आये। उस घटना से उस समय के बौद्धों और हिन्दुओं में एक महान् विरोध का सूत्रपात हुआ। कुमारिल के जयलाभ को हिन्दुओं ने हिन्दू धर्म की विजय मान ली। *

---

* उन दिनों हरएक धर्मावलम्बी के मन में यह बद्धमूल विश्वास था कि

हिन्दुओं ने कुमारिल भट्ट को सामने रखकर एक विशाल विचारसभा में शास्त्रार्थ करने के लिए धर्मपाल को बुलाया। प्रण यह रहा कि विजेता का धर्ममत-ग्रहण अथवा तुषानल में प्रवेश-पूर्वक प्राणत्याग।

भारत के सभी प्रान्तों से बौद्ध भिक्षु उस विचारसभा के लिए प्रस्तुत हो मगध में समवेत होने लगे। कुमारिल भट्ट की प्रतिभा के सामने बौद्ध विद्वान् हीनप्रभ हो गये। विशेष चेष्टा करने पर भी धर्मपाल पराजित हुए। परन्तु उन्होंने धर्मान्तर ग्रहण नहीं किया। कहा—"मेरी पराजय का कारण कुमारिल की प्रतिभा है। किन्तु बौद्ध धर्म में मेरी श्रद्धा नष्ट नहीं हुई है। मैं बुद्ध, धर्म और संघ की शरणागति से विचलित नहीं हुआ हूँ। प्राण-त्याग करना ही मैंने वरण कर लिया।" धर्मपाल सत्यपालन के

उसी का धर्म सत्य और सर्वश्रेष्ठ है। धर्म का श्रेष्ठत्व शास्त्रार्थ के द्वारा निर्णीत होता था। पाण्डित्य, प्रतिभा, वाग्वितण्डा की शक्ति या यौगिक शक्ति के बल से तर्कयुद्ध में दूसरे धर्म को पराजित कर सकने से ही वह धर्म श्रेष्ठ प्रमाणित होता था। इस प्रकार उन दिनों हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों में महान् विरोध उत्पन्न हो गया था। हरएक ही युक्ति, तर्क, विचार और पाण्डित्य की सहायता से अपने अपने धर्म को श्रेष्ठ प्रतिपादित करता था। धर्म की साधना तथा अनुभूति में कमी आ गयी थी। दार्शनिक तर्क और अलौकिक शक्ति कमाने की चेष्टा में ही धर्म की चरितार्थता मानी जाती थी। सभी धर्मों के लिए वह समय बहुत ही दुर्दिन का था। धर्म की वह ग्लानि दूर करने के लिए ही आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ था। उनके जीवन में सर्वप्रथम थी धर्म की साधना एवं सिद्धि। उन्होंने साधन के प्रभाव से ब्रह्मविज्ञान में सुप्रतिष्ठित होकर भ्रान्तजनों को ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति का पथ प्रदर्शित किया था तथा ब्रह्मविद्या प्रदान की थी। सभी तीर्थों के जल से अपने हृदयरूप घट को परिपूर्ण करके उस पवित्र तीर्थवारि के द्वारा उन्होंने सब को अभिषिक्त किया था।

लिए तुषानल में प्रविष्ट हुए।

कुमारिल की इस विजय ने समस्त भारत के लोगों में वैदिक धर्म के नवजागरण की सृष्टि की। उस समय के मगधराज आदित्यसेन ने उस बौद्धविजय को गौरवान्वित करने के लिए विशेष ठाटबाट से कुमारिल भट्ट को प्रधान पुरोहित रखकर एक विराट् अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। गौड़ देश के हिन्दू राजा शशांक नरेन्द्रवर्धन वैदिक धर्म के अनुरागी थे। उन्होंने मौका पाकर हिन्दू धर्म के विजय-अभियान के रूप में बुद्धगया † के जिस बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर तथागत ने सिद्धि प्राप्त की थी उस बोधिद्रुम को कटा डाला और बौद्ध मन्दिर पर अधिकार स्थापित कर बुद्धदेव की मूर्ति को दीवाल उठाकर बन्द कर दिया। केवल इतना ही नहीं, उन्होंने तीन बार उस वृक्ष के मूल को खोदकर उसे समूल नष्ट कर किया था।

कुमारिल भट्ट ने उत्तर भारत में सर्वत्र विजयी होकर बौद्ध और जैन धर्मों के प्राधान्य को नष्ट किया। तदनन्तर वे दक्षिण भारत के विजय-अभियान में निकल पड़े। ‡ बौद्धाचार्य धर्मपाल

---

† बोधगया का वर्तमान बोधिद्रुम बहुत दिनों बाद रोपा गया था। धर्माशोक ने अपनी कन्या भिक्षुणी संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए सिंहल भेजा था। साथ-साथ आदि-बोधिद्रुम की कुछ छोटी छोटी डालों को भी कलम बनाकर भेजा था। बोधिद्रुम की उन शाखाओं को सिंहल के अनुराधापुरम् आदि स्थानों में रोपा गया था। बोधिद्रुम की वे शाखाएँ वहाँ के विभिन्न स्थानों में विराट् वृक्ष के रूप में परिणत होकर अभी भी जीवित हैं। बोधगया का वर्तमान बोधिद्रुम सिंहल के उस बोधिवृक्ष की ही एक शाखा है। अभी अभी सारनाथ में भी एक बोधिद्रुम रोपा गया है। वह भी एक सुन्दर वृक्ष के रूप में बढ़ता जा रहा है।

‡ सायण माधवाचार्य के मतानुसार कुमारिल भट्ट स्कन्द या सुब्रह्मण्य

की पराजय के अनन्तर और कोई कुमारिल भट्ट से शास्त्रार्थ करने के लिए सामने नहीं आता था। वे सर्वत्र वेद की सत्यता और अपौरुषेयता का प्रतिपादन कर वैदिक धर्म को सुप्रतिष्ठित करने लगे।

* * *

उत्तरकाशी में ब्राह्मण के मुख से भट्टपाद के अलौकिक जीवन की कथा सुनकर आचार्य शंकर के शिष्यगण अत्यन्त मुग्ध हुए। आचार्य ने भी कुमारिल भट्ट की जीवनकहानी सुनी।...

छः

वेदव्यासजी की आज्ञा के अनुसार आचार्य शंकर दिग्विजय के उद्देश्य से सर्वप्रथम वेदरहस्य के ज्ञाता महापण्डित भट्टपाद को शास्त्रार्थ में पराजित करके उनके द्वारा सूत्रभाष्य की वार्तिक-रचना कराने के लिए प्रयाग की ओर चल पड़े। शंकर के जीवन

के अंशावतार थे तथा मण्डन मिश्र का जन्म ब्रह्मा के अंश से हुआ था। ये सब देवता महादेव के द्वारा आदिष्ट होकर शंकर के वेदप्रतिष्ठा-कार्य में सहायक रूप से मनुष्यदेह में अवतीर्ण हुए थे।

कुमारिल भट्ट की जैनविजय आदि घटनाएँ भी अलौकिक हैं। भट्टपाद थे मीमांसक। उनके उत्साह और आदर्श से सारे भारत में वैदिक कर्मकाण्ड पुनः प्रवर्तित हुआ। वे एक श्रेष्ठ ऋत्विक् भी थे। यज्ञादि का अनुष्ठान करके उसका फल दिखाकर उन्होंने जनता को वैदिक कर्मादि के प्रति श्रद्धावान् किया था। वे मीमांसाशास्त्र के श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक, टुप्टीका, मानवधर्मसूत्र-भाष्य आदि अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना कर अमर हो गये हैं।

का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। आगे से हम शंकर को वैदिक धर्म के एकनिष्ठ सेवक के रूप में पायेंगे। वे भारत के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक—हिमालय से कुमारिका, आसाम से गुर्जर तक सनातन धर्म की ध्वजा फहराते हुए वेदान्त की वाणी लेकर सोलह वर्ष तक परिभ्रमण करते रहे। बारह सौ वर्ष से बौद्धों के प्लावन से हिन्दूधर्म विनष्टप्राय हो गया था। शंकराचार्य ने सनातन धर्म के विभिन्न मतवादों को पुष्ट किया, वेद को स्वतः प्रमाण रूप से सुप्रतिष्ठित किया तथा हिन्दू धर्म का समन्वय, संगठन और सम्प्रसारण किया।

विशेषतया धर्माशोक के समय से बौद्ध धर्म राजशक्ति की पोषकता से सारे भारत में प्रसारित हो गया था। बौद्ध श्रमण लोग जनता से कहते थे—"राजा हमारे हैं, देश हमारा है। हमारे द्वारा प्रचलित धर्मपथ का ग्रहण करो। वेदमार्ग का परित्याग करो। वेद विश्वास के अयोग्य है। क्योंकि वेद का कथन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से प्रमाणित नहीं होता और वेदवाक्य परस्पर-विरोधी हैं।" इस ढंग से श्रमण लोग जनता को राजधर्म ग्रहण करने में बाध्य करते थे। उन दिनों भारत शत-शत छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था तथा वे आपस में युद्धरत थे। सारे भारत को एकता और समता में प्रतिष्ठित कर सके, ऐसा कोई एकछत्र चक्रवर्ती राजा नहीं था। हिन्दू लोग अपने अपने संकीर्ण मतवाद का आश्रय लेकर किसी प्रकार जी रहे थे। सनातन हिन्दू धर्म पहले कभी इस प्रकार विपत्ति में नहीं पड़ा था। हिन्दू धर्म के इतिहास में वह एक गम्भीर अन्धकार का युग था।

आचार्य शंकर धर्मबल से बलवान होकर उज्ज्वल ज्ञानालोक-वर्तिका हाथ में लेकर उस घने अन्धकार को मिटाते हुए चल रहे

थे। राजशक्ति की अपेक्षा न रखते हुए भी आचार्य का यह दिग्विजय-अभियान विशेष महत्त्वपूर्ण था। हिन्दू धर्म वेदमूलक है इस बात को हिन्दू लोग भूल बैठे थे। फलस्वरूप विकृत हिन्दू धर्म में विभिन्न मतमतान्तरों की उत्पत्ति हुई। उस युगसन्धिक्षण में इस युवक संन्यासी को हम अक्लान्त कर्मठ रूप में पाते हैं। उन्होंने पदयात्रा से सारे भारत का परिभ्रमण कर हिन्दू धर्म की विभिन्न शाखाओं को जो वेदरूप विशाल वृक्ष के ही अंश हैं तथा सभी मतवाद को जो इस सनातन महाधर्म से ही उद्भूत हैं, शास्त्रप्रमाण एवं विचार के प्रभाव से सुप्रतिष्ठित किया। आचार्य शंकर के साथ उस समय के हिन्दू धर्म से उद्भूत मुख्यतः ७५ विभिन्न मतवादियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ था। वे सभी मत वेद-मूलक हैं, इसे प्रमाणित करके शंकर ने वैदिक धर्म के विराट् रूप की रचना की थी। उसमें केवल अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैतवादी का ही स्थान है, ऐसा नहीं वरन् संसार के सारे धर्ममतों को भी वेदमाता अपनी गोदी में स्थान दे सकती हैं। शंकर की कर्मशक्ति, गठनमूलक कार्यधारा और दूरदर्शिता हमें विस्मय से अभिभूत कर लेती है।

इस तरुण संन्यासी ने वैदिक धर्म के इतिहास में एक अति-उज्ज्वल अध्याय की रचना की थी। उन्होंने कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों तथा बौद्धों के निरीश्वरवाद का खण्डन करके सनातन वैदिक धर्मावलम्बियों के लिए वेदान्त का राजद्वार उन्मुक्त कर दिया था। इसी कारण वे चिरकाल तक सब के प्रणम्य जगद्-गुरु हैं और रहेंगे।

* * *

आचार्य ने इससे पहले गंगातीर के प्रायः सभी तीर्थों का

दर्शन किया था। पुण्यतोया यमुना तीरस्थित तीर्थस्थान-दर्शन के लिए अब वे यमुना के किनारे किनारे प्रयाग की ओर चलने लगे। इस मार्ग से चलते हुए वे कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों का दर्शन कर क्रमशः भगवान् श्रीकृष्ण के बाल्यलीलास्थल श्रीवृन्दावन-धाम में आये। इस पुण्यक्षेत्र में आचार्य ने परम श्रद्धा के साथ भगवान् के लीलास्थानों तथा प्रसिद्ध मन्दिरों का दर्शन किया। इस स्थान की पवित्र महिमा स्मरण कर श्रीगोविन्दजी के मन्दिर में उनके हृदय में एक विशेष भाव का आविर्भाव हुआ। उन्होंने एक स्तोत्र की रचना कर श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अपनी श्रद्धा निवेदित की।

आचार्यरचित श्रीकृष्णाष्टकम् *

श्रियाश्लिष्टो विष्णुः स्थिरचरवपुर्वेदविषयो
धियां साक्षी शुद्धो हरिरसुरहन्ताब्जनयनः।
गदी शंखी चक्री विमलवनमाली स्थिररुचिः
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥ १ ॥

---

* किसी के मत में आचार्य ने अपनी माता के अन्तिम समय उन्हें इष्टदर्शन कराने के लिए इस स्तोत्र के द्वारा लक्ष्मीपति विष्णु की आराधना की थी।

लक्ष्मी जिनके शरीर का आलिंगन किये हुए है, जो स्थावरजंगम समस्त जगत् के गुरु हैं, जो वेद के प्रतिपाद्य विषय हैं, जो बुद्धिवृत्ति आदि के साक्षी और शुद्धस्वरूप हैं, जो असुरहन्ता कमललोचन हरि हैं, जो अपने चार हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म तथा गले में विमल वनमाला धारण किये हुए हैं, जिनकी रुचि या ज्ञान स्थिर है वे सर्व जगत् के आश्रय और सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर श्रीकृष्ण मेरे नयनगोचर हों ॥ १ ॥

यत: सर्वं जातं वियदनिलमुख्यं जगदिदं
स्थितौ नि:शेषं योऽवति निजसुखांशेन मधुहा ।
लये सर्वं स्वस्मिन् हरति कलया यस्तु स विभु:
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषय: ।।२।।
असूनायम्यादौ यमनियममुख्यै: सुकरणै-
र्निरुध्येदं चित्तं हृदि विलयमानीय सकलम् ।
यमीड्यं पश्यन्ति प्रवरमतयो मायिनमसौ
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषय: ।। ३ ।।
पृथिव्यां तिष्ठन् यो यमयति महीं वेद न धरा
यमित्यादौ वेदो वदति जगतामीशममलम् ।
नियन्तारं ध्येयं मुनिसुरनृणां मोक्षदमसौ
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषय: ।। ४ ।।

जिनसे अन्तरिक्ष, वायु आदि युक्त यह संसार उत्पन्न हुआ है, जो मधुसूदन स्थितिकाल में निज सत्त्वगुण द्वारा अनन्त ब्रह्माण्डों का पालन कर रहे हैं और प्रलयकाल मे अपने अंश में अपने ही भीतर जो समस्त संहार करते हैं, वे सर्व जगत् के आश्रय और सर्व लोकों के ईश्वर श्रीकृष्ण मेरे नयनगोचर हों ।। २ ।।

विशुद्धचित्त मुनिगण पहले यम, नियम आदि साधनपूर्वक प्राणायाम-साधन द्वारा सारी चित्तवृत्तियों का निरोध करके त्रिभुवन-सम्पूज्य माया-शरीरधारी जिस विष्णु का हृदय में दर्शन करते हैं, वे सर्व जगत् का आश्रय और समस्त लोकों के ईश्वर श्रीकृष्ण मुझे दर्शन दें ।। ३ ।।

पृथ्वी पर अवस्थित रहकर समस्त महीमण्डल को जो नियमित कर रहे हैं, किन्तु पृथ्वी जिन्हें नहीं जान सकती, वेद जिन्हें जगत् से अद्वितीय निरंजन ईश्वर कहते हैं, जो संसार के नियामक हैं, देवता, मुनि तथा मनुष्यगण जिनका अपने अपने अन्तर में ध्यान करते हैं, जो सर्व जीवों को मुक्ति देनेवाले हैं, वे समग्र विश्व के आश्रय और सर्व लोकों के ईश्वर श्रीकृष्ण मेरे दर्शन का विषय बनें ।। ४ ।।

महेन्द्रादिर्देवो जयति दितिजान्यस्य बलतो
न कस्य स्वातन्त्र्यं क्वचिदपि कृतौ यत्कृतिमृते ।
कवित्वादेर्गर्वं परिहरति योऽसौ विजयिनः
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ।। ५ ।।
विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां
विना यस्य ज्ञानं जनिमृतिभयं याति जनता ।
विना यस्य स्मृत्या कृमिशतजनिं याति स विभुः
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ।। ६ ।।
नरातंकोत्तंकः शरणशरणो भ्रान्तिहरणो
घनश्यामो रामो व्रजशिशुवयस्योऽर्जुनसखः ।
स्वयम्भूर्भूतानां जनक उचिताचारसुखदः
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ।। ७ ।।

इन्द्र आदि देवगण जिनके बल से बलवान होकर दैत्यों को पराजित करते हैं, जिनकी चेष्टा के बिना किसी को किसी विषय में कर्तृत्व नहीं है, जो दिग्विजयी पण्डितों के कवित्व का गर्व हरण करते हैं, वे सर्व जगत् के आश्रय सब लोकों के ईश्वर श्रीकृष्ण मुझे दर्शन दें ।। ५ ।।

मनुष्य जिनका ध्यान न करने से सूअर आदि के पशुशरीर को प्राप्त होते हैं, जिनके ज्ञान से रहित होकर मनुष्य जन्म-मृत्यु के भय से पीड़ित होता है और जिनका स्मरण न करने से शत कृमिजन्म-लाभ होता है, वे सर्व जगत् के आश्रय सब लोकों के ईश्वर विभु श्रीकृष्ण मुझे दर्शन दें ।। ६ ।।

जो मनुष्यों के भवभयहारी और जगत् की भ्रान्ति के नाशक हैं, जो निराश्रितों के आश्रयस्वरूप हैं, जो नवीनमेघश्याम, रामरूपधारी, व्रजबालकों के सहचर और अर्जुन के मित्र हैं, जो स्वयं सर्व लोकों के जनक और जीवों के शुभ कर्मानुसार सुख देनेवाले हैं, वे सर्व जगत् के आश्रय, सब लोकों के ईश्वर श्रीकृष्ण मुझे दर्शन दें ।। ७ ।।

यदा धर्मग्लानिर्भवति जगतां क्षोभकरणी
तदा लोकस्वामी प्रकटितवपुः सेतुधृगजः।
सतां धाता स्वच्छो निगमगणगीतो व्रजपतिः
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥८॥

श्रीकृष्ण के बाल्यलीलाक्षेत्र श्रीवृन्दावन-धाम के विशेष स्थानों का दर्शन कर आचार्य शिष्यों के साथ मथुरा आये। भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाभूमि के अतिरिक्त यमुनातीरस्थ मथुरानगरी प्रागैतिहासिक युग से ही एक सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान है। पौराणिक युगों की अनेक पुण्यस्मृतियाँ इस स्थान के साथ सम्बद्ध हैं।

ब्रह्मा के पुत्र स्वयंभुव मनु के द्वारा शतरूपा के गर्भ से प्रियव्रत और उत्तानपद का जन्म हुआ था। राजा उत्तानपाद ने अपनी दूसरी पत्नी के कहने से सुनीति के पंचवर्षीय बालक ध्रुव की अवहेलना की। पिता की अवहेलना से दुःखी होकर ध्रुव माता के उपदेश से परम पुरुष की आराधना के लिए राजमहल से निकलकर अनजान रास्ते चल पड़ा। एक दिन जंगल में नारद मुनि के साथ उसकी भेंट हुई। नारद मुनि ने ध्रुव की एकान्त निष्ठा से प्रसन्न होकर उसे मार्ग का पता बताते हुए कहा—"तत् तात! गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि। पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्य नित्यदा हरेः ॥"—श्रीमद्भागवत ४।८।४२।

"हे पुत्र, तुम यमुना-तीर के पवित्र तथा शान्तिप्रद मथुरा में

जिन जिन समय में जगत् में धर्मनाशकारी विपत्ति आती है, उन उन समय में धर्मसेतुस्वरूप जगत्पति जन्मरहित विष्णुमूर्ति धारण कर साधुओं का परित्राण करते हैं। जो सर्वविकारवर्जित हैं और वेद में जिनका चरित्र वर्णित है, वे व्रजपति सर्व जगत् के आश्रय और सब लोकों के ईश्वर श्रीकृष्ण मुझे दर्शन दें ॥८॥

चले जाओ। वैकुण्ठ के समान मथुरा में श्रीहरि नित्य विराजमान हैं, तुम्हारा मंगल अवश्य होगा।"

मथुरा का ऐसा आध्यात्मिक प्रभाव है कि देवर्षि नारद की आज्ञा से बालक ध्रुव मथुरा में आकर थोड़े ही दिनों में तपस्या के द्वारा परमपुरुष का दर्शन प्राप्त करके कृतार्थ हो गया था।

* * *

उस समय मथुरा में बौद्ध और जैन धर्मों का बहुत बोलबाला था। शंकर तो आये थे तीर्थदर्शन के लिए, इस कारण उन्होंने बौद्ध और जैन पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए नहीं बुलाया। वे श्रीकृष्ण के जन्मस्थान आदि का दर्शन कर प्रयाग के लिए चल पड़े।

तीर्थराज प्रयाग में आने पर आचार्य के हृदय में एक दिव्य उल्लास भर गया। उन्होंने कलिन्ददुहिता यमुना के साथ धर्मार्थ-मोक्षदायिनी त्रितापनाशिनी जाह्नवी के मिलनक्षेत्र का दर्शन किया, मानो वह विष्णु और शंकर का मिलन-स्थान हो। श्रीभगवान् के अनन्त लीलामाधुर्य का ध्यान करने से उनका अन्तःकरण पुलकित हो उठा। उस स्थान की दिव्य महिमा स्मरण कर उनका रोम रोम हर्षित हो उठा। यह वही पवित्र तीर्थ है, जहाँ स्नान करके मनुष्य दिव्य शरीर प्राप्त कर अमरलोक में चला जाता है—"सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति"—जहाँ गंगा और यमुना के शुक्ल और कृष्ण प्रवाह मिलते हैं, वहाँ स्नान करने से मानव अवश्य स्वर्ग को प्रस्थान करते हैं।

यतिश्रेष्ठ शंकर ने एक उत्तम स्तोत्र की रचना कर त्रिवेणी की वन्दना करके शिष्यों के साथ वहाँ स्नान तथा तीर्थकृत्य समाप्त किया। उस पवित्र स्थान की आध्यात्मिक भावधारा उनके अन्तर में प्रवाहित होने से वे एक अनिर्वचनीय आनन्द से अभिभूत हो

गये । शंकर शान्त भाव से एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे । इसी समय उन्हें ज्ञात हुआ कि भट्टपाद गुरुवध के प्रायश्चित्त-स्वरूप तुषानल में प्रविष्ट हो रहे हैं ।

आचार्य, कुमारिल भट्ट से शास्त्रार्थ करने के लिए प्रयाग आये थे, परन्तु विधाता का विधान अन्य था । समाचार सुनते ही वे जनता को लक्ष्य कर वहीं चल पड़े । दूर से ही दिखायी पड़ा कि पर्वत के समान तुषों के ढेर पर कुमारिल उपविष्ट हैं और उसमें अग्निसंयोग किया गया है । अनेक ब्राह्मण-पण्डित तथा भट्टपाद के अनेक शिष्य दुःखित होकर वहाँ समवेत थे । एक अव्यक्त वेदना के हाहाकार से उस स्थान का आकाश आच्छन्न हो गया था । आचार्य शंकर भीड़ हटाकर भट्टपाद के सामने आये ।

भट्टपाद ने दूर से ही ज्वलन्त पावक-सदृश यतिवर को सशिष्य आते देखकर नतमस्तक हो प्रणाम किया । शंकर ने भी प्रत्युत्तर में प्रणाम किया । कुमारिल ने अब तक शंकर को नहीं देखा था । इधर उनका नाम और अद्भुत कीर्ति सुनकर वे मुग्ध अवश्य हुए थे । अब महाप्रस्थान के ठीक पहले उस महाभाग यतिवर का दर्शन कर आनन्द से गद्गद होकर कहने लगे—"हे मतिमान्, मैंने जन्मान्तर में अनेक पुण्य का अर्जन किया था, इस कारण अन्तिम समय में आपका दर्शन पाकर कृतार्थ हो गया । संसार के सुख-दुःख काल के अधीन हैं । मैंने कर्ममार्ग का निर्णय किया है, नैयायिकों के सभी युक्ति-तर्कों का खण्डन किया है । सांसारिक सुख-दुःखों का भी अनुभव किया है; परन्तु काल का अतिक्रमण नहीं कर सका । जब बौद्धों के प्रभाव से वेदोक्त धर्माचार लुप्त-प्राय हो गया था, तब हे यतिराज, मैंने उन्हें पराजित कर वेद की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा की । मैंने जीवन में दो महान् अपराध

किये हैं--एक है बौद्ध गुरु को शास्त्रार्थ में पराजित कर उनका जीवननाश और दूसरा है जैमिनि के मीमांसादर्शन में एकनिष्ठ चित्त से 'ईश्वर असिद्ध हैं' ऐसा प्रमाणित करना। दोनों महान् दोषों के प्रायश्चित्त-स्वरूप आज मैं तुषानल में प्रविष्ट हुआ हूँ। अब बताइये, किस अभिप्राय से आपका आगमन हुआ है।"

कुमारिल भट्ट के वाक्य सुनकर आचार्य स्तम्भित रह गये। थोड़ी देर मौन रहकर उन्होंने कहा--"हे पण्डिताग्रगण्य, आज मैं आपके पास वेदव्यासजी द्वारा आदिष्ट होकर आया हूँ। मैंने अद्वैत सिद्धान्त के प्रचारार्थ ब्रह्मसूत्र आदि प्रस्थानत्रय के भाष्य लिखे हैं। आप उस मत को ग्रहण कर मेरे भाष्यों का वार्तिक लिखिये।"

शंकर के अमृतलहरी-तुल्य मधुर वाक्य श्रवण कर कुमारिल भट्ट अभिभूत हो गये। क्षण भर तक चुप रहकर उन्होंने कहा--"हे यतीश्वर, मेरा अन्तिम काल उपस्थित है। अब इस समय शास्त्रार्थ का अवकाश नहीं है। व्यासकृत ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय पर मैंने आठ हजार श्लोक-वार्तिक की रचना की थी। दूसरे अध्यायों के विषय में भी बहुत-कुछ कहने को था, परन्तु अब वह नहीं हो सका। यदि आप पहले आते तो सम्भव था, मैं तुषानल में प्रवेश न करता। आपके भाष्यों की वार्तिक-रचना के सौभाग्य से मैं वंचित रह गया।" कहते कहते आवेग से भट्टपाद का मुखमण्डल उज्ज्वल हो उठा।

तब आचार्य ने गम्भीर स्वर से कहा--"हे ब्राह्मण, मैं जानता हूँ वेदविरोधियों के मतों का निराकरण करने के लिए आप स्वयं कार्तिकेय के अंश से उत्पन्न हुए हैं और शास्त्र की मर्यादा प्रचार के लिए सत्यव्रत का अवलम्बन किया है। कमण्डलु का जल छिड़क-

कर में तुषानल निर्वापित करता हूँ। आप मेरे भाष्यों के वार्तिक की रचना कीजिये।"

ब्राह्मण-गौरव भट्टपाद कहने लगे—"हे आचार्यवर, वेदोक्त जिस विधान-व्रत में मैं व्रती हुआ हूँ, उसका परित्याग करने से सुधी लोग मेरी निन्दा करेंगे। लोकाचारविरुद्ध कर्म मैं कभी न करूँगा। मैं आपका प्रभाव जानता हूँ। इस कारण प्रार्थना है कि मुझसे संकल्प-च्युत होने के लिए आप अनुरोध न करें, तथापि कहता हूँ आप मेरे द्वारा जो कार्य कराना चाहते हैं, उसे मेरे शिष्य मण्डन मिश्र के द्वारा करा सकते हैं। उसकी पराजय मेरी ही पराजय के समान है। मण्डन यद्यपि मेरा शिष्य है, तथापि वह मेरी विशेष श्रद्धा का पात्र है। शास्त्रार्थ में मण्डन मेरी अपेक्षा किसी अंश में कम नहीं है।"

तदनन्तर शंकर के एक प्रश्न विशेष के उत्तर में मण्डन मिश्र का विशेष परिचय देकर भट्टपाद ने कहा—"उस पण्डितश्रेष्ठ मण्डन को शास्त्रार्थ में पराजित करने से ही आपकी समस्त संसार की विजय हो जायगी। उस शास्त्रार्थ में आप मण्डन की पत्नी उभयभारती को मध्यस्थ बनायें। वे दुर्वासा-शापग्रस्ता देवी सरस्वती हैं, ‡ वे सर्वविद्याविशारदा भी हैं। आप और मण्डन

‡ सरस्वती देवी की विद्वत्ता के सम्बन्ध में किसी जीवनीकार ने लिखा है—"उन्होंने सांख्य, पातंजल, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शन-शास्त्र; वेदचतुष्टय; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष-रूप वेदांग तथा समस्त काव्यशास्त्र आदि अनायास क्रम से आयत्त कर लिये थे। उनकी असामान्य प्रतिभा ने पण्डितमण्डली को चमत्कृत कर दिया था।" कलियुग में स्त्री-शूद्र को वेदपठन के अधिकार से वंचित करने पर भी उभय-भारती किस भाव से वेदचतुष्टय में पारंगत हुई थीं, यह बहुत ही आश्चर्य का विषय है।

के शास्त्रार्थ में मध्यस्थ होने के योग्य कोई दूसरा व्यक्ति भारत-वर्ष में नहीं है। मण्डन को पराजित कर स्वमत में आनयन कर सकने से वही आपके भाष्यों के वार्तिक की रचना कर सकेगा।"

एक मर्मान्तक दृश्य था। तब तक तुषानल प्रज्ज्वलित हो उठा था। चारों ओर हाहाकार-ध्वनि उठने लगी। एक महाप्राण महा-पुरुष सनातन वैदिक धर्म के वेदीमूल में आत्मोत्सर्ग कर रहे हैं। आदर्श हिन्दू अपने धर्म की रक्षा के लिए क्या कर सकते हैं, स्थिर चित्त से स्थितप्रज्ञ होकर कितने बड़े त्याग को स्वीकार कर सकते हैं, उसे संसार ने देख लिया। हिन्दू धर्म के इतिहास में यह आदर्श अम्लान ज्योति रूप से अनन्त काल तक उज्ज्वल रहेगा।

भट्टपाद के शरीर में अग्नि का उत्ताप अनुभूत होते ही उन्होंने शंकर से विनयपूर्वक कहा—"हे महात्मन्, मैं अब अन्य चिन्ता न करूँगा। चित्त को परब्रह्म में समाहित करूँगा। आप क्षणभर प्रतीक्षा करके मुझे तारकब्रह्म का नाम सुनाइये। मैं अग्निस्पर्श का अनुभव कर रहा हूँ। आपके सामने ही मैं इस शरीर का त्याग करूँगा।"

कुमारिल भट्ट के इस मर्मस्पर्शी वाक्य को सुनकर शंकर क्षण-भर मौन रहे। उनका मुखमण्डल हृदयावेग से लाल हो उठा। करुणा से उनका हृदय विगलित हो गया। वे अति गम्भीर स्वर से तारकब्रह्मनाम का उच्चारण करने लगे। जनता के हाहाकार

आनन्दगिरि के मत से मण्डन की पत्नी का नाम सरसवाणी था—"मण्डनमिश्रपत्नीं कृत्वा सरसवाणीनाम्नीम्"। उनके मत से वह कुमारिल भट्ट की भगिनी थी। भट्टपाद ने कहा है—"मद्भगिनीभर्ता मण्डनमिश्रः।" मण्डन-पत्नी के और भी अनेक नाम विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं। वे सब नाम अर्थवाद भी हो सकते हैं।

और रुदन-ध्वनि के साथ आचार्य-उच्चारित तारकब्रह्म नाम मिलकर एक करुण स्वर की सृष्टि हुई। अग्नि ने सप्तजिह्वा-विस्तारपूर्वक कुमारिल की देह को ग्रास कर लिया। वेदसूर्य प्रयागतीर्थ में चिरकाल के लिए अस्तंगत हो गया। कुमारिल की जीवात्मा अमरधाम प्रस्थित हो गयी।

सात

सशिष्य आचार्य शंकर भाराक्रान्त प्राण से वह स्थान छोड़कर मण्डन मिश्र से मिलने के लिए चले। उन्होंने जान लिया कि कुमारिल कैसे महाप्राण थे।

अज्ञात पथ था। पथिकों से पथ का पता पूछकर वे माहिष्मती नगरी की ओर चलने लगे। ओंकारनाथ के निकट नर्मदा और माहिष्मती नदियों के संगमस्थल पर मण्डन की निवासभूमि माहिष्मती अवस्थित है। लगभग एक मास चलने के पश्चात् आचार्य माहिष्मती नगरी में आकर मण्डन मिश्र के घर की खोज करने लगे। कुछ परिचारिकाएँ जल लाने के लिए नदी की ओर जा रही थीं। पूछने पर उन्होंने बताया—"महात्मन्, जिस घर में शुक और शुकी आपस में बातचीत करते हुए बोलते हों—वेद स्वतःप्रमाण हैं या परतःप्रमाण, अथवा कर्म ही फलदाता है अथवा ईश्वर, अथवा जगत् नित्य है या अनित्य, आप समझ लीजियेगा वही घर मण्डन मिश्र का है।" उन परिचारिकाओं की बात सुनकर शंकर और उनके शिष्यों को विशेष कौतूहल हुआ। कुछ दूर आगे जाने पर उन्हें मण्डन का घर दिखायी पड़ा; परन्तु द्वार बन्द था।

द्वारपाल ने बताया कि मिश्रजी पितृश्राद्ध कर रहे हैं। कोई भी संन्यासी आज उनसे भेंट नहीं कर सकेंगे।

आचार्य ने उस द्वारपाल के द्वारा तीन बार मण्डन मिश्र से भेंट करने की प्रार्थना की; किन्तु प्रत्येक बार अनुरोध अस्वीकृत हुआ। संन्यासियों के रहने का प्रबन्ध कर देने के लिए मण्डन मिश्र ने द्वारपाल को आदेश दे दिया।

तदनन्तर आचार्य, शिष्यों को प्रतीक्षा करने के लिए कहकर स्वयं योगबल के द्वारा आकाशमार्ग से मण्डन मिश्र के आँगन में अवतीर्ण हुए। मण्डन मिश्र उस समय श्राद्ध में विशेष रूप से निमन्त्रित जैमिनि तथा कृष्णद्वैपायन ‡ इन दोनों ऋषियों की सेवा में नियुक्त थे। आकाशपथ से एक नवीन संन्यासी को उतरते देखकर मण्डन मिश्र बहुत ही विस्मित हुए।

आचार्य ने दोनों ऋषियों को देखकर आनन्द से उनकी चरण-वन्दना की। परन्तु मण्डन ने बहुत क्रुद्ध होकर उत्तेजित स्वर में शंकर से पूछा—"कुतो मुण्डी?"—हे मुण्डी, कहाँ से? श्राद्धवासर में क्यों प्रविष्ट हुए?

शंकर ने हँसी के साथ दूसरे ढंग से उत्तर दिया—"गलदेश से" —अर्थात् गलदेश से मुण्डित हूँ।

मण्डन ने और भी क्रुद्ध होकर प्रश्न किया—"पन्थास्ते पृच्छ्यते मया"—मैं आपके पथ के विषय में पूछ रहा हूँ।

शंकर ने फिर दूसरे ढंग से उत्तर दिया—"क्यों? क्या पथ ने आपसे कुछ पूछा है?"

‡ मण्डन मिश्र मन्त्रसिद्ध थे। वेदमन्त्रबल से सूक्ष्म देहधारियों को आवाहन कर ला सकते थे। वे और भी अनेक अलौकिक शक्तियों के अधिकारी थे।

मण्डन ने और भी उत्तेजित होकर कहा--"आपका सिर और मुण्ड।"

शंकर ने परिहास करते हुए कहा--"वैसा ही है।"

मण्डन क्रोध से उबल पड़े--"किमु सुरा पीता?"--क्या आप सुरापायी हैं?

शंकर ने हँसते हुए उत्तर दिया--"सुरा किमु पीता?"--क्या सुरा पीली है? ‡

मण्डन अब क्रोध से आगबबूला हो गये। वे शिष्टता की सीमा लाँघकर आचार्य से जिस ढंग से प्रश्नों पर प्रश्न करते जा रहे थे, उससे मण्डन मिश्र को अहंकारी, कलहप्रिय और अपरिमार्जित-रुचि के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। आचार्य ने उनकी हर बात को उपहास में उड़ाकर अति धीर और शान्त भाव से उत्तर दिया था। आगत दोनों मुनि मण्डन के व्यवहार से क्षुब्ध हुए। व्यासदेव ने कहा--"मण्डन, ये यति हैं, अतः विष्णुस्वरूप हैं। इसके अतिरिक्त ये अतिथि भी हैं, इनका यथोचित सत्कार करना ही चाहिए।"

मण्डन बहुत ही लज्जित हुए। उन्होंने शंकर से क्षमा माँगकर पाद्य-अर्घ्य द्वारा उनकी पूजा की। तदनन्तर आदर से उनके निकट भिक्षाग्रहण की प्रार्थना की।

आचार्य ने कहा--"हे ब्राह्मण, मैं अन्नप्रार्थी होकर नहीं आया हूँ। मैं आया हूँ शास्त्रार्थ करने के उद्देश्य से। शास्त्रार्थ में जो पराजित होगा, उसे दूसरे का शिष्यत्व स्वीकार करना होगा।

---

‡ शंकर और मण्डन के तर्क-वितर्क का विस्तृत विवरण अनेक जीवनी-ग्रन्थों में है। उसे देखने से मण्डन मिश्र का औद्धत्य और उनमें शिष्टता का अभाव अन्तर को व्यथित कर देता है।

सुधीवर, मुझे वही भिक्षा दीजिये । प्रयाग में मैं भट्टपाद के निकट विचारप्रार्थी होकर गया था, परन्तु उन्होंने गुरुवध तथा ईश्वर के नास्तित्वप्रचार-रूप पाप के प्रायश्चित्त के लिए तुषानल में प्रविष्ट होकर महाप्रस्थान किया है । उन्होंने आपकी प्रतिभा की अनन्त प्रशंसा करके मुझे आपके पास भेजा है । उन्होंने और भी कहा था कि विचार में आपके पराजित होने से उनकी भी पराजय मानी जायगी । आपको विचार में पराजित कर आपके द्वारा में स्वलिखित प्रस्थानत्रय के भाष्यों के वार्तिक की रचना कराना चाहता हूँ जिससे अद्वैत-ब्रह्मात्मविज्ञान अमर हो सके । इसी कारण आपके पास मेरा आगमन हुआ है ।"

गुरु के देहत्याग का समाचार सुनकर मण्डन मिश्र बहुत ही व्यथित हुए । उन्होंने थोड़ी देर स्तब्ध रहकर स्पर्धा के साथ कहा—"मैं हूँ मण्डन मिश्र—यमविनाशी ईश्वर का भी विनाशकर्ता। 'ईश्वरो नास्ति'—इस बात को मैंने प्रमाणित किया है । अच्छी बात, मैंने आपके विचार का आवाहन ग्रहण कर लिया । आज श्राद्धकार्य समाप्त कर लूं । कल प्रातःकाल विचार आरम्भ होगा ।" *

उस विचार में मध्यस्थ होने के लिए आचार्य ने दोनों मुनियों से प्रार्थना की; परन्तु वे मण्डन की पत्नी उभयभारती को सरस्वती देवी के अवतार रूप से जानते थे । इस कारण उन्होंने कहा कि—"इस विचार में मण्डन-पत्नी ही मध्यस्थ रहेंगी ।"

मण्डन मिश्र ने भी 'तथास्तु' कहकर उन लोगों का आदेश

---

* आचार्य शंकर के योगबल से मण्डन-गृह में प्रवेश तथा मण्डन-गृह में श्राद्ध के समय व्यासदेव और जैमिनि मुनि के आगमन को प्रायः लोग सत्य समझकर ग्रहण नहीं कर सकते ।

स्वीकार कर लिया । फिर उन्होंने यतिवर से कहा--"आप कृपा-पूर्वक आज अतिथिशाला में विश्राम कीजिये । कल प्रात:काल विचार आरम्भ होगा ।"

मण्डन के इशारे से द्वारपाल शंकर को सम्मान के साथ ले गया । दूसरे दिन प्रात:काल आचार्य नित्यक्रियादि समाप्त कर कुछ शिष्यों के साथ मण्डन के घर आये । तब तक वहाँ अनेक विद्वान् ब्राह्मण समवेत हो गये थे । सभी लोग इस विचार के महत्त्व को जानकर विशेष उत्सुकता के साथ वहाँ आये । विचारसभा का आयोजन सम्पन्न करके मण्डन मिश्र ने यतिवर को आमन्त्रित किया । सभी अपने अपने आसन पर बैठ गये, केवल मध्यस्थ का आसन उस समय भी रिक्त था । आचार्य ने कहा--"भट्टपाद ने भी मुझसे कहा था कि आपकी पत्नी उभयभारती देवी के मध्यस्थ रहने से ही सुविचार होगा ।"

दोनों पक्षों की सम्मति से उभयभारती ससंकोच मध्यस्थ के आसन पर आ बैठीं । विचार में प्रण यह रहा कि जो पराजित होंगे, उन्हें विजेता का मत ग्रहण करना होगा ।

सरस्वती देवी ने दोनों पक्षों को अपना अपना पक्ष उपस्थित करने के लिए अनुरोध किया । सुनकर मण्डन मिश्र ने कहा--"आचार्यजी विचारप्रार्थी होकर आये हैं, इस कारण वे ही पहले अपना पक्ष उपस्थित करें । मैं उसका विरोधपक्ष ग्रहण करूँगा ।"‡

‡ अनेक जीवनीग्रन्थों में शंकराचार्य और मण्डन मिश्र का विचार बहुत ही विस्तृत रूप से लिखा गया है । वह विचार बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण है । विभिन्न दर्शनशास्त्रों का मन्थन करके माधवाचार्य ने जिस सुनिपुण विचार का वर्णन किया है उससे एक सम्पूर्ण अध्याय तैयार हो सकता है । हम यहाँ पर स्थानाभाव के कारण बहुत संक्षेप में ही उसका उल्लेख करेंगे ।

शंकर सहमत होकर बोले—"अद्वैत-ब्रह्मज्ञान ही वेद का एक-मात्र तात्पर्य है। कर्म या उपासना चित्तशुद्धि का ही उपायविशेष है। अत: ज्ञान और कर्म अथवा ज्ञान और उपासना में स्वरूपत: समुच्चय असम्भव है। मुक्ति के लिए एक व्यक्ति को एक ही काल में ज्ञान और कर्म या उपासना-परायण नहीं होना चाहिए। कर्म और उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस प्रकार के अद्वैत-ब्रह्मात्मज्ञान से जीव की मुक्ति होती है। 'न स पुनरावर्तते, न स पुनरावर्तते'—उसका पुनर्जन्म नहीं होता। कर्म या उपासना के द्वारा साक्षात् रूप से मुक्ति नहीं होती।"

मण्डन मिश्र ने आचार्य के पक्ष का खण्डन करने के लिए कहा—"कर्म ही वेद का तात्पर्य है। कर्म के फलस्वरूप अनन्त स्वर्ग-रूप मुक्ति मिलती है। ब्रह्म के साथ आत्मा की जो अभेदभावना का उपदेश वेद में है वह कर्म की पूर्णता-सम्पादन के लिए ही है। 'घटम् आनय' इत्यादि वाक्यों में कर्म की शक्ति ही प्रतीय-मान होती है। अनन्त काल तक कर्म करते रहने से ही अनन्त स्वर्ग मिलता है।"

शंकराचार्य ने मण्डन मिश्र के पक्ष में दोषप्रदर्शनपूर्वक अपने पक्ष का समर्थन किया। मण्डन मिश्र ने भी आचार्य की युक्तियों का खण्डन कर अपना पक्ष स्थापित किया। विचार क्रमश: सूक्ष्मतर होने लगा। जटिल से जटिल प्रश्नों की अवतारणा दोनों पक्षों द्वारा होने लगी। कोई भी पक्ष दुर्बलता का परिचय नहीं दे रहा था। असंख्य युक्तियों तथा शास्त्र-प्रमाणों द्वारा अपने अपने पक्ष का समर्थन होने लगा। इस ढंग से तुमुल विचार चलने लगा। किसी पक्ष में प्रतिभा की थोड़ी भी न्यूनता नहीं प्रतीत

हुई । क्रमशः मध्याह्न काल भी व्यतीत होने को चला। विचार का अन्त न होते देखकर उभयभारती देवी दोनों पक्षों को लक्ष्य कर बोलीं—"आप लोग शास्त्रार्थ कीजिये। मैं दूर से ही सब सुनूँगी। मध्याह्न अतीतप्राय है। मैं पतिदेव के लिए अन्न प्रस्तुत करने जा रही हूँ। अधिक विलम्ब करने से पतिसेवा में त्रुटि होगी।" * इतना कहकर उन्होंने दोनों के गले में पुष्पमाला डालकर कर कहा—"जिनके गले की माला म्लान होगी शास्त्रार्थ में वही पराजित समझे जायेंगे। आप लोग आनन्द से शास्त्रार्थ कीजिये।"

शास्त्रार्थ पुनः चलने लगा। कोई भी पक्ष दूसरे को निरस्त नहीं कर सका। शंकराचार्य जिस प्रकार अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा

---

* उभयभारती विशेष संगतिसम्पन्न मण्डन मिश्र की पत्नी थीं। तथापि वे अपने ही हाथ से पति की सेवा करती थीं। इस घटना से हमारे हृदय में एक गम्भीर भाव का संचार होता है। यही पतिव्रता नारी का आदर्श पातिव्रत्य धर्म है। शास्त्रों में इसका विधान है। महाभारत के वनपर्व में पतिव्रता नारी का उपाख्यान बहुत ही शिक्षाप्रद है।

श्रीभगवान् का प्रतीक समझकर मृण्मय मूर्ति की सेवा-पूजा द्वारा चित्त-शुद्धिक्रम से यदि परमपद की प्राप्ति सम्भव है तो जीवित मनुष्य को नारायण समझकर उनकी सेवा करने से चित्तशुद्धि क्यों न होगी? मूर्ति में ईश्वर की पूजा होती है तो जीवित मनुष्य में क्यों न होगी? 'भावग्राही जनार्दनः'। मनुष्य ही श्रेष्ठ देवता हैं। 'पतिः परमगुरुः' है। पतिसेवा में जो आन्तरिक प्रेम और तृप्ति है वही पत्नी को भगवान् के स्वरूप की उप-लब्धि करा देगी। पतिदेवता की सेवा ही पत्नी को अमरधाम ले जायगी। पति की देवताज्ञान से सेवा, संसार की सभ्यता में आर्यधर्म का श्रेष्ठ अवदान है। नारी को श्रेष्ठ सम्मान और अचलप्रतिष्ठ महिमा में प्रतिष्ठित करना, मन के प्रदीप में नित्यस्मरण की शिखा जलाना है। गौरी को प्रणाम, कन्यारूपिणी को प्रणाम सर्वाणी को प्रणाम।

कर रहे थे मण्डन मिश्र भी उसी प्रकार शतशत प्रमाणों का उद्ध-रण देकर उसका खण्डन करते जाते थे। अनेक जीवनीग्रन्थों में लिखा है कि शंकराचार्य और मण्डन मिश्र का शास्त्रविचार सुनने के लिए ब्रह्मादि देवता अपने अपने विमान में आरोहण कर मण्डन मिश्र के घर के ऊपर अन्तरिक्ष में अवस्थित हुए थे।

दोनों ही पक्ष शास्त्रार्थ में मत्त हैं। मध्याह्नकाल अतीत हो गया है तथापि किसी के गले की माला मलिन नहीं हुई। उभय-भारती देवी ने कुछ देर के लिए विचार के अवसान की घोषणा कर दी।

दूसरे दिन प्रात:काल यथासमय शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। मध्यस्थ ने दोनों विद्वानों के गले में पुष्पमाला पहना दी। विचार चलने लगा। शंकराचार्य अकाट्य युक्ति के बल से स्वपक्ष स्थापित करते, मण्डन मिश्र भी सूक्ष्मतर युक्ति-प्रमाणों के द्वारा आचार्य के मत का खण्डन करते। किसी पक्ष में दुर्बलता का कोई भी लक्षण नहीं दिखायी पड़ता था। उस दिन भी मध्याह्नकाल उपस्थित होने पर उभयभारती ने विचार स्थगित ही रखा। इसी ढंग से सत्रह दिन तक विचार चलता रहा। एक भी पक्ष हीनबल नहीं हुआ।

विचार के अठारहवें दिन* शंकराचार्य ने मुण्डक उपनिषद् का उल्लेख करते हुए कहा—"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृत: कृतेन—अर्थात् वेदविद् ब्राह्मण कर्म से प्राप्त लोकों की परीक्षा करके उसका नश्वर फल देखकर उस पर वैराग्य उत्पन्न करें, क्योंकि 'अकृत' मोक्ष 'कृत' के द्वारा प्राप्य

* मतान्तर में अष्टम दिन। जीवनीकारों ने शंकराचार्य के जीवन की अनेक घटनाएँ ही विभिन्न प्रकार से लिखी हैं। उसमें एकमत नहीं है। वह हम क्रमश: देखेंगे।

नहीं है। मोक्ष आत्मा का स्वरूप है जो त्रिकाल में विद्यमान है। किसी कर्म के द्वारा उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। कर्म के द्वारा जिस स्वर्गादि फल का संयोग होता है उसका वियोग भी होगा। जन्म होने से मृत्यु अवश्यम्भावी है। मोक्ष यदि प्राप्त होता तो उसका भी विनाश निश्चय ही होगा। मनुष्य अज्ञान से अपने को बद्ध समझता है। आत्मा का स्वरूप-ज्ञान होने से वह त्रिकाल-मुक्त आत्मा का स्वरूप ही जान जाता है। अतः उसके लिए मोक्ष उत्पन्न नहीं हुआ। चित्त को उसका ज्ञान नहीं था। उस अज्ञान के हट जाने से नित्यमुक्त आत्मा मेघ के हट जाने से सूर्य की तरह प्रकाशित होती है। 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' (कठोपनिषद् १।२।२८)। उस प्रमाण से कर्म की हीनता प्रतीत होती है; परन्तु वेद के कर्मभाग में ज्ञान की हीनता बतानेवाला एक भी प्रमाण आप नहीं प्रदर्शित कर सकते।"

इस पर मण्डन मिश्र को कोई उत्तर ही नहीं सूझा। वे बहुत ही विचलित हो गये। उनके शरीर से पसीना निकलने लगा। फलस्वरूप गले की माला भी मलिन हो गयी। उभयभारती इसे देखकर बहुत ही व्यथित हुईं; परन्तु उन्होंने न्याय और सत्य की अमर्यादा नहीं की। दोनों पक्षों के शास्त्रार्थ का उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा—"मेरे पति पराजित हो गये हैं।"...मध्यस्थ की यह बात सुनकर सभी लोग स्तम्भित हो गये। उनके इस नैतिक बल की तुलना नहीं हो सकती।

मण्डन मिश्र ने इस पराजय को स्वीकार करके आचार्य से कहा—"मुझे और भी एक संशय है। मीमांसाशास्त्र में महामुनि जैमिनि ने कहा है—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्'। इस सूत्र का अर्थ क्या है? अर्थात् होमयाग क्रिया ही वेद

का प्रतिपाद्य है। जिन वाक्यों का तात्पर्य कर्म में नहीं है वे निरर्थक हैं अथवा अर्थवाद मात्र हैं। इससे तो प्रतीत होता है कि वेद कर्मप्रतिपादक हैं।"

आचार्य ने उस सूत्र को केवल कर्मकाण्ड का ही पोषक बताया। मनुष्य के इष्टसाधन के लिए केवल कर्म ही अपेक्षित नहीं है, ज्ञान से इष्टसिद्धि होती है। जैसे अल्पान्धकार में किसी को रस्सी में सर्प का भ्रम हुआ, उससे वह बहुत डरा। उसका हृदय कम्पित होने लगा। उसने वहाँ से दौड़कर भागना चाहा, इतने में एक आप्त पुरुष प्रकाश लेकर आया और उसे दिखा दिया कि वह सर्प नहीं, रस्सी है। इससे उसका डर जाता रहा, दुःख दूर हुआ और उसको अपना पूर्वसुख प्राप्त हुआ। इस स्थल में किसी प्रवृत्ति या कर्म की आवश्यकता नहीं हुई। यहाँ यथास्थित वस्तु के ज्ञान से ही दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति हुई। इसी प्रकार उपनिषद् के 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि' आदि वाक्यों के ज्ञान से सांसारिक समस्त दुःखों की निवृत्ति, परमानन्द की प्राप्ति तथा परमार्थ की सिद्धि होती है। यहाँ भी प्रवृत्ति या कर्म की अपेक्षा नहीं है।

मन्त्रसिद्ध मण्डन मिश्र ने आचार्य की बात से सन्तुष्ट न होकर मन्त्रबल से जैमिनि मुनि को बुलाया। महर्षि जैमिनि ने उपस्थित होकर कहा—"मण्डन, तुम आचार्य की बात पर सन्देह मत करो। उन्होंने जो कहा है वह मेरा ही अभिमत जानना।"

मण्डन मित्र ने जैमिनि मुनि की यथाविधि पूजा की। उनके चले जाने पर आचार्य के चरणों में प्रणाम करके मण्डन ने कहा— "अर्हन्, मुझे अब कोई सन्देह नहीं रहा। मैं आपका शिष्य हो जाऊँगा। यदि आप मुझे संन्यास का अधिकारी समझें तो यथा-

शास्त्र मुझे संन्यासदीक्षा दीजिये ।"

उभयभारती अब तक मौन थीं । अब उन्होंने आचार्य को सम्बोधित करके कहा—"मेरे पति की पराजय अभी सम्पूर्ण नहीं हुई है । शास्त्र में 'आत्मनोऽर्धं पत्नी' अर्थात् पत्नी को पति की अर्धांगिनी कहा गया है । मुझे पराजित कर ही आप मेरे पति को शिष्य बना सकते हैं । मैं जानती हूँ कि आप सर्वज्ञ हैं, तथापि मेरी इच्छा है कि मैं आपसे शास्त्रार्थ करूँ ।"

शंकराचार्य इस प्रकार की अप्रत्याशित परिस्थिति के लिए तैयार नहीं थे । उन्होंने थोड़ी देर मौन रहकर कहा—"हे देवि, यशस्वी पण्डित लोग कभी स्त्री के साथ वाद में प्रवृत्त नहीं होते । आपकी यह इच्छा उचित नहीं है ।"

उभयभारती ने दीप्त कण्ठ से उत्तर दिया—"आप स्त्री को तुच्छ क्यों समझते हैं ? ऋषिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य गार्गी के साथ शास्त्र-विचार में प्रवृत्त हुए थे । राजर्षि जनक ने भी सुलभा नामक नारी के साथ शास्त्रार्थ किया था । अतः आप मेरे साथ शास्त्रार्थ क्यों नहीं कीजियेगा, विशेषतया जब मैं आपसे शास्त्रार्थ की प्रार्थना करती हूँ ? यदि आप शास्त्रार्थ में प्रवृत्त न हों तो पराजय मान लीजिये ।"

उभयभारती के स्पर्धापूर्ण वचन सुनकर आचार्य उनसे विचार करने में सहमत हुए । दोनों पक्षों का विचार आरम्भ हुआ । सरस्वती देवी पति का पक्ष लेकर विचार करने लगीं । विचार क्रमशः गुरुतर हो उठा । सूक्ष्म से सूक्ष्मतर प्रश्नों की अवतारणा सरस्वती देवी करने लगीं । उनकी विचारशैली, पाण्डित्य की गम्भीरता और विश्लेषणशक्ति से आचार्य बहुत ही विस्मित हुए । वे और भी सावधान होकर उत्तर देने लगे । उभयभारती देवी

के सैकड़ों प्रश्नों के उत्तर आचार्य अनायास ही देते रहे। इसी प्रकार दिन पर दिन शास्त्रार्थ चलने लगा। किसी पक्ष में भी थोड़ी दुर्बलता नहीं दिखायी पड़ी। प्रतिदिन प्रातःकाल शास्त्रार्थ आरम्भ होता था और मध्याह्न तक चलता था। फिर दूसरे दिन भी शास्त्रार्थ आरम्भ होता। इस प्रकार सत्रह दिन तक शास्त्रार्थ चलता रहा। ‡ मानों यह विचार कभी समाप्त ही नहीं होगा। समवेत पण्डितमण्डली सरस्वती देवी के अगाध शास्त्रज्ञान और असामान्य विचारशक्ति का परिचय पाकर अत्यन्त विस्मित हो गयी। मण्डन-पत्नी ने देखा कि वेदादि समस्त शास्त्रों में यतिवर को जीतना सम्भव नहीं है।

अठारहवें दिन के विचार में एक अनोखी परिस्थिति उत्पन्न हुई। सरस्वती देवी क्या प्रश्न करेंगी उसके लिए वे तैयार होकर आयी थीं। उन्होंने आसन पर बैठते ही प्रश्न किया—"काम का क्या लक्षण है? कामकला कितने प्रकार की है? शरीर के किस अंग में काम रहता है? किन किन क्रियाओं से उसका आविर्भाव

‡ मतान्तर में उभयभारती के साथ शंकराचार्य का कोई शास्त्रार्थ हुआ ही नहीं था, अतः शंकर के परकाय-प्रवेश का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। माधवाचार्य ने उस घटना की बात लिखकर शंकर को अलौकिक शक्ति-सम्पन्न प्रतिपादित किया है। दूसरे जीवनीकार कहते हैं कि उभयभारती ने नवीन यति को कामकला में अनभिज्ञ समझकर उस सम्बन्ध में कुछ प्रश्न किये थे। उन्होंने सोचा था कि आचार्य इन प्रश्नों के उत्तर न दे सकने से ही पराजित होंगे। आचार्य ने उन प्रश्नों का उत्तर न दे सकने से शास्त्रार्थ की प्रथानुसार एक मास का समय माँग लिया। उस समय के भीतर उन्होंने अमरुक राजा के मृत शरीर में सूक्ष्म शरीर द्वारा प्रविष्ट होकर कामकला के सम्बन्ध मे सविशेष ज्ञान प्राप्त कर उभयभारती के प्रश्नों का लिखित उत्तर दिया था।

८

और तिरोभाव होता है ? शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष में पुरुष और नारी के शरीर में काम की ह्रास-वृद्धि कैसे होती है और नारी किस प्रकार से पुरुष के ऊपर कामकला का विस्तार करती है ?"

शंकराचार्य इन प्रश्नों को सुनकर बहुत देर तक सिर झुकाये बैठे रहे। उसके अनन्तर उन्होंने कहा—"देवि, आप शास्त्रीय प्रश्न उठायें, मैं उनका उत्तर दूंगा। संन्यासी से इस प्रकार के प्रश्न क्यों पूछ रही हैं ?"

उत्तर में उभयभारती ने कहा—"क्यों यतिवर, कामशास्त्र क्या शास्त्र नहीं है ? सर्वत्यागी संन्यासी होकर भी तो आप विजिगीषा छोड़ नहीं सके। जो अपौरुषेय वेद का तात्पर्य जानते हैं वे तो सर्वज्ञ हैं। यदि आप सिद्ध संन्यासी हों तो आप जितेन्द्रिय हैं। कामशास्त्र-चर्चा में आपको चित्तविकार क्यों होगा ?"

आचार्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। पत्नी के ऐसे अशोभनीय प्रश्नों से मण्डन मिश्र ने विचलित होकर कहा—"देवि, तुम्हें ऐसे प्रश्न शोभा नहीं देते। तुम संन्यासी को इस प्रकार लांछित न करो।"

उभयभारती देवी ने गर्व के साथ कहा—"ज्ञानलाभ होने से काम-क्रोधादि पर विजयलाभ होता है। कामशास्त्र की आलोचना से यदि इनको चित्तविकार होता है तो समझना होगा कि ये अभी तत्त्वज्ञान में पूर्ण प्रतिष्ठित नहीं हुए हैं और ये आपके गुरु होने के योग्य भी नहीं हैं।"

पत्नी की बात सुनकर मिश्रजी मौन हो गये। आचार्य ने हँसते हुए कहा—"माता, आपके प्रश्नों के उत्तर देने के लिए मैं एक मास का समय माँगता हूँ। मैं संन्यासी हूँ। मैं इस मुख से आप के प्रश्नों का उत्तर न दूंगा। संन्यासी के लिए कामत्याग करना ही तो शास्त्र का अनुशासन है। त्रिगुणातीत अवस्था में प्रतिष्ठित

ज्ञानी को भी लोकसंग्रह के लिए व्यावहारिक क्षेत्र में शास्त्र की मर्यादा रखनी पड़ती है। यदि मैं ऐसा कार्य करूँ तो संन्यास का आदर्श कलुषित होगा। अतः मैं दूसरे शरीर में प्रविष्ट होकर आपके प्रश्नों का उत्तर लिखित रूप में दूँगा। आशा है आप उसमें आपत्ति न करेंगी।"

उभयभारती बोलीं—"अच्छा यतिराज! यदि आप दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होकर यह काम करें तो क्या कामचिन्ता के कारण आप संन्यासधर्म से च्युत न होंगे?"

आचार्य ने शान्त भाव से कहा—"देवि, आपके मुख से ऐसी बात शोभा नहीं देती। पूर्वजन्म का चाण्डाल अगले जन्म में ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हो तो क्या उसके ब्राह्मणत्व की हानि होती है?"

उभयभारती अपने कथन की असंगति समझकर बोलीं—"अच्छा तो वैसा ही होगा। मैं आपको एक मास का समय देती हूँ।"

इसके उपरान्त सभा विसर्जित हुई।

* * *

माहिष्मती नगरी छोड़कर चिन्तित चित्त से आचार्य शिष्यों के साथ यन्त्रचालित की तरह पूर्व की ओर चलने लगे। कुछ दिन रास्ता चलने के बाद उनके सामने एक विशाल जनहीन वन दिखायी पड़ा। उस वनपथ पर सभी अग्रसर होने लगे। इस अरण्य की सीमा कहाँ है कोई नहीं जानता था। जंगल क्रमशः घना होने लगा। इसी समय एक महान् कोलाहल सुनकर सभी चकित हुए। आगे जाने पर दिखायी पड़ा कि कोई राजा मृत पड़े हुए हैं। अनेक राजपुरुष तथा रानियाँ उस मृत देह को घेरकर शोक प्रकट कर रही हैं। पूछने से पता लगा कि राजा अमरक (मतान्तर में अमरुक) शिकार खेलने आये थे पर अचानक उनकी मृत्यु हो गयी।

इस प्रकार का योगायोग देखकर आचार्य पुलकित होकर बोले—"देखो पद्मपाद, कैसा सुवर्ण-सुयोग उपस्थित है ! मैं इस राजा की देह में प्रवेश करूँगा। तुम लोग झट किसी सुनसान गुफा का पता लगाओ।"

चारों ओर खोजने पर घने जंगल में एक बड़ी गुफा दिखायी पड़ी। आचार्य उस गुफा को देखकर सन्तोष के साथ बोले—"ठीक है। यह अच्छा निरापद् स्थान है।मैं योगबल से राजा के शरीर में प्रवेश करता हूँ। तुम लोग मेरी देह की इस गुफा में विशेष यत्न के साथ रक्षा करते रहो। एक मास बाद मैं पुनः इस देह में आ जाऊँगा।"

तदनन्तर आचार्य गुफा में प्रविष्ट होकर समाधिस्थ हो गये, वे योगबल से अपने सूक्ष्म शरीर के द्वारा राजा अमरक के मृत शरीर में प्रविष्ट हुए *। राजशरीर में रहकर आचार्य कामकला पूर्णतया

---

* पातंजल योगशास्त्र में आकाशमार्ग से गमन, एक ही समय में अनेक शरीर-धारण, परशरीर में प्रवेश आदि योगविभूतियों का उल्लेख है। योगी विशेष योगसाधना में सिद्धिलाभ करके आदित्यरश्मि के साथ विहार करते हुए इच्छानुसार आकाशमार्ग से गमनागमन कर सकते हैं। परन्तु है यह योग में प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए अर्थवाद ही।

'वज्रोलि' मुद्रा से भी परकाय-प्रवेश सम्भव है। प्राचीन समय में मुनिराज मच्छेन्द्रनाथ ने अपने शिष्य गोरखनाथ के हाथ अपनी देह की रक्षा का भार सौंपकर योगबल से एक मृत राजा के शरीर में प्रवेश किया था। बाद में उन्हें राजशरीर में भोगविलासमत्त देखकर शिष्य गोरखनाथ ने कौशल से तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर उन्हें सचेत किया था।

महाभारत के शान्तिपर्व में सुलभा नामक संन्यासिनी के राजर्षि जनक के शरीर में प्रविष्ट होने का उल्लेख मिलता है। सुलभा जनक के शरीर में प्रविष्ट होकर शास्त्रार्थ करने लग गयी थी। महाभारत के अनुशासनपर्व

जानने के लिए पण्डितों से वात्स्यायन-लिखित कन्दर्पशास्त्र का अध्ययन करने लगे और साथ ही साथ उभयभारती ने कामकला के सम्बन्ध में जो प्रश्न किये थे उनके उत्तर रूप में एक ग्रन्थ की रचना की।... पद्मपाद ने छद्मवेश से राजा अमरक के देहाश्रित आचार्य से भेंट की। उन्होंने भी अपने लिखित ग्रन्थ को कौशल से पद्मपाद के हाथ में दे दिया।

एक मास के अनन्तर आचार्य योगबल से पुनः अपने शरीर में आ गये। † आचार्य को पाकर शिष्य लोग आनन्दोल्लास करने

में लिखा है कि देवशर्मा के शिष्य विपुल ने गुरु के आदेशानुसार अपनी गुरुपत्नी के शरीर में प्रविष्ट होकर मायावी इन्द्र के हाथ से उन्हें बचाया था। विपुल ने अपनी नेत्ररश्मि गुरुपत्नी रुचि के नेत्रों में संयोजित करके उनके शरीर में प्रवेश किया था। अन्य अनेक ग्रन्थों में भी परकाय-प्रवेश का उल्लेख मिलता है। परन्तु हम आचार्य शंकर की परकाय-प्रवेश की घटना का समर्थन नहीं करते। अन्यत्र उल्लेख किया गया है कि शंकर के परकाय-प्रवेश के सम्बन्ध में मतभेद है।

† सायण माधवाचार्य आदि कुछ जीवनीकारों ने आचार्य के राजदेह में प्रवेश की घटना का दूसरे रूप में वर्णन किया है। उनके वर्णन से विदित होता है कि आचार्य राजदेह में प्रविष्ट होकर कामकला सम्यक् रूप से जानने के लिए रानियों के साथ घनिष्ठ भाव से मिलकर कामविलास में रत हो गये थे और उन्होंने पण्डितों से मिलकर कामशास्त्र के अध्ययन द्वारा उभयभारती के प्रश्नों के उत्तर रूप में एक निबन्धग्रन्थ की रचना की थी। शंकराचार्य इस प्रकार सांसारिक भोग में मग्न होकर अपने को भूल गये थे। एक मास का समय बीत चला, आचार्य नहीं लौटे। शिष्यगण घबड़ाने लगे। वे छिपकर राजा अमरक की जीवनयात्रा और कार्यकलाप आदि का पता लगाकर बहुत हताश हो गये।

तदनन्तर पद्मपादादि शिष्य गवैये के वेष में राजा से मिलकर संगीत के माध्यम से आत्मतत्त्व और स्वरूप की वर्णना करने लगे। इस रीति से

लगे। तत्पश्चात् आचार्य के आदेशानुसार सब लोग मण्डन मिश्र के घर की ओर चल पड़े।

मिश्रजी भी आचार्य के लौट आने की प्रतीक्षा में थे। आचार्य को देखकर उन्होंने प्रसन्न चित्त से स्वागत करते हुए उन्हें सुखासन पर बिठाया। आचार्य उभयभारती को अभिनन्दित करते हुए बोले—"देवि, यह ग्रन्थ स्वीकार कीजिये। इसमें हैं आपके सभी प्रश्नों के उत्तर।"

सरस्वती देवी उस ग्रन्थ को आदि से अन्त तक देखकर प्रसन्नता के साथ बोलीं—"यतीन्द्र, अब आपकी विजय पूर्ण हुई। मेरे पतिदेव आपका शिष्यत्व स्वीकार कर संन्यासी हो जायेंगे। मैं भी निश्चिन्त होकर अपने स्थान में चली जाऊँगी।"

आचार्य को उभयभारती का जन्मरहस्य ज्ञात था। इस कारण उनका संकल्प जानकर उन्होंने उनको नमन किया और उनकी स्तुति करने लगे—"जननि, आप अखिल ब्रह्माण्ड में दिव्य ज्ञान देने के लिए अवतीर्ण हुई हैं। मैं जानता हूँ आप देवी सरस्वती हैं। आपके इस मर्त्यधाम को छोड़कर चले जाने से सर्व विद्याएँ लुप्त हो जायेंगी। इस कारण मेरी प्रार्थना है कि आप और भी कुछ दिन तक इस जीवदेह में अवस्थित रहकर ब्रह्मविद्या का प्रचार कीजिये। मेरी शृंगेरी में एक मठ स्थापित करने की इच्छा है। आप वहाँ अधिष्ठित रहकर सब को विद्या दान दीजिये। मैं आपकी उपासना करूँगा। मेरी प्रार्थना पूर्ण कीजिये।"

शंकराचार्य की वन्दना से प्रसन्न होकर देवी सरस्वती ने कहा—"यतिराज, मैं दैवशरीर में अवस्थान करते हुए आपकी प्रार्थना

शिष्यों ने गुरु की पूर्वस्मृति जागृत कर दी। तब शंकराचार्य राजदेह को छोड़कर अपनी देह में आ गये।

पूर्ण करूँगी । आप वहाँ 'श्रीयन्त्र' स्थापित कीजियेगा । मैं उस यन्त्र में निवास करूँगी ।"

सरस्वती देवी सब के सामने योगारूढ़ होकर पार्थिव शरीर छोड़कर चली गयीं । पत्नी की यथाविधि दाहक्रिया, और्ध्वदैहिक क्रियादि सम्पूर्ण करके मण्डन आचार्य के निकट संन्यास ग्रहण करके सुरेश्वराचार्य हुए । उन्हें 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश देकर आचार्य ने शिष्य के हृदय में परम तत्त्वज्ञान उद्भासित करने के लिए जो सारगर्भित शिक्षा दी थी वही 'तत्त्वोपदेश' नामक एक छोटे ग्रन्थ के रूप में संकलित है ।

आचार्यचरणों की शरण लेकर मण्डन मिश्र ने भी अपने को धन्य और कृतार्थ माना । उन्होंने आचार्य की स्तुति करते हुए कहा—"हे करुणामय, परमगुरो, मेरी धृष्टता क्षमा कीजिये । आपकी महिमा सम्यक् रूप से न जानने के कारण मैं आपके साथ शास्त्रार्थ में प्रवृत्त हुआ था । पूर्वजन्मों के पुण्य प्रारब्ध के फलस्वरूप आपका चरणाश्रय पाकर मेरा मनुष्यजन्म सार्थक हुआ । आप मेरे त्राणकर्ता हैं । इस संसारबन्धन से आपने कृपा करके मुझे विमुक्त किया है । आपकी महिमा और कृपा व्यक्त करने में मैं असमर्थ हूँ ।" आचार्य ने भी प्रसन्न होकर मण्डन मिश्र के मस्तक पर अपना वरदहस्त रखते हुए उन्हें विशेष आशीर्वाद दिया ।

आठ

मण्डन मिश्र पर विजय पाने के उपरान्त आचार्य के जीवन में एक नवीन प्रकाश आ गया । अब से उनके जीवन के अन्तिम दिन

तक आचार्य को हम धर्मसंस्थापक के रूप में पायेंगे। उनके जीवन का यह अध्याय भारत तथा सनातन हिन्दू धर्म के लिए महान् कल्याणकारी है। उन्होंने तत्कालीन हिन्दू धर्म के प्रचलित मत-वादों को वेदमूलक तथा वेदानुगामी सिद्ध करके सनातन वैदिक धर्म का विराट् स्वरूप संसार के सामने प्रकट कर दिया। यह उनकी बहुत बड़ी देन है।

शिष्यों की विशेष इच्छा से वे दिग्विजय के लिए निकल पड़े। यद्यपि मण्डन मिश्र तथा उनकी पत्नी सरस्वती देवी को पराजित करने के कारण बहुत थोड़े ही पण्डित आचार्य के समक्ष आने का साहस कर सके तथापि उन्हें इस दिग्विजय के कारण उस समय के अनेक मतावलम्बियों के साथ विचारों के आदान-प्रदान करने का सुयोग प्राप्त हुआ; एवं अनेक मतवादियों के मतों का संस्कार करके आचार्य ने उन्हें वैदिक धर्म की शीतल छाया में आश्रय प्रदान किया। इसके अतिरिक्त उस समय विभिन्न परिस्थितियों में शंकराचार्य के जीवन और चरित्र की विशिष्टताओं को भी प्रस्फु-टित होने का सुयोग मिला था। फलतः संसार ने यह देख लिया कि वे केवल प्रतिभाशाली पण्डित मात्र नहीं वरन् देवमानव थे। यद्यपि आचार्य के जीवन की छोटी-मोटी अनेक गुरुत्वपूर्ण घटनाएँ विस्मृति के अतल तल में विलीन हो गयी हैं और जो घटनाएँ जानी भी गयी हैं वे भी विभिन्न लेखकों के हाथ में पड़कर विशेष रूप से विकृत हो गयी हैं, तो भी आचार्य के जीवनकाल में चरि-तार्थ हुए महत्त्वपूर्ण कार्य हमें मन्त्रमुग्ध कर देते हैं। वे दीर्घायु न होने पर भी महामानव थे। उनके द्वारा रचित भाष्य, दार्शनिक अवदान तथा अन्यान्य कृतियों की ओर देखे बिना आचार्य के जीवन का सम्पूर्ण माधुर्य हम समझ नहीं सकते। उनके जीवन की

प्रत्येक घटना तथा कार्य का विशेष मूल्य है। इसलिए निरपेक्ष दृष्टि से छोटी-बड़ी सभी घटनाओं को हम देखेंगे। आचार्य शंकर इन घटनाओं और कार्यों के समष्टिरूप हैं।

* * *

माहिष्मती नगरी छोड़कर आचार्य अपने शिष्यों के साथ उस समय के चालुक्य राज्य के भीतर से विभिन्न तीर्थस्थानों का दर्शन करते हुए तथा अनेक स्थानों के देवमन्दिरों का संस्कार एवं पूजा आदि का प्रवर्तन करके श्रीरामचन्द्र और सीतादेवी के पादस्पर्शपूत पुराणवर्णित पंचवटी या नासिक में आये। श्रीरामचन्द्र का मन्दिर ही यहाँ प्रधान है। यद्यपि कालप्रभाव से उसकी श्री भ्रष्ट हो गयी थी, तथापि आचार्य ने उसका यथाविधि संस्कार करके पूजा का प्रवर्तन कराया। आचार्य के आगमन से स्थानीय ब्राह्मण तथा विशिष्ट पण्डित विशेष रूप से उत्साहित हुए। उस मन्दिर के पास ही संन्यासियों के रहने के लिए एक मठ भी स्थापित हुआ।

पंचवटी में कुछ दिन तक निवास कर आचार्य चन्द्रभागा नदी के तट पर स्थित पण्ढरपुर आये। थोड़ी दूर पर भीमरथी नदी के तट पर स्थित भगवान् श्रीपाण्डुरंगदेव विशेष जाग्रत देवता हैं। प्रतिवर्ष विशेष विशेष दिनों में सारे महाराष्ट्र के पुण्यार्थी वहाँ पर समवेत होते हैं। फलस्वरूप उस स्थान की महिमा चारों ओर घोषित हो गयी है। आचार्य ने देवदर्शन में आकर भावविह्वल चित्त से एक सुललित स्तोत्र की रचना कर पाण्डुरंगदेव की वन्दना की। जनश्रुति है कि पुण्डरीक ने भीमरथी के तट पर स्थित महा-योगपीठ में विष्णु की उपासना की थी। पुण्डरीक को वर देने के लिए श्रीभगवान् वहाँ आविर्भूत हुए और पाण्डुरंग नामक पर-ब्रह्म लिंग रूप में वहाँ विराजमान हुए।

आचार्य का भावावेश देखकर लोग विशेष श्रद्धायुक्त हुए। उन्होंने सब को वेदमार्ग का अनुसरण कराकर स्वधर्मनिष्ठ होने का उपदेश दिया। आचार्य के आगमन और अवस्थिति से उस प्रान्त के लोगों में विशेष धर्मभाव जागरित हुआ।

अन्य भी कई पवित्र तीर्थस्थानों का दर्शन कर आचार्य कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के संगमस्थल के निकट श्रीशैल नामक प्रसिद्ध तीर्थ में पहुँचे। अत्यन्त प्राचीन युग से ही इस पुण्यक्षेत्र में पाशुपत, वैष्णव, शैव, शाक्त, वीराचारी, कापालिक तथा माहेश्वर सम्प्रदायों के अनेक साधकों ने विभिन्न प्रकार की साधनाओं द्वारा उसे साधना-पीठ में परिणत कर दिया था। आचार्य के आगमन से समग्र श्रीशैल की जनता में एक धार्मिक प्लावन उत्पन्न हुआ। विभिन्न सम्प्रदायों के साधक तथा विद्वज्जन अपने अपने मत के प्राधान्य की प्रतिष्ठा करने के लिए विचारार्थ आचार्य के पास आने लगे। परन्तु पद्मपाद और सुरेश्वर के साथ शास्त्रार्थ में पराजित होकर सभी विषण्ण भाव से अपने अपने स्थान को लौट गये। उन दिनों श्रीशैल में विशेष रूप से कापालिकों का प्राधान्य था। आचार्य-प्रचारित ब्रह्मात्मविज्ञान और उसकी प्राप्ति के उपाय-रूप त्याग एवं संयम-साधन के विरुद्ध उन्होंने युद्ध की घोषणा की। आचार्य के निकट सभी पराभूत हो रहे हैं इस समाचार से कापालिकों के राजा क्रकच अत्यन्त विचलित हुए। उन्होंने श्रीशैल के कापालिकों के प्रधान उग्रभैरव को कौशल से आचार्य की हत्या करने के लिए नियुक्त किया।

कपटी उग्रभैरव ने अपना मतलब साधने के लिए एक दिन आचार्य के चरणों में भक्तिभाव से प्रणाम करके कहा—"मैं अपना मत छोड़कर आपका शिष्य होना चाहता हूँ; अन्तिम

जीवन गुरुसेवा में बिताना ही मेरा ध्येय है।" उसकी इस विनती को सुनकर आचार्य ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उस दिन से उग्रभैरव आचार्य के शिष्यों के साथ रहकर दिखावटी विनीत व्यवहार तथा सेवा आदि द्वारा सब का प्रियपात्र बन गया।

एक दिन आचार्य एकान्त में बैठे थे। शिष्यगण अपने अपने कार्य में व्यस्त थे। उसी समय उग्रभैरव आचार्यचरणों पर साष्टांग प्रणाम करके गुरुदेव के चरणयुगल को शिर पर धारण कर रोने लगा। उसका आर्तिभाव देखकर आचार्य के हृदय में करुणा का संचार हुआ। उन्होंने सस्नेह पूछा—"वत्स, तुम रो क्यों रहे हो ? अपना मनोभाव प्रकट कर बताओ।"

उग्रभैरव ने रोते हुए विनय के साथ कहा—"प्रभो, मैं जान गया कि आप जितेन्द्रिय, परोपकारी, दयालु, सर्वज्ञ, शंकर-सदृश महापुरुष हैं। संसार के कल्याण के लिए आप भूतल पर मनुष्य-देह में अवतीर्ण हुए हैं। आप अनन्त गुणों के सागर हैं। आपके सदृश निर्मलचरित्र और कृपालु पुरुष संसार में कोई दूसरा नहीं है। आप मेरे एक मात्र अभीष्ट को पूर्ण कर मेरा मानव-जन्म सार्थक कीजिये। आपके चरणों में यही मेरी अत्यन्त कातर प्रार्थना है।"

शिष्य की विनती से आचार्य का हृदय करुणा से द्रवीभूत हो उठा। उन्होंने स्निग्धमधुर कण्ठ से कहा—"वत्स, बताओ तुम्हारा अभीष्ट क्या है। मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करने के लिए यथासाध्य प्रयत्न करूँगा।"

उग्रभैरव ने फिर रोते हुए कहा—"देव, मैंने देवाधिदेव महादेव के साथ शिवलोक में निवास करने के उद्देश्य से जीवन-भर उग्र तपस्या की है। कैलाशपति शंकर ने मेरी तपस्या से

प्रसन्न होकर मुझे वर दिया है कि यदि मैं किसी राजा या सर्वज्ञ महात्मा के मस्तक द्वारा रुद्र का होम कर सकूँ तभी मेरी मनोकामना सिद्ध होगी। उस दिन से मैंने अनेक चेष्टाएँ की हैं परन्तु राजा या सर्वज्ञ पुरुष का मस्तक अभी तक मुझे नहीं मिला। आप सर्वज्ञ तथा परम दयालु हैं। संसार का कल्याण ही आपके जीवन का व्रत है। आपकी दया होने से मेरा मनुष्यजीवन सफल हो सकता है, नहीं तो व्यर्थ का भार वहन करते हुए ही मुझे मरना होगा।"

उग्रभैरव की प्रार्थना सुनकर आचार्य ने उसे अनेक तत्त्वोपदेश दिये और समझाया—"अद्वैत-ब्रह्मात्मविज्ञान के बिना परम-शान्ति या भूमा-आनन्द नहीं मिल सकता। इस जन्म-मृत्यु के चक्कर से मुक्त होने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। विभिन्न लोकप्राप्ति के मार्ग से पुनः इस संसार में आना पड़ता है और पुनः शरीर धारण कर सांसारिक सुख-दुःख में उलझ जाना पड़ता है, इस कारण विवेकी पुरुष परलोकप्राप्ति की चेष्टा नहीं करते।"

आचार्य के उपदेश का कोई फल नहीं हुआ। उग्रभैरव और भी व्याकुलता प्रकट करके रोते हुए बोला—"प्रभो, आप अन्तर्यामी हैं, आप जानते हैं मैं अद्वैतज्ञान का अधिकारी नहीं हूँ। मैं बूढ़ा हो चला, अब तो थोड़े ही दिन शेष हैं। महादेव ने कृपापूर्वक जो वर दिया है आप कृपा करके उसे पूर्ण कीजिये। शिव की आज्ञा का पालन कर सकने से ही मैं अपने को धन्य समझूँगा और वही मेरे जीवन का एकमात्र अभीष्ट है। मेरी कामना की पूर्ति कर आप मेरे जीवन को कृतार्थ कीजिये। दधीचि मुनि ने जिस प्रकार इन्द्र को अपने शरीर की अस्थि प्रदान कर अक्षय कीर्ति

प्राप्त की है आप भी इस नश्वर शरीर को मेरे कल्याण के लिए त्यागकर संसार में यशोभागी होइये तथा मेरे मानवजन्म को धन्य कीजिये ।"

उग्रभैरव की ऐसी कपटी-आर्त प्रार्थना से आचार्य का हृदय द्रवीभूत हो गया । उन्होंने सोचा यह नश्वर शरीर यदि किसी के पुण्यकार्य में लग जाय तो अच्छा ही है । इसके अतिरिक्त सभी तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर के इच्छाधीन है । ऐसा लगता है कि इस शरीर को धारण करने का अब कोई प्रयोजन नहीं है ।

आचार्य ने सोच-विचारकर कहा—"वैसा ही होगा । मैं तुम्हारी प्रार्थना पूरी करूँगा, किन्तु किस उपाय से वह सम्भव होगा ? शिष्यों को यदि पता लग गया तो तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं हो सकेगी ।"

उग्रभैरव आनन्द से प्रफुल्लित होकर बार बार आचार्य के चरणों में प्रणाम करते हुए बोला—"आप साक्षात् भगवान् हैं, इस कारण आपने भक्त की कामना पूरी की । यह कार्य ऐसे करना होगा जिससे शिष्य लोग कुछ भी न जान सकें । मैंने सोच रखा है कि निकट के जंगल में भैरवों का जो एक आसन है, वहीं सारा आयोजन किया जाय । आगामी अमावस्या की मध्यरात्रि में आप वहाँ आ जायेंगे । मैं बीच रास्ते से आपको ले जाऊँगा । इससे कोई कुछ न जान सकेगा ।"

आचार्य सहमत हो गये । उग्रभैरव आचार्य की चरणरज सिर पर रखकर चला गया । पहले की तरह वह शिष्यों के साथ ही रहने लगा और निर्दिष्ट दिन के पहले किसी दूसरे स्थान में जाने की बात कहकर वहाँ से चला गया ।

अमावस्या आ गयी । आचार्य अपने सिर के बलिदान के लिए

प्रस्तुत हुए। मध्यरात्रि में शिष्यों को निद्रित देखकर वे जंगल की ओर चल पड़े। उग्रभैरव बीच रास्ते में ही आचार्य की प्रतीक्षा कर रहा था। वह आचार्य को रास्ता बताकर गम्भीर वन में भैरव के आसन पर ले गया। पूजा का सारा आयोजन प्रस्तुत था तथा होमाग्नि भी प्रज्वलित थी। यमदूत-सदृश उग्रभैरव के भयंकर दैत्य-सदृश सहचर त्रिशूल हाथ में लिये उस स्थान की रक्षा कर रहे थे।

उस निर्जन स्थान में उपस्थित होकर उग्रभैरव ने आचार्य से कहा—"प्रभो, शुभ मुहूर्त उपस्थित है, आप बलि के स्थान के पत्थर पर अपना सिर रखिये। मैं आपका सिर लेकर होमकार्य पूर्ण करूँ।"

आचार्य ने शान्त भाव से कहा—"क्षणभर प्रतीक्षा करो। मैं समाधिस्थ हो जाऊँ उसके बाद तुम अपना काम करना।"

शंकराचार्य योगासन में बैठकर परब्रह्म में मन को एकाग्र करके समाधिस्थ हो गये। उग्रभैरव ने कुछ देर तक प्रतीक्षा करके देखा कि आचार्य आँखें मूँदे सिद्धासन में बैठकर एकाग्र चित्त से समाधिमग्न हो गये हैं।

इसी समय एक आकस्मिक घटना ने सब कुछ उलट-पलट कर दिया। पद्मपाद दूसरे शिष्यों के साथ सो रहे थे। उन्होंने स्वप्न में देखा एक कापालिक सुनसान जंगल में गुरुदेव का सिर काटने के लिए तैयार हो गया है। वे निरुपाय होकर अपने इष्ट-देवता नृसिंहदेव से गुरुदेव की जीवनरक्षा के लिए प्रार्थना करने लगे। साथ ही साथ भगवान् भयंकर मूर्ति में चारों ओर ज्योति फैलाते हुए पद्मपाद के सामने उपस्थित होकर उनके शरीर में प्रविष्ट हो गये। पद्मपाद एकाएक भीषण गर्जन करते हुए शय्या

से उठकर जंगल की ओर भागे। उस शब्द से दूसरे शिष्यों की भी नींद खुल गयी। दूसरे शिष्य यद्यपि कुछ समझ न सके फिर भी पद्मपाद के पीछे पीछे दौड़े। नृसिंहदेव के गर्जन से सारी वनस्थली काँप उठी। उग्रभैरव आचार्य का सिर काटने के लिए तेज धारवाला खड्ग हाथ में लिये खड़ा था। ठीक उसी समय नृसिंहदेवाविष्ट पद्मपाद वहाँ गर्जन करते हुए आ पहुँचे और क्षण भर में उग्रभैरव के हाथ से खड्ग लेकर उससे उसका ही सिर काटकर भयंकर गर्जन करने लगे।* कापालिक के सभी साथी वहाँ से भाग खड़े हुए। पद्मपाद उस समय उन्मत्त की तरह गर्जन करने लगे। तब तक आचार्य के दूसरे शिष्य भी वहाँ आ उपस्थित हुए और उस भयंकर दृश्य को देखकर भय से काँपने लगे।

पद्मपाद की उस गर्जना से आचार्य की समाधि टूट गयी। उन्होंने देखा कि पद्मपाद के शरीर का आश्रय लेकर नृसिंहदेव देवताओं को भी भयभीत करनेवाले अत्यन्त उग्र रूप से विराज रहे हैं। वे नारायण को उस रूप में देखकर भक्तिभाव से स्तुति करने लगे। दूसरे ही क्षण नृसिंहदेव अदृश्य हो गये और पद्मपाद मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

शिष्यों की सेवा से पद्मपाद पुनः चेतन हो गये। उन्होंने आचार्य को प्रणाम करके अपना स्वप्न-वृत्तान्त और बचपन में प्राप्त हुए नृसिंहदेव के दर्शन तथा वरप्राप्ति का विवरण बताया। आज स्वप्न में नारायण के दर्शन के बाद क्या हुआ इसका उन्हें

---

* मतान्तर में भगवान नृसिंहदेव ने दैत्यराज हिरण्यकश्यपु का जिस ढंग से वध किया था उसी प्रकार वज्रतुल्य तीक्ष्ण नखों से उस कापालिक का भी हृदय विदीर्ण किया था।

कुछ भी ज्ञान नहीं था।

देवकार्य-साधन के लिए जिनका जन्म होता है केवल उनके योग और क्षेम का प्रबन्ध श्रीभगवान् वहन करते हों ऐसी बात नहीं, वरन् उनकी जन्म-मृत्यु भी श्रीभगवान् की इच्छा से ही नियन्त्रित होती है। पद्मपाद के मुख से सारा विवरण सुनकर कापालिक की आकस्मिक मृत्यु पर खेद प्रकट करते हुए आचार्य ने कहा—"हाय ! उग्रभैरव का मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ। उसने कैलाशपति की प्रसन्नताप्राप्ति के लिए कठोर तप किया था। मैंने भी उसकी आकांक्षा पूर्ण करने के लिए उसे अपना मस्तक देना चाहा था। परन्तु विधाता का विधान कुछ और ही था।" पद्मपाद की गुरुभक्ति ने दूसरे शिष्यों को विशेष रूप से अभिभूत कर दिया। सुरेश्वराचार्य ने अत्यन्त आवेग से पद्मपाद को आलिंगन-बद्ध करके कहा—"आपके द्वारा ही आज हम लोगों ने गुरुदेव को जीवित पाया है। आप धन्य हैं। आपकी गुरुभक्ति धन्य है।"

कापालिक के कटे सिर तथा खून से लथपथ शरीर ने उस स्थान को बहुत ही भीषण कर दिया था। परन्तु उस गम्भीर रात्रि में अज्ञात अरण्यपथ से लौट आना सम्भव न होगा, ऐसा समझकर वहीं रात बिताने का प्रबन्ध हुआ। आचार्य ने संन्यास का उच्च आदर्श स्मरण कराकर शिष्यों से कहा—"तुम लोग कभी संन्यास के आदर्श से च्युत न हो। संन्यास दो प्रकार का है—मुख्य और गौण। मुख्य संन्यास भी दो प्रकार का है—एक ज्ञानलाभ के लिए विविदिषा और ज्ञानलाभ के अनन्तर विद्वत् संन्यास। गौण संन्यास तीन प्रकार का है। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। ज्ञानलाभ के लिए जो विविदिषा संन्यास है

तुम लोगों ने उसी को ग्रहण किया है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन इसके मुख्य साधन हैं। केवल शरीरधारण के लिए जितना कर्म करने की आवश्यकता है उतना मात्र ही कर्म करते रहो। लोकसंग्रह आदि इसका गौण लक्ष्य है। ज्ञानलाभ हो जाने पर विद्वत् संन्यास में तुम सदा साक्षी रूप में विराजमान रहोगे। किसी भी विषय में लिप्त न होगे।"

इस प्रकार के अनेक तत्त्वोपदेश देते हुए रात बीत गयी। प्रातःकाल सब लोग अपने स्थान में चले आये।

इधर वायुप्रवाह के समान द्रुत गति से श्रीशैल में सर्वत्र कापालिक की भयंकर मृत्यु का समाचार फैल गया। आचार्य का महत्त्व, उनकी उदारता, आत्मत्याग तथा सर्वोपरि उनकी अलौकिक शक्ति की बात लोगों के मुख से प्रचारित होने के फलस्वरूप अनेक मनुष्य उनके दर्शनों के लिए आने लगे तथा बहुतेरे शिष्य भी बनने लगे। कापालिकों ने भी भयभीत होकर आचार्यचरणों की शरण ली।

वे दूसरे के कल्याण के लिए मस्तक दान कर रहे थे। इस घटना को आचार्य के जीवन की सर्वश्रेष्ठ घटना कहने में अतिशयोक्ति न होगी। आचार्य शंकर ब्रह्मात्मविज्ञान में कहाँ तक प्रतिष्ठित हुए थे, इस घटना से उसका अनुभव हो जाता है। जो दार्शनिक तत्त्व तथा उपदेश उन्होंने स्वरचित भाष्य तथा अन्यान्य ग्रन्थों द्वारा जगत् को दिया है उसके साथ स्वयं उनके जीवन का कहाँ तक सामंजस्य है यह हम उनके मध्य-जीवन की इस एकमात्र घटना में उज्ज्वल स्वर्णाक्षरों से लिखित देखते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में जिस ब्राह्मी स्थिति और स्थितप्रज्ञ

का वर्णन करते हैं और 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।' (६।२२) ‡— इस श्लोक में जिस अवस्था-प्राप्ति का उल्लेख है, हम आचार्य शंकर को उस अवस्था के मूर्तविग्रह के रूप में देखते हैं। अद्वैत-ज्ञान में प्रतिष्ठित महामानव केवल लोकसंग्रहार्थ व्यावहारिक जीवन में किस भाव से अवस्थित रहते हैं वह भी आचार्य के जीवन की इस घटना से भलीभाँति प्रकट होता है। जीव-जगत् के कल्याण के लिए जो देवमानव देह धारण करते हैं वे स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित रहकर हृदय से अन्य सभी कामनाओं को निकाल देते हैं; तथा निःस्पृह, निरहंकार और निर्मोह होकर जितने दिनों तक जीवदेह में अवस्थान करते हैं उतने दिन केवल जीवकल्याण के व्रत का अनुष्ठान जिस भाव से करते हैं वह भी आचार्य के जीवन से व्यक्त होता है।

ईसा मसीह ने संसार के कल्याण के लिए आत्म-बलिदान किया था; उन्हें बलपूर्वक क्रास में विद्ध कर दिया गया था, परन्तु उन्होंने हत्या करनेवालों के ऊपर किंचित् भी क्रोध प्रकट नहीं किया। उनके भीतर क्रोध का स्थान ही नहीं था--थी केवल करुणा। इसी कारण उन्होंने परमपिता परमेश्वर के निकट करुणा-प्लावित चित्त से आततायियों के लिए क्षमा की भिक्षा माँगी थी— "हे पिता, इन्हें क्षमा कीजिये, ये अज्ञानी हैं, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।" संसार के उन अपुण्यवान् व्यक्तियों के लिए यही थी उनकी अन्तिम प्रार्थना।

---

‡ जिस आत्मस्वरूप में अवस्थित होकर मनुष्य पूर्णकाम होता है एवं उससे अधिक काम और कुछ नहीं है, ऐसा समझता है तथा जिस अवस्था में स्थित होने से महान् दुःख से भी वह विचलित नहीं होता।

भगवान् बुद्ध एक बकरे के बच्चे को गोदी में लिये राजा बिम्बिसार के यज्ञस्थल में उपस्थित हुए थे और अपने जीवन के बदले उस छागशिशु के जीवन की भिक्षा माँगी थी।

नदिया के नित्यानन्द, दस्यु जगाई-माधाई को हरिनाम देने के लिए गये परन्तु उन दस्युओं ने भक्तवर नित्यानन्द के सिर पर शराब का घड़ा फोड़ दिया। उससे खून से लथपथ होने पर भी नित्यानन्द ने उन्हें प्रेमालिंगन देकर उनका उद्धार किया था।

जीवत्राण-व्रत में उत्सृष्टप्राण महाजनों के जीवन में इस प्रकार के आत्मत्याग की अनेक घटनाएँ दिखायी पड़ती हैं। श्रीकृष्ण का जीवन ही कैसा महिमामय था! जन्म से ही अनेक दुःखों से पूर्ण! जन्म होते ही वे मातृदुग्ध वे वंचित हो गये। व्याध के हाथ से प्राणनाश होने पर भी उन्होंने अपराधी आततायी व्याध के लिए पुण्यलोक-प्राप्ति का प्रबन्ध किया था। चरणों में पड़े हुए भीत व्याध को श्रीकृष्ण ने आशीर्वाद देते हुए कहा था--

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे।
याहि त्वं यदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥†

--श्रीमद्भागवत, १०।३०।३९।

परन्तु कापालिक की प्रार्थना पूर्ण करने के हेतु आचार्य के स्वेच्छया मस्तकदान के लिए प्रस्तुत होने की घटना सर्वथा अन्य प्रकार की है। उसमें अद्वैत-ब्रह्मात्मविज्ञान में प्रतिष्ठित होने का माधुर्य ही विशेष रूप से परिस्फुट हुआ है। §

---

† हे जराव्याध, तुम डरो मत, उठ खड़े हो जाओ। मेरे द्वारा इच्छित कार्य ही तुमने किया है। मेरी आज्ञा से तुम पुण्यकामी व्यक्तियों के आश्रय-स्थल स्वर्गलोक में चले जाओ।

§ माधवाचार्य के मतानुसार कापालिक के वधस्थल में शंकराचार्य

* * *

श्रीशैल के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक आचार्य की महिमा फैल गयी। वे अक्लान्त भाव से वेदान्त की महिमा का प्रचार कर गोकर्णतीर्थ की ओर चल पड़े। यह स्थान कर्नाटक प्रदेश के समुद्रतट पर स्थित है। गोकर्ण अति प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थ है। श्रीमद्भागवत में भी उसका उल्लेख है—"गोकर्णाख्यं शिव-क्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः" (गोकर्ण शिव का प्रिय स्थान है।

असम्प्रज्ञात समाधि में प्रतिष्ठित थे। श्रीभगवान् की विशेष इच्छा से ही उस समाधि से वे व्युत्थित हुए।

पतंजलि के योगसूत्र में प्रधानतया समाधि दो प्रकार की बतायी गयी है। सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि तथा असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि।

सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की है — (१) स्थूल वस्तु के अवलम्बन से प्रवृत्त सम्प्रज्ञात समाधि का नाम सवितर्क; (२) वितर्करहित सूक्ष्म वस्तु के अवलम्बन से निविष्ट सम्प्रज्ञात समाधि का नाम सविचार, (३) विचार-रहित केवल आनन्द के अवलम्बन से प्रवृत्त सम्प्रज्ञात समाधि का नाम सानन्द और (४) आनन्द-रहित अस्मिता अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार के ज्ञान के अवलम्बन से जो सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है उसका नाम सास्मित है।

सम्प्रज्ञात समाधि के निरोध से सर्वनिरोध होता है और इसी सर्व-निरोध का नाम असम्प्रज्ञात या निर्बीज अथवा निर्विकल्प समाधि है। इसी समाधि के फलस्वरूप, वृत्तिकार भोज ने कहा है—'पुरुषः स्वरूप-निष्ठः शुद्धो भवति" अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा पुरुष (आत्मा) स्वरूपनिष्ठ और शुद्ध होता है। पतंजलि के मत में सम्प्रज्ञात समाधि असम्प्रज्ञात समाधि का ही बहिरंगरूप है। "ईश्वरप्रणिधानाद्वा।"— भक्तिपूर्वक ईशआराधना करने से सम्प्रज्ञात अथवा असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। यह भी पतंजलि का ही मत है। अर्थात् ईश्वरवादी या निरीश्वरवादी दोनों ही उस समाधि के समान अधिकारी हैं।

असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा जिन विभूतियों की प्राप्ति होती है उनका

यहाँ उनका सान्निध्य-लाभ होता है) । उस स्थान में उपस्थित होकर आचार्य पहले ही देवदर्शन के लिए गये। उस विग्रह का बायाँ आधा अंश नारीमूर्ति है। आचार्य, महादेव को प्रणाम करके सद्योरचित स्तोत्र के द्वारा उनकी वन्दना करने लगे --"हे स्मरारि, आपके शरीर के दाहिने भाग में मेघ की शोभा और बायें भाग में बिजली की प्रभा फैली हुई है। दाहिने भाग में आपने नवतृणांकुर-भक्षणरत मृग का रूप धारण किया है और बायें भाग में पार्वती के हाथ में शुक पक्षी विराजमान है। पार्वती के कण्ठ के साथ आप का कण्ठ संलग्न रहने से आपके कण्ठस्थित हलाहल प्रभाशून्य हो गया है। मैं आपके शरीर की ज्योति का ध्यान करता हूँ। आपके शरीर की ज्योति तो मेरा

वर्णन पतंजलि के योगदर्शन में इस प्रकार किया गया है--(१) अतीत और अनागत ज्ञान, (२) सभी प्राणियों का शब्दार्थ ज्ञान, (३) पूर्वजन्मविषयक ज्ञान, (४) परचित्त ज्ञान, (५) अन्तर्धान शक्ति, (६) हाथी की तरह बल की प्राप्ति, (७) सूक्ष्म और दूरस्थित वस्तु का ज्ञान, (८) क्षुधा-पिपासा की निवृत्ति (९) परकाय-प्रवेश, (१०) अणिमादि की सिद्धि। (विभूतिपाद १६।३७)

अणिमादि आठ सिद्धियाँ इस प्रकार हैं--(१) अणिमा--परमाणुरूप-प्राप्ति, (२) लघिमा--रुई के समान हलकापन, (३) महिमा--आकाश आदि के समान महान् हो जाना, (४) गरिमा--लौह के समान भारी हो जाना, (५) प्राप्ति--उंगली से चन्द्र आदि का स्पर्श कर सकना, (६) प्राकाम्य--इच्छा में बाधा न होना, (७) ईशित्व--अपने शरीर पर पूर्ण प्रभुता, (८) वशित्व--सर्वभूतों पर प्रभुता।

ऐसा भी हो सकता है कि ये सब अर्थवाद मात्र हों। अर्थात् योगसाधन में प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए ये प्रशंसा-वाक्य हैं (रोचनार्था फलश्रुतिः)।

ही स्वरूप है। भूमारूप परमात्मा के साथ हम दोनों के एकत्व के कारण आपके साथ मेरा भी एकत्व है"।

इस प्रकार गोकर्णेश्वर की स्तुति पूजा करते हुए उस परम पावन तीर्थ में आचार्य प्रसन्न चित्त से तीन दिन रहे। आचार्य के यश और शक्ति की बात इससे पहले ही गोकर्ण में पहुँच चुकी थी। अनेक लोग वहाँ आचार्य के दर्शन के लिए एकत्र हुए। उन्होंने जिज्ञासुओं के सामने वेदान्ततत्त्व की व्याख्या की। स्थानीय पण्डितों में शैव सम्प्रदाय के प्रधान पण्डित नीलकण्ठ के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति शास्त्रार्थ के लिए आचार्य के समक्ष आने का साहस नहीं कर सका। नीलकण्ठ ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। उनमें ब्रह्मसूत्र का शैवमतानुसार भाष्य ही प्रधान है। यह नीलकण्ठ महाभारत के टीकाकार हैं या नहीं, निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। माधवाचार्य के ग्रन्थ में शंकराचार्य और नीलकण्ठ का शास्त्रार्थ विस्तृत रूप से दिया हुआ है। दोनों में तुमुल विचार हुआ था। आचार्य ने शत-शत युक्तियों तथा श्रुति-प्रमाणों द्वारा शैव मत का खण्डन करके अद्वैत-ब्रह्मात्म-विज्ञान स्थापित किया।

शैवश्रेष्ठ नीलकण्ठ शास्त्रार्थ में पराजित होकर हरदत्त आदि प्रधान शिष्यों के साथ शंकराचार्य के शिष्य हो गये और साथ ही ब्रह्मसूत्र के स्वकृत शैव भाष्य को उन्होंने जल में प्रवाहित कर दिया।

तत्पश्चात् आचार्य अपने शिष्यों के साथ हरिहर या हरिशंकर-तीर्थ में पधारे। उस तीर्थ के दर्शन से उन्हें प्रतीत हुआ कि मानो यहाँ वैकुण्ठ और कैलास का समावेश है। भेदवादियों का भ्रम और संकीर्णता दूर करने के लिए ही मानो भगवान् वहाँ 'हरिहर-अभेद' मूर्ति में विराज रहे हैं। स्तुतिगान करते हुए उन्होंने श्री-

भगवान् की वन्दना की—"हे देवाधिदेव, आप ब्रह्मा और विष्णु के आराध्य हैं। आप एक आधार में हरि और हर हैं। सप्तर्षियों के भी आप वन्दनीय हैं। आप मात्स्य-तेज:सम्पन्न अनन्तशक्ति तथा सर्वव्यापक विभु हैं।

"जिन्होंने मन्दरपर्वत धारण कर देवताओं को अमृत पान कराया था, जिन्होंने वराह तथा नृसिंह-रूप धारण किया था, जो परमात्मा तथा अवाङ्मनसोगोचर हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।"

उनका यह अपूर्व भावावेश देखकर समवेत जनसमूह तथा अर्चकगण विशेष श्रद्धा-सम्पन्न हुए। नर-नारियों के दल के दल आचार्य के दर्शन के लिए आने लगे। सौम्यदर्शन तेज:पूर्ण ब्रह्म-ज्योति से उद्‌भासित यतिराज को देखकर सभी आश्चर्यचकित हो कहने लगे—स्वयं ब्रह्मण्यदेव धराधाम में अवतीर्ण हुए हैं। उनके श्रीमुख से अद्वैततत्त्व की व्याख्या सुनकर सभी परितृप्त हुए। उन्होंने अधिकारीविचारपूर्वक अनेक को द्वैत-उपासना का सारतत्त्व समझाकर देवोपासना में प्रवर्तित किया। हरिहर-तीर्थ अनेक धार्मिक लोगों के समागम से मानों एक उत्सवक्षेत्र बन गया।

* * *

अनेक राजा, विद्वान, ब्राह्मण, विभिन्न सम्प्रदायों के संन्यासी तथा साधक लोक आचार्य के पवित्र संग तथा तीर्थयात्रा के उद्देश्य से उनके अनुगामी हुए। वहाँ से चलकर सशिष्य आचार्य मूकाम्बिकातीर्थ की ओर बढ़े। सर्वत्र ही अनेक पुण्य-आकांक्षी व्यक्ति उनके दर्शनों के लिए आते और साथ साथ चलते थे। उन्होंने सभी को तत्त्वोपदेश देकर तृप्त किया। यतिवर पुण्यतीर्थ में पदार्पण करते ही अम्बिका देवी के मन्दिर की ओर चले। आचार्य

को देखने के लिए वहाँ अनेक मनुष्य एकत्र हुए । वह धीरे धीरे ध्यानमग्न हो चल रहे थे । जाते जाते रास्ते में उन्होंने देखा, एक द्विज-दम्पति मृत पुत्र को गोद में लिए व्याकुल होकर रो रहा है । उनकी रुदन-ध्वनि से आचार्य का हृदय करुणार्द्र हो उठा । वे अभिभूत की तरह स्तब्ध होकर वहीं खड़े हो गये । एकाएक एक आश्चर्यजनक घटना की ओर सब का ध्यान आकृष्ट हुआ । दिव्यकान्ति आचार्य को देखकर द्विज-दम्पति मृत पुत्र को उनके चरणों में डालकर करुणापूर्ण आर्तनाद करता हुआ मृत पुत्र के प्राणों की भिक्षा माँगने लगा । आचार्य का गतिपथ रुद्ध हुआ, उनका हृदय पुत्रशोकातुरों के शोक से द्रवित हो उठा । शोकार्तों को सान्त्वना देकर वे स्थाणुवत् दण्डायमान होकर मुँदे नेत्रों से भगवती की स्तुति करने लगे । आचार्य के स्तुतिगान के साथ द्विज-दम्पति की रुदन-ध्वनि ने मिलकर एक करुण स्वर उत्पन्न कर दिया था । जनमण्डली स्तब्ध हो विस्मय से भावाविष्ट यतिवर को देख रही थी ।

आचार्य शंकर उसी भाव से मन ही मन व्याकुल प्रार्थना कर रहे थे । एकाएक आचार्य के चरणों पर स्थापित शिशु का शव धीरे धीरे चैतन्य होकर स्पन्दित हुआ । बालक का अंगसंचालन देखकर सभी बहुत विस्मित हुए ।

हाथ-पैर हिलाकर और रोकर सभी को आनन्दित करता हुआ शिशु मानो निद्रा से जागकर इधर-उधर देखने लगा । इस प्रकार की अचिन्तनीय घटना देखकर जनता में आनन्द-उल्लास उत्पन्न हुआ । मृत शिशु बच गया इस अविश्वास्य घटना को देखने के लिए चारों ओर से अनेक मनुष्य आचार्य के दर्शनार्थ उपस्थित हो गये । शिशु के माता-पिता के पास कृतज्ञता प्रकट करने को

शब्द ही नहीं थे। वे बारम्बार झुक-झुककर आचार्य की चरण-धूलि लेने लगे। जनता भी आचार्य की ओर उमड़ पड़ी; परन्तु आचार्य निमीलित नेत्रों से भावस्थ होकर दण्डायमान थे।

शिशुपुत्र को गोदी में लिये ब्राह्मण-दम्पति के चले जाने के उपरान्त आचार्य धीरे-धीरे देवीदर्शन के लिए मन्दिर में गये। उनके हृदय में एक अपूर्व भाव उद्वेलित हो रहा था। वे आविष्ट की तरह भगवती की चरणवन्दना करके वहाँ गम्भीर ध्यान में मग्न हो गये। मृतक को जीवनप्रदान करने की घटना आचार्य की करुणा तथा परदुःखकातरता का एक महान् दृष्टान्त है। उन्होंने अलौकिक शक्ति दिखाने के लिए कुछ नहीं किया था। यहाँ भी वे यन्त्र मात्र हैं। लोकोत्तर महामानवों के जीवन में इस प्रकार की अनेक अलौकिक घटनाएँ हुआ ही करती हैं। वे नाम, यश या प्रतिष्ठा-लाभ के लिए कुछ नहीं करते। जीवदुःख से कातर होकर उनके हृदय में असीम करुणा का उदय होता है। महाजन लोग जीवभूमि में षडैश्वर्यशाली भगवान् के साथ एक होकर अवस्थान करते हैं। उनकी इच्छा भी भगवान् की इच्छा के साथ एक हो जाती है। इस कारण दिखायी पड़ता है कि लौकिक दृष्टि से जो अलौकिक प्रतीत होता है वह उनकी इच्छा मात्र से अनायास सम्पन्न हो जाता है। सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् के हाथ के यन्त्रस्वरूप होकर महापुरुष संसार का कल्याणसाधन करते हैं। उनके माध्यम से ही भगवान् की करुणा प्रवाहित होकर धरणी की मृत्तिका को पवित्र और धन्य करती है।

* * *

मृतक को जीवनदान! यह समाचार अति शीघ्र सर्वत्र फैल गया। उस अपूर्व योगी को देखने के लिए चारों ओर से अगणित

नर-नारियाँ मूकाम्बिका में आने लगीं। आचार्य का अनाड़म्बर जीवन देखकर और उनके श्रीमुख से अद्वैत-ब्रह्मात्मतत्त्व की सरल व्याख्या सुनकर लोग बहुत ही विस्मित हुए। वे जिस अद्वैत का उपदेश करते थे उसमें सभी मतवादों का समान स्थान था। विभिन्न मतों की साधना के भीतर से सभी साधक क्रमशः अद्वैतानुभूति ‡ में पहुँचेंगे। आरम्भ से ही अद्वैत-साधना कर सकें वैसे अधिकारी बहुत ही विरल होते हैं। दूसरी सभी साधनाएँ तथा उपासनाएँ अद्वैत में पहुँचने के सोपान मात्र हैं।

मूकाम्बिका पण्डितप्रधान स्थान है। वहाँ शारदापीठ प्रतिष्ठित है। स्थानीय पण्डितमण्डली को शास्त्रार्थ में पराजित करके उस पीठ में बैठने का अधिकार लाभ करना पड़ता था। परन्तु अब तक उस पीठ स्थान में बैठने का दुर्लभ सम्मान कोई भी प्राप्त नही कर सका था। दिग्विजयी शंकराचार्य के आगमन से स्थानीय पण्डितों में हलचल मच गयी। आचार्य के साथ शास्त्रार्थं करने के लिए पण्डितों ने उनका आवाहन किया। निमन्त्रित होकर आचार्य भी शारदापीठ में आये। लोगों की अपार भीड़ एकत्र हो गयी। दूर दूर स्थानों के पण्डित आकृष्ट होकर उस विचारसभा में आये। विशेष ठाटबाट के साथ शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। स्थानीय पण्डितगण

‡ अद्वैतवाद—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव सत्यज्ञानानन्दात्मक निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म ही एकमात्र सत्य पदार्थ है। अन्य जो कुछ है सभी सीपी में रजत की तरह उस ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अविद्या के द्वारा कल्पित है। जिसे सत् नहीं कहा जा सकता और असत् भी नहीं कह सकते इस प्रकार की जो अनिर्वचनीय भगवत्-शक्ति है उसी का नाम अविद्या है। निर्गुण ब्रह्मात्म-विज्ञान के फलस्वरूप निर्गुण ब्रह्मात्मक स्वस्वरूप की अभिव्यक्ति ही इस मत में मुक्ति है। उस समय अविद्या तथा उसके कार्यरूप प्रपंच का मिथ्यात्व निश्चित हो जाता है।

उस युवक संन्यासी से प्रश्न पूछने लगे। उन्होंने धीर भाव से सब के प्रश्नों का यथाशास्त्र उत्तर देकर सब को निरस्त कर दिया। पण्डितमण्डली पराजित होकर सिर झुकाये बैठी रही। उनका अहंकार दीनता में परिणत हो गया। इस समय पद्मपाद ने खड़े होकर कहा--"तो अब आचार्य पीठस्थान पर जा बैठें।"

पद्मपाद की बात सुनकर एक वृद्ध ब्राह्मण ने कहा--"मेरी एक परीक्षा बाकी है। यतिवर निश्चय ही सर्वज्ञ हैं। आशा है वे मेरे प्रश्न का उत्तर दे सकेंगे।"

प्रश्न पूछने का अनुरोध करने पर ब्राह्मण ने कहा--"इस सभा के किसी एक स्थान में मैंने एक लोहे की शलाका गाड़ रखी है। आचार्य मेरे हाथ के इस कंगन को इस ढंग से उस पर फेंकें कि वह शलाका इस कंगन के बीच में आ जाय।"

इतना कहकर ब्राह्मण ने वह कंगन आचार्य के हाथ में दे दिया। ब्राह्मण का यह प्रश्न सुनकर सब लोक अवाक् रह गये। यह तो कोई शास्त्रीय प्रश्न नहीं है, ऐसा लोगों ने सोचा।"

ब्राह्मण का उद्देश्य समझकर आचार्य अत्यन्त सहज भाव से बोले--"अच्छा वही होगा। आप ही की इच्छा पूर्ण हो।

कंगन हाथ में लेकर आचार्य कुछ क्षण तक ध्यानस्थ होकर बैठे रहे। अनन्तर आँख मूँदकर ही उस कंगन को ऊपर की ओर फेंक दिया। वह कंगन जहाँ गिरा वहाँ जाकर लोगों ने देखा कि उस कीलक को बीच में रखकर ही वह गिरा है। आचार्य की इस अलौकिक शक्ति के सामने सभी लोगों को सिर झुकाना पड़ा। पण्डितों ने आचार्य के चरणों में प्रणाम करके उन्हें शारदा-पीठ पर आरोहण करने का साग्रह अनुरोध किया।

स्थानीय लोगों के मन में परिवर्तन आ गया। वहाँ के लोगों

के आग्रह से आचार्य शंकर ने उस तीर्थ में और भी कुछ दिन तक रहकर शिष्यों तथा अनेक अनुचरों के साथ श्रीवेली की ओर प्रस्थान किया ।

नौ

श्रीवेली में लगभग दो सहस्र ब्राह्मण-परिवार रहते थे । सभी ब्राह्मण स्वधर्मनिष्ठ अग्निहोत्री तथा वैदिक कर्मों में विशेष पारंगत थे । आचार्य के आगमन के पहले ही मृत शिशु को प्राणदान तथा उनके सरस्वतीपीठ पर आरोहण का समाचार वहाँ पहुँच गया था। विशेषतया मीमांसक-प्रधान मण्डन मिश्र आचार्य के शिष्य रूप में आ रहे हैं इस कारण श्रीवेली के ब्राह्मणों ने देवोचित सम्मान से आचार्य का भव्य स्वागत किया । ग्राम के बीच में हरपार्वती का सुन्दर मन्दिर विद्यमान था । देवदर्शनानन्तर आचार्य एक अनुकूल स्थान में अवस्थित हुए । अनेक व्यक्ति उनके दर्शनों के लिए आने लगे । उनके मुख से अद्वैततत्त्व की व्याख्या सुनकर सब लोग मुग्ध हुए ।

प्रभाकर नामक एक शास्त्रज्ञ धार्मिक ब्राह्मण भी वहाँ रहते थे । उनका एकमात्र पुत्र था । तेरह वर्ष की अवस्था होने पर भी वह एकदम जड़वत् तथा गूँगा था, इस कारण ब्राह्मण-दम्पति के मन में शान्ति नहीं थी । अलौकिक शक्तिसम्पन्न शंकराचार्य के आगमन की बात सुनकर प्रभाकर के हृदय में विपुल आशा का संचार हुआ । फल-मिष्टान्न नैवेद्यसहित पुत्र को साथ में लिये वे आचार्य के दर्शनार्थ आये । उनकी एकमात्र कामना थी कि पुत्र के जड़त्व का मोचन हो जाय ।

जड़पुत्र आचार्य को देखकर उनके श्रीचरणों पर लोट गया। प्रभाकर ने भक्ति के साथ आचार्य को प्रणाम करके रोते हुए कहा--"देव, बताइये इस बालक के ऐसे जड़भाव का कारण क्या है? मैंने बहुत ही कष्ट से इसका यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न किया है; परन्तु यह बोलता ही नहीं है। अब तक इसका वर्णपरिचय भी नहीं हुआ। वेदादि का अध्ययन तो दूर की बात है। माता-पिता तक को भी यह नहीं पुकारता। भूख-प्यास भी प्रकट नहीं करता। आप दया के सागर हैं; कृपा करके इसे अच्छा कर दीजिये।" प्रभाकर की बात सुनकर आचार्य ने बालक से पूछा--

कस्त्वं शिशो कस्य कुतोऽसि गन्ता,
किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि ?
एतद् वद त्वं मम सुप्रसिद्धं
मत्प्रीयते प्रीतिविवर्धनोऽसि ।

--हे शिशु, तुम कौन हो, किसके पुत्र हो, कहाँ जा रहे हो, तुम्हारा नाम क्या है, कहाँ से आये हो, इन प्रश्नों का सुस्पष्ट उत्तर देकर मुझे प्रसन्न करो। तुम्हें देखकर मुझे विशेष आनन्द हो रहा है।

शंकराचार्य के प्रश्न को सुनकर बालक विशेष उत्फुल्ल हुआ। आचार्य के श्रीमुख पर दृष्टि निबद्ध करके मधुर कण्ठ से उसने उत्तर दिया—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ,
न ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राः ।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ।।‡

‡ यह प्रसिद्ध हस्तामलक स्तोत्र है। हम इस स्तोत्र का केवल अनुवाद ही यहाँ देते हैं—

शंकराचार्य के प्रश्न पर जन्म के गूंगे बालक के मुख से आत्म-स्वरूप-प्रकाशक श्लोकात्मक वाक्य सुनकर सब लोग स्तम्भित हो गये। आचार्य ने भी विस्मित होकर शिष्यों के प्रति कहा—"यह बालक अवश्य ही कोई ब्रह्मज्ञ पुरुष है, नहीं तो तत्त्वज्ञानपूर्ण ऐसी

मैं मनुष्य नहीं हूँ, देवता या यक्ष भी नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी नहीं, ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थी, संन्यासी भी नहीं, मैं केवल निजबोध-स्वरूप आत्मा हूँ। १॥

सूर्य जिस प्रकार लोकचेष्टा का कारण है उसी प्रकार जो मन, चक्षु आदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति का कारण है तथा सब प्रकार की उपाधियों से रहित आकाशतुल्य है, मैं ही वह नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ। २॥

अग्नि की उष्णता के समान नित्य चैतन्य ही जिसका स्वरूप है, जो निश्चल और अद्वितीय हैं, जिन्हें आश्रय करके जड़ प्रकृति तथा मन, चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने अपने कार्य में प्रवृत्त होती हैं, मैं वही नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ। ३॥

दर्पण में दृश्यमान मुखप्रतिबिम्ब जिस प्रकार यथार्थ वस्तु से पृथक् नहीं है उसी प्रकार बुद्धिदर्पण में जो आत्मप्रतिबिम्बरूप आभास-चैतन्य जीव नाम से कथित है, वह जिस ब्रह्म से अभिन्न है, मैं वही नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ। ४॥

दर्पण के अविद्यमान होने पर जिस प्रकार प्रतिबिम्ब अदृश्य होकर केवल कल्पनारहित एकमात्र सत्य मुख ही विद्यमान रहता है उसी प्रकार बुद्धि-वृत्ति के निरोध होने पर जो बिम्बरूप से अकेले वर्तमान रहता है वह बोध-स्वरूप आत्मा ही मैं हूँ। ५॥

मन, चक्षु आदि से रहित होने पर भी जो मन का मन और चक्षु का चक्षु है तथापि जो मन या चक्षु आदि इन्द्रियों के अगोचर है, मैं ही वह नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ। ५॥

जो अद्वितीय पुरुष निर्मल चित्त में स्वयं प्रकाशित होते हैं, विविध पात्रों के जल में प्रतिबिम्बित सूर्य की तरह जो प्रकाश-स्वरूप में अनेक बुद्धियों के

स्वरूप-वर्णना सम्भव नहीं होती। हाथ के आँवले की तरह इस बालक ने आत्मज्ञान प्राप्त किया है। यह स्तोत्र 'हस्तामलक' नाम से प्रसिद्ध होगा। तुम लोग भी आत्मस्वरूप-भासक इस स्तोत्र को कण्ठस्थ कर लो।"‡

भीतर विभिन्न रूप से प्रतीयमान होता है वही नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा मैं हूँ। ७ ॥

जिस प्रकार सूर्य एक साथ अनेक चक्षुओं में प्रकाश देकर प्रकाश्य वस्तुओं को भासित कर देता है तथा जो सारी बुद्धिवृत्तियों का एकमात्र प्रकाशक है वह नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा मैं ही हूँ। ८ ॥

जिस प्रकार सूर्यालोक से प्रकाशित होकर चक्षु रूप ग्रहण करने में समर्थ होता है उसी प्रकार सूर्य जिनकी ज्योति से प्रकाशित होकर चक्षु को भासित करता है मैं वही नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ। ९ ॥

एक ही सूर्य का प्रतिविम्ब जिस प्रकार स्थिर और चंचल जल में विभिन्न रूप से प्रतीयमान होता है उसी प्रकार जो एक होकर भी स्थिर और चंचल अनेक प्रकार की बुद्धियों में अनेक रूपों से प्रतीत होता है, मैं ही वह नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ। १० ॥

अति मूढ़ व्यक्ति, मेघ से दृष्टि आच्छन्न होने के कारण जिस प्रकार सूर्य को मेघाच्छन्न तथा प्रभाहीन समझता है उसी प्रकार जिन्हें मूढ़बुद्धि लोग बद्ध की तरह समझते हैं, मैं वही नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ। ११ ॥

जो सारे प्राणियों और वस्तुओं में व्याप्त है तथापि कोई वस्तु जिन्हें स्पर्श नहीं कर सकती, जो आकाश के समान सर्वदा शुद्ध और स्वच्छ-स्वरूप हैं, मैं ही वह नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ। १२ ॥

‡ अनेक जीवनीग्रन्थों में हस्तामलक स्तोत्र आचार्य-रचित रूप से उल्लिखित है। विशेषतया शंकरग्रन्थमाला में आचार्य-रचित ७५ स्तोत्रयुक्त ग्रन्थ में भी इस स्तोत्र को उन्हीं के द्वारा रचित मान लिया गया है। किसी ग्रन्थ में ऐसा भी लिखा है कि शंकराचार्य ने उस गूँगे बालक के मुख से इस स्तोत्र को सुनकर पद्मपाद से कहा था—"यह प्रसिद्ध हस्तामलक स्तोत्र

अत्यन्त प्रसन्न होकर आचार्य ने बालक को आशीर्वाद देकर प्रभाकर से कहा—"हे ब्राह्मण! यह पुत्र आपके घर में रहने के योग्य नहीं है। पूर्वजन्म के शुभ कर्म तथा तप के फलस्वरूप यह बालक ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित हुआ है। इसी कारण यह लौकिक बातें नहीं कहता, केवल प्रारब्ध-क्षय के लिए शरीर में अवस्थान कर रहा है। इसे अपने शरीर में अहंबुद्धि नहीं है। सांसारिक सम्बन्ध और माता-पिता का ज्ञान कैसे रहेगा? बालक जानता है कि वह चिदानन्दस्वरूप है। इसके द्वारा आप लोगों का कोई भी प्रिय कार्य साधित नहीं हो सकता। आप इस बालक को मेरे पास छोड़ जायें।"

प्रभाकर ऐसे प्रस्ताव के लिए तैयार नहीं थे। वह स्तब्ध ही रहे। पुत्र यदि गूँगा हो या जड़, तो भी वह पुत्र ही है। अपत्य-स्नेह से उनका हृदय अभिभूत हो गया और एक लम्बी साँस छोड़ते हुए उन्होंने कहा—"देव, आप ने जो कुछ भी कहा है सभी ठीक है तथापि एकमात्र पुत्र को छोड़कर रहना कैसे सम्भव होगा? इसे मैं सोचकर निश्चय नहीं कर सकता। फिर इसके अतिरिक्त इसकी जननी तो पुत्रगतप्राण ही है। उन्हें सब बातें बतलाऊँगा।"

है। निर्गुण ब्रह्मोपासकों के लिए यह अत्यन्त आदर की वस्तु है। वे इसकी आवृत्ति किया करते हैं।" इस बात से भी प्रतीत होता है कि यह शंकर-रचित नहीं हैं, कोई पुरातन स्तोत्र है। आचार्य ने इस स्तोत्र की टीका भी की है। स्वरचित किसी दूसरे स्तोत्र की उन्होंने टीका की है ऐसा ज्ञात नहीं।

ऐसा भी हो सकता है कि उस बालक के मुख से स्वरूपप्रकाशक तत्त्व-ज्ञानपूर्ण वाक्यों को सुनकर शंकराचार्य ने प्रसन्न होकर उसके वाक्यों के अवलम्बन से शुद्धाद्वैतभावप्रकाशक इस स्तोत्र की रचना की थी। इस कारण यह स्तोत्र उन्हीं के नाम से चला आ रहा है।

प्रभाकर आचार्य के चरणों को अपने सिर पर धारण कर प्रणाम करते हुए पुत्र को लेकर चले गये। बालक की जननी सारा विवरण सुनकर बार बार पुत्र का मुख चूमने लगी। पुत्र से उन्होंने माँ शब्द पुकारने के लिए कहा, परन्तु बालक ने मुँह नहीं खोला। तब पुत्र के भावी विरह की चिन्ता से माता व्याकुल होकर विलाप करने लगी।

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रभाकर पत्नी-पुत्र के साथ आचार्य के समीप आये। ब्राह्मणी आचार्य के चरणयुगल पर सिर रखकर रुदन करते हुए केवल यही प्रार्थना करने लगी—"यतिराज, आप कृपा करके मेरे पुत्र को प्रकृतिस्थ कर दीजिये। आपकी कृपा से सभी सम्भव है। मृत जीवित होता है। एकमात्र पुत्र को छोड़कर मैं अकेली कैसे रहूँगी? मेरी गोद खाली करके आप इसे ले जाने की इच्छा न करें। इसे अच्छा कर दीजिये।"

ब्राह्मणी का व्याकुल क्रन्दन सुनकर आचार्य का हृदय करुणा से द्रवीभूत हो गया। उन्होंने अत्यन्त मधुर सान्त्वना के स्वर में ब्राह्मणी से कहा—"माता, आप शान्त हो जायें। पुत्र के लिए वृथा शोक न करें। आपके पुत्र के शरीर में एक सिद्धयोगी निवास करते हैं। इसी कारण आप कभी इस पुत्र को गार्हस्थ्य धर्म के पालन में व्रती नहीं कर सकेंगी।"

ब्राह्मण-दम्पति आचार्य की बात सुनकर बहुत ही विस्मित हुए। वे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर आचार्य की ओर ताकते रह गये। तब आचार्य ने उन दोनों की पूर्वस्मृति जागृत करके कहा—"स्मरण कीजिये, इस बालक की अवस्था जब केवल दो वर्ष की थी तो एक दिन आप दोनों यमुना में स्नान करने गये थे। यमुना-तट पर एक ध्यानस्थ योगी की कुटी में अपने शिशु पुत्र को रख-

कर आप लोग नहाने लगे । इधर शिशु खेलते-खेलते नदी में गिर-कर मर गया । आप मृत पुत्र को गोदी में लिए रोते हुए योगी के पास आये । आप लोगों के रुदन से योगी के हृदय में करुणा का संचार हुआ । उन्होंने योगबल से मृत बालक के शरीर में प्रवेश किया । बालक जी उठा । आप लोग आनन्द से पुत्र के साथ घर लौट आये । वे ही सिद्धपुरुष इस बालक के शरीर में निवास कर रहे हैं । इस कारण यह बालक पूर्ण ज्ञानी है । इसे आप गृहस्थ नहीं बना सकेंगे ।"

आचार्य की बात सुनकर ब्राह्मण-दम्पति को वह घटना स्मरण हो आयी । बालक ने भी उस समय अपनी जननी को सम्बोधित करते हुए कहा—"माता, मेरा परिचय तो आपने पा ही लिया, तो फिर मुझे गृहस्थी में क्यो आबद्ध करने की चेष्टा कर रही हैं ? मुझे आचार्य के पास ही रहने के लिए प्रसन्न चित्त से आज्ञा दीजिये । मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप शीघ्र ही एक सुपुत्र की जननी हो सकेंगी । मेरी प्रार्थना व्यर्थ नहीं होगी ।"

सारी घटना ब्राह्मण-दम्पति के सामने स्वप्न की तरह प्रतीत हुई । उन्होंने विधि का विधान जानकर सब मान लिया । आचार्य ने भी सान्त्वना द्वारा उनके हृदय को शान्त किया । आचार्य को प्रणाम करके ब्राह्मण-दम्पति उदास भाव से घर लौट गये ।

आचार्य ने बालक को यथाशास्त्र संन्यास-मन्त्र में दीक्षित किया । उसका नाम हस्तामलकाचार्य हुआ । अब वह बालक जड़ नहीं रहा । उसका गूंगापन छूट गया । ब्रह्मज्ञान की दीप्ति से उसका मुखमण्डल उद्भासित हुआ । उसके मुख से अब आत्म-ज्ञान की ही बात निकलने लगी । आचार्य के प्रधान चार शिष्यों

में हस्तामलक अन्यतम थे ।

* * *

श्रीवेली का कार्य समाप्त करके आचार्य अब श्रृंगेरी की ओर चलने लगे । पार्वत्य नदी की गति के समान सारी विघ्न-बाधाओं का अतिक्रमण कर सामने के प्रस्तर-स्तूप को कक्षच्युत करके अपना पथ निर्माण तथा सनातन वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए आचार्य आगे बढ़ने लगे ।

दुःख-दुर्दशा से जर्जरित, संशय और अविश्वास से पीड़ित, आकांक्षा और अहंकार से अभिभूत आर्त व्यक्तियों के हृदय में सान्त्वना का अमृतसिंचन तथा आशा एवं आनन्द की वार्ता घोषित करते हुए आचार्य "आनन्दरूपममृतम् यद्विभाति"— उस भूमानन्द का मार्ग दिखाते हुए चलने लगे ।

श्रृंगेरी के मार्ग में भी उन्होंने अनेक नर-नारियों को धर्मोपदेश दिया । विभिन्न मतावलम्बियों से शास्त्रविचार हुआ । अब शंकराचार्य अकेले नहीं चल रहे थे, सहस्रों मनुष्य उनके साथ हो गये । वे विजयी वीर के समान अग्रसर हो रहे थे । सभी जगह उन्हें विजय-संवर्धना मिलती गयी ।

आठ वर्ष की अवस्था में गृहत्याग कर दण्ड-कमण्डलु हाथ में लिये जब शंकराचार्य केरल देश से गुरु गोविन्दपाद की खोज में चले थे तब रास्ते में वे श्रृंगेरी या श्रृंगगिरि में पधारे थे । वह स्थान उन्हें बहुत ही अच्छा लगा था । उस स्थान के प्राकृतिक सौन्दर्य, गम्भीर परिवेश तथा निबिड़त्व ने उनके मन में प्रभाव स्थापित कर दिया था । विशेष रूप से विषधर सर्प और मण्डूक के एक साथ रहने का दृश्य उस स्थान के उच्च आध्यात्मिक वातावरण का परिचायक है, उन्हें ऐसी ही प्रतीति हुई थी ।

खोज करके प्राचीन युग के ऋषिप्रवर शृंग मुनि का आश्रम देखकर उनकी यह धारणा और भी बद्धमूल हुई। साधना के अनुकूल उस स्थान में भविष्य में एक मठ स्थापित करने का संकल्प उनके मन में उठा था या नहीं इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

* * *

सशिष्य आचार्य शृंगेरी में आ रहे हैं यह समाचार पाकर स्थानीय चालुक्य राजा ने उनका यथायोग्य स्वागत करने के लिए अपने कर्मचारियों को आज्ञा दी। शृंगेरी प्राकृतिक शोभासमृद्ध पार्वत्य प्रदेश है। तुंग और भद्रा नदियों के मिलन से तुंगभद्रा नदी बनी थी। उस पार्वत्य नदी ने नीचे प्रवाहित होकर शृंगेरी को और भी माधुर्यमण्डित किया था। आचार्य के शिष्यगण उस मनोहर, निर्जन स्थान में आकर विशेष आनन्दित हुए। तपोभूमि-सदृश उस स्थान में आचार्य ने कुछ दिन रहने की इच्छा प्रकट की। थोड़े ही सयय मे राजकर्मचारियों ने साधुओं के रहने के लिए बहुतसी कुटियाँ बनवा दीं।

शृंगेरी में शंकराचार्य के रहने का समाचार सुनकर आसपास के अनेक स्थानों से मुक्ति-आकांक्षी, शास्त्रानुरागी ब्राह्मण तथा साधक वहाँ एकत्र होने लगे। थोड़े ही दिनों में वह स्थान साधक-जनपद में परिणत हुआ। शंकराचार्य अपने स्वरचित भाष्य आदि तथा अन्याम्य आध्यात्मिक शास्त्र की व्याख्या करके एवं धर्म तथा साधन का उपदेश देकर लोगों के धर्मजीवन गठित करने के कार्य में व्रती हुए। आचार्य के शिष्यों में विशेष रूप से पद्मपादाचार्य तथा सुरेश्वराचार्य की अतीन्द्रिय अनुभूति तथा गम्भीर पाण्डित्यपूर्ण जीवन ने भी अनेक मनुष्यों की श्रद्धा आकृष्ट

की थी। उनके हृदय में धर्मशिक्षाप्रदान तथा प्रचार-प्रवणता देखकर आचार्य ने भी उन्हें धर्मप्रचार के लिए आज्ञा दी। अनेक धर्मपिपासु व्यक्ति उनके शिष्य हुए तथा शम, दम, तितिक्षा, उपरति आदि के अभ्यास के साथ ध्यान, धारणा और समाधि-लाभ की चेष्टा करने लगे।

क्रमशः वहाँ मन्दिर और मठ तैयार हो गये। आचार्य ने स्वयं श्रीयन्त्र की स्थापना कर मन्दिर का प्रतिष्ठाकार्य समाप्त किया। शतयुगों का स्थायित्व लेकर संसार के कल्याण के लिए आचार्य की विशेष इच्छा से श्रृंगेरी मठ स्थापित हुआ। मठस्थापनरूप गुरुतर दायित्व के विषय में आचार्य बहुत ही सावधान थे। सनातन वैदिक धर्म को विश्वधर्म के प्रकाशस्तम्भ रूप से रूपायित करने की उनकी गठनमूलक परिकल्पना देखकर हम विस्मयमुग्ध होते हैं। मठ के उच्च आदर्श को और भी उज्ज्वल करके त्याग, तपस्या, स्वाध्याय और साधना के माध्यम से लोगों का धर्म-जीवन गठन करने के लिए वे विशेष प्रयत्न करने लगे। साथ ही शिष्यों की शिक्षा और धर्मजीवन-यापन में सहायक होने की इच्छा से आचार्य ने क्रमशः विवेकचूड़ामणि, अपरोक्षानुभूति, दृग्दृश्यविवेक, अज्ञानबोधिनी, बोधसार, आत्मबोध, वेदान्तकेशरी, ललितत्रिशती-भाष्य, प्रपंचसार, आत्मानात्मविवेक, मोहमुद्गर, सर्वदर्शनसिद्धान्त आदि उपदेशपूर्ण तथा विवेकवैराग्योद्दीपक अनेक अमूल्य ग्रन्थों की रचना की।

शंकराचार्य की श्रृंगेरी मठस्थापना अनेक दृष्टिकोणों से जगत् के आध्यात्मिक इतिहास में एक विशेष महत्त्व की घटना है। वैदिक धर्म के धारक तथा वाहक रूप से आचार्य ने जिस संन्यासी-सम्प्रदाय का गठन किया था उससे सनातन हिन्दू धर्म में विपुल

बलाधान हुआ तथा हिन्दू धर्म के स्थायित्व के विषय में प्रभूत सहायता भी मिली। विभिन्न जातियों और धर्मों में परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप वर्तमान समय का कोई भी धर्म या मतवाद जाति या देशविशेष की निजी सम्पत्ति नहीं है। परन्तु विभिन्न धर्म-निर्दिष्ट सत्य और साधना के मिश्रण से एक उदार और विराट् विश्वधर्म के अभ्युदय की सूचना चारों ओर दिखायी पड़ने लगी। आचार्य शंकर द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद का अवदान भी उस विश्वधर्म में कम नहीं है। अद्वैतवेदान्त में संसार के सभी धर्मों का स्थान है। केवल यही नहीं, संसार के सभी धर्म अद्वैतवादरूप महीरुह की विभिन्न शाखाएँ हैं और अद्वैतज्ञान में ही समस्त साधनाओं की परिसमाप्ति है। अद्वैत-वेदान्त के साथ अन्य किसी धर्म या मतवाद का विरोध नहीं है। अद्वैत बुद्धि में ही समस्त विरोधों का समाधान हो जाता है।

* * *

श्रृंगेरी में रहते समय गिरि (मतान्तर में आनन्दगिरि) नामक एक ब्राह्मण-युवक आचार्य का शिष्य हुआ। गिरि विशेष पढ़ा लिखा नहीं था। परन्तु वह सुकुमार शुद्धचेता युवक प्रथम दिन से ही एकनिष्ठ भाव से गुरुसेवा में व्रती हुआ। शास्त्र का कहना है कि गुरुसेवा से ही शिष्य को चतुर्वर्ग का लाभ होता है। गुरुसेवा के साथ साथ शुद्धहृदय गिरि दूसरे संन्यासी भाइयों की सेवा में भी विशेष रूप से संलग्न रहता था। थोड़े ही दिनों में वह प्रियदर्शी, विनीत और मिष्टभाषी गिरि सब का, विशेष रूप से आचार्य का परम प्रियपात्र हुआ। छाया की भाँति वह सदैव ही गुरुदेव के निकट बना रहता था।

आचार्य के शिष्यों ने विविध प्रकार के पाण्डित्य का अर्जन किया

था। शास्त्रव्याख्या और विचार-नैपुण्य में वे आचार्य के योग्य ही शिष्य हुए थे। उस ओर से गिरि दूसरे शिष्यों के सामने खड़े होने की योग्यता भी नहीं रखता था; किन्तु गिरि की निष्ठा अतुलनीय थी। गुरुदेव जब शिष्यों को अध्यात्मशास्त्र पढ़ाते थे तब गिरि श्रद्धायुक्त होकर गुरु के पास बैठकर, ध्यानपूर्वक सब कुछ सुना करता था। कभी उसमें व्यतिक्रम नहीं होता था।

एक दिन गिरि निकट की नदी में गुरुदेव के वस्त्र धो रहा था। इधर आचार्य के अध्यापन का समय आ गया। शिष्य लोग इकट्ठे हो गये। उन्हें शान्तिपाठ करने में उद्यत देखकर आचार्य ने कहा—"थोड़ी प्रतीक्षा करो, गिरि अभी आता होगा।"

जब कुछ देर तक प्रतीक्षा करने पर भी गिरि नहीं लौटा, तो पद्मपाद ने कहा—"क्या गिरि आपकी शास्त्रव्याख्या समझ सकता है?"

आचार्य ने कहा—"गिरि समझ नहीं सकता, यह सत्य है; परन्तु वह बहुत ही श्रद्धा के साथ एकाग्र होकर सब कुछ सुनता है।"

उधर नदी में कपड़े धोते हुए गिरि को अनुभव हुआ मानो गुरुदेव उसके प्रति प्रसन्न दृष्टि से देखते हुए आशीर्वाद दे रहे हैं। उसका अन्तःकरण एक दिव्य प्रकाश से उद्भासित हो उठा। उसे ऐसा लगा मानो वह सब विद्याओं का अधिकारी हो गया है। उसका सम्पूर्ण अन्तःकरण एक अनिर्वचनीय आनन्द से भर गया। गिरि एकदम अभिभूत-सा हो गया।

गुरुदेव के वस्त्र धोकर लौटते समय उसके मन में ऐसा भाव आने लगा कि उसके सारे चिन्तन छन्दोबद्ध होकर कविता के रूप में अभिव्यक्त हो रहे हैं। भावाविष्ट की तरह कविता की आवृत्ति करते हुए गिरि ने गुरु के समीप आकर उनकी चरणवन्दना की।

उस समय भी उसके मुख से विभिन्न छन्दों में बद्ध अविराम श्लोक निकल रहे थे। ‡ निरक्षर गिरि के मुख से गम्भीर अध्यात्मतत्त्वपूर्ण इस प्रकार के विशुद्ध श्लोक सुनकर अन्य शिष्य अवाक् रह गये। आचार्य ने गिरि को अनेक आशीर्वाद देकर सस्नेह अपने पास बिठाया। गिरि का अन्त:करण उस समय एक अनिर्वचनीय दिव्य आनन्द से परिपूर्ण था। सभी को ज्ञात हो गया कि गुरु की कृपा से ही गिरि इस प्रकार अमूल्य विद्यासम्पत्ति का

---

‡ गिरि के मुख से गुरुशिष्यसंवादरूप अति सुललित द्वादशाक्षरी; तोटक छन्द में रचित परमार्थतत्त्व-व्यंजक कविता का अनुवाद यहाँ दिया जाता है—

शिष्य—जन्म-मरण जिस समुद्र का जल है, सुख-दु:ख जिस समुद्र की मछलियाँ हैं, हे भगवन्, उस भवसमुद्र में गिरकर मैं दु:ख भोग रहा हूँ। अनन्यगति होकर मैंने आपकी शरण ली है। कृपापूर्वक इस शरणागत का उद्धार कीजिये। मुझे उपदेश दीजिये।

गुरु—विषयासक्ति ही सर्व दु:खों का कारण है। विषयासक्ति पर विजय पाकर इस मायामय शरीर में आत्मबुद्धि का त्याग करो तथा परमात्मपद में सदा अनुरक्त रहो। हे तत्त्वपिपासु, मोहजनित भ्रम का परित्याग करो। १।

अन्नमय आदि पाँच कोषों में 'मैं और मेरा' बोध छोड़कर हृदय में स्थित गुणातीत अज अनन्त चित्स्वरूप में ही सदा 'मैं हूँ' ऐसे बोध का आरोप करो। २।

जल के अनेकत्व से जिस प्रकार सूर्य का अनेकत्व प्रतीत होता है अथवा घटादि के बहुत्व से जिस प्रकार आकाश का बहुत्व अनुभूत होता है तुम्हारा बहुत्वज्ञान भी उसी प्रकार बुद्धिभेदजनित है, क्योंकि तुम स्वयं सदा निर्विकार और मन-बुद्धि के द्रष्टारूप हो। ३।

सूर्यालोक की तरह तुम स्वयं अविकृत रहकर अपने चैतन्यगुण द्वारा मनुष्य की चित्तस्थित सभी बातों का ज्ञान लेते हो। अत: तुम प्रतिक्षण अपने को आत्मस्वरूप जानना। ४।

अधिकारी हो गया है। शृंगेरी के सभी निवासियों के मुख से इस आश्चर्यपूर्ण घटना की बात प्रसारित होने लगी।

एक शुभ मुहूर्त में आचार्य शंकर ने गिरि को संन्यासमन्त्र में दीक्षित किया। उनका नाम दिया गया तोटकाचार्य।

* * *

ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखना शंकराचार्य के जीवन में एक प्रधान कार्य था। वेदान्तसूत्र या शारीरकसूत्र ब्रह्मसूत्र के ही नामान्तर हैं। इस ब्रह्मसूत्र में, विशेष रूप से जीव के बन्धन और मोक्षलाभ की दार्शनिक मीमांसा लिपिबद्ध है। वेदव्यास-रचित ब्रह्मसूत्र छोटे छोटे सूत्रों के रूप में लिखा गया था। अतः सामान्य व्यक्तियों के लिए उन सूत्रों का अर्थ समझना बहुत ही कठिन बात है। भाष्य की सहायता के बिना उन सूत्रों का रहस्य जानना असम्भव-सा है।

शंकराचार्य के पहले यद्यपि बोधायनाचार्य आदि अनेक विद्वानों ने ब्रह्मसूत्र की भाष्य-रचना की थी और बाद में भी रामानुजाचार्य*, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि पण्डितों ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य लिखे तथापि आचार्य-रचित शारीरकसूत्र-भाष्य ग्रन्थ अनेक दृष्टिकोण से अपने श्रेष्ठ अधिकारयुक्त आसन पर आसीन है। यह सूत्रभाष्य केवल अद्वैत-ब्रह्मात्मतत्त्व की दार्शनिक व्याख्या तथा तद्विषयक एक प्रामाणिक ग्रन्थ ही नहीं है; वरन् उस भाष्य में परमार्थतत्त्व तथा जीवतत्त्व के अति उच्चांग दार्शनिक विचार के अतिरिक्त न्याय, वैशेषिक, सांख्य † तथा बौद्ध दर्शनशास्त्रों

---

* रामानुजकृत श्रीभाष्य में उल्लेख है—"भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः"—भगवान् बोधायनकृत विस्तृत ब्रह्मसूत्रवृत्ति को ही पूर्वाचार्यों ने संक्षिप्त किया था।

† न्यायदर्शन के प्रणेता गौतम मुनि हैं। इनका दूसरा नाम था,—

के अतिसूक्ष्म विचार भी निबद्ध हैं। इस कारण वह सूत्रभाष्य भी एक गम्भीर पाण्डित्यपूर्ण विस्तृत दार्शनिक ग्रन्थ है। ब्रह्मसूत्र की तरह वह सूत्रभाष्य भी साधारण मनुष्य समझ नहीं सकते।

हमने पहले ही देखा है कि स्वयं वेदव्यास ने उत्तरकाशी में आकर तथा शंकराचार्य को दर्शन देकर उनका आयुष्यकाल और भी सोलह वर्ष बढ़ा दिया था। साथ ही कुमारिल भट्ट को शास्त्रार्थ में पराजित कर उनसे शंकर-रचित सूत्रभाष्य के वार्तिक लिखाने की आज्ञा दी थी।

अक्षपाद। इस दर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ स्वीकृत हैं। ईश्वर की कृपा से इन सोलहों पदार्थों का तत्त्वज्ञान लाभ होने पर आत्मविषयक श्रवण, मनन और निदिध्यासन के क्रम से आत्मसाक्षात्कार होने पर देहादि में आत्मज्ञानरूप मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है और उस मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने पर राग, द्वेष, मोह रूप दोष की परिसमाप्ति होती है। दोष निवृत्त होने से प्रवृत्ति अर्थात् धर्म व अधर्म को निवृत्ति हो जाती हे। धर्माधर्म की निवृत्ति होने से जन्म निवर्तित हो जाता हे और जन्म न होने से पुनः दुःख की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मुक्ति सिद्ध होती है। गौतमसंहिता के रचयिता गौतम मुनि और न्यायदर्शन-प्रणेता गौतम मुनि एक ही व्यक्ति हैं या नहीं, कहना कठिन है।

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ऋषि हैं जिनका एक नाम उल्लूक भी था। इस कारण इस दर्शन को उल्लूक्य दर्शन नाम से भी अभिहित करते हैं। वे खेतों में से अन्न के दाने चुनकर खाते थे इसी से उनका नाम कणाद पड़ा है। इस मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव---ये सात पदार्थ स्वीकृत हैं। पदार्थ को तत्त्व भी कहते हैं। इन सात पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से उन पदार्थों

उसी के अनुसार आचार्य, कुमारिल भट्ट के पास आये थे। किन्तु भट्टपाद उस समय गुरुवध के प्रायश्चित्तरूप तुषानल में प्रवेश कर गये थे। इस कारण, उनके साथ आचार्य का शास्त्रार्थ नहीं हो सका। किन्तु शरीर छूटने के पहले उन्होंने आचार्य से कहा था कि उनके प्रधान शिष्य मण्डन मिश्र को यदि शास्त्रार्थ में पराभूत कर सकें तो उनके द्वारा सूत्रभाष्य के वार्तिक की रचना हो सकती है। मण्डन मिश्र शास्त्रार्थ में पराजित होकर आचार्य के शिष्य हुए, यह हम पहले ही देख चुके हैं।

शृंगेरी में आने पर आचार्य के मन में उस वार्तिक-रचना की बात उठी। उन्होंने एक दिन मण्डन मिश्र अर्थात् सुरेश्वराचार्य को बुलाकर कहा—"बेटा! सूत्रभाष्य की वार्तिक-रचना के विषय में भगवान् वेदव्यास ने मुझे बताया था। मेरी इच्छा है कि तुम सूत्रभाष्य के वार्तिक की रचना करो।" *

का विवेकज्ञान होता है। उस विवेकज्ञान के द्वारा वैशेषिक शास्त्र के अनुसार गम्भीर मनन से आत्मा और अनात्मा का विवेकज्ञान उत्पन्न होता है। अनन्तर, निदिध्यासन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार लाभ होने से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मुक्ति मिलती है। संक्षेप में वैशेषिक दर्शन का यही सार है। कणाद-दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व का विशेष उल्लेख नहीं है। इस कारण बहुतसे दार्शनिक कणाद को नास्तिक भी कहते हैं।

सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल मुनि हैं। इस शास्त्र में प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पंच तन्मात्राएँ, एकादश इन्द्रियाँ, पाँच स्थूल भूत तथा पुरुष ये पचीस तत्त्व या पदार्थ माने गये हैं। आचार्य से सांख्य-शास्त्र का उपदेश सुनकर मनन और निदिध्यासन करते रहने से प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान होने पर विविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति-रूप मोक्ष प्राप्त होता है। सांख्य के मत में ईश्वर का प्रतिपादन नहीं है। उस मत के किसी किसी आचार्य ने ईश्वर को स्वीकार भी किया है।

* जिस व्याख्या में भाष्य के गुण-दोषों का विचार किया जाता है

आचार्य की बात सुनकर सुरेश्वराचार्य ने बहुत विनयपूर्वक कहा—"देव, आपके द्वारा रचित सूत्रभाष्य के वार्तिक की रचना करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है तथापि मैं आपका आदेश पालने की यथाशक्ति चेष्टा करूँगा।"

आचार्य ने भी 'एवमस्तु' कहा और शिष्य को आशीर्वाद देकर विदा किया।

श्रीगुरुदेव के आदेशानुसार सुरेश्वराचार्य गम्भीर एकाग्रता के साथ वार्तिक-रचना में प्रवृत्त हुए। यह समाचार क्रमशः अन्य शिष्यों में भी प्रचारित हो गया। अनेक के मन में इस कार्य के फलाफल के विषय में विशेष चिन्ता उत्पन्न हुई।

पद्मपाद और उनके शिष्यों ने सोचा कि सुरेश्वराचार्य मीमांसक थे। बहुत थोड़े ही दिन हुए वह संन्यासी हुए हैं। अतः उस भाष्यवार्तिक में सम्भवतः कर्मकाण्ड की ही प्रधानता स्थापित करेंगे। इतना ही नहीं, वार्तिक में सम्भवतः वे मीमांसाशास्त्र ‡ की

उसे वार्तिक कहते हैं और टीका, भाष्य की दार्शनिक व्याख्या मात्र है।

कुमारिल भट्ट से सूत्रभाष्य के वार्तिक की रचना कराने की आज्ञा व्यासदेव ने दी थी।... कुमारिल भट्ट ने अपने प्रधान शिष्य मण्डन मिश्र को ही वार्तिक-रचना का योग्यतम व्यक्ति बताया था। आचार्य शंकर ने भी मण्डन के ऊपर सूत्रभाष्य की वार्तिक-रचना का भार सौंपा था।... किन्तु अन्त तक वह वार्तिक-रचना हुई ही नहीं...। व्यासदेव की इच्छा फलीभूत नहीं हुई यह बहुत ही विस्मय का विषय है और या तो वार्तिक-रचना के सम्बन्ध में व्यासदेव की आज्ञा आदि सब बातें कल्पना मात्र हैं।

‡ पूर्वमीमांसा दर्शन के प्रवर्तक जैमिनि ऋषि थे। इस मत में ईश्वर को अस्वीकार किया गया है। परन्तु इस मत के अनुयायियों में कोई कोई ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार भी करते हैं। मीमांसकों के मत से

श्रेष्ठता इतने अधिक परिमाण में प्रतिपादित करेंगे जिससे सूत्रभाष्य का मर्मार्थ सम्भवतः विकृत और उसकी मर्यादा बाधित हो जाय। विशेषतया पद्मपाद के शिष्यों के मन में ऐसा विचार उत्पन्न होने लगा कि वार्तिक-रचना में उनके गुरुदेव ही योग्यतम व्यक्ति हैं।

क्रमशः इस प्रकार की चर्चा आचार्य के कानों में पहुँची तो इससे उन्हें विशेष चिन्ता होने लगी। वार्तिक-रचना में इस प्रकार की बाधा को उन्होंने भवितव्य समझकर मान लिया। एक दिन सुरेश्वराचार्य को वार्तिक-रचना के सम्बन्ध में दूसरे शिष्यों में जो चर्चा चल रही थी, उसे एकान्त में बताकर कहा—"बेटा, अब तुम सूत्रभाष्य के वार्तिक की रचना मत करो। पहले तुम अद्वैत-सिद्धान्त के विषय में तत्त्वज्ञानपूर्ण ऐसा एक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखो जिसे पढ़कर उन शिष्यों के हृदय में जो अमूलक सन्देह उत्पन्न हुआ है, वह दूर हो जाय।"

आचार्य को प्रणाम करते हुए मौन सम्मति जताकर सुरेश्वराचार्य चले गये। फिर आचार्य ने पद्मपाद को बुलाकर कहा—"देखो, अनेक की इच्छा है कि तुम सूत्रभाष्य के ऊपर वार्तिक की रचना करो; किन्तु मेरा यह विचार है कि तुम वार्तिक की रचना न करके भाष्य की टीका लिखो। उसी में तुम अपना वक्तव्य प्रकट करना।

आचार्य की आज्ञा से पद्मपादाचार्य टीका-रचना में प्रवृत्त हुए।

कर्म के कारण ही जन्म तथा आत्मा का बन्धन होता है। काम्य और निषिद्ध कर्मों के वर्जनपूर्वक नित्यकर्म के अनुष्ठान तथा आत्मा की उपासना करने से प्रारब्ध भोगान्तर में समस्त कर्मों की निवृत्ति होने से अन्य प्रचेष्टा-निरपेक्ष आत्मा की स्वरूप में अवस्थितिरूप मुक्ति सिद्ध होती है।

इधर गुरुदेव के आदेश से सुरेश्वराचार्य ने थोड़े ही दिनों में सुललित भाषा में नैष्कर्म्यसिद्धि नामक गम्भीर तात्पर्य तथा युक्ति-पूर्ण ब्रह्मात्मविज्ञान के सम्बन्ध में एक प्रामाणिक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना कर आचार्य को समर्पित कर दिया। शंकराचार्य उस ग्रन्थ को एकाग्र चित्त से आद्योपान्त पढ़कर चमकृत हुए। सुरेश्वराचार्य के अगाध पाण्डित्य, विषयवस्तु का गम्भीर ज्ञान, अपूर्व रचना-कौशल, भावानुसारी वाक्य-विन्यास, अकाट्य युक्तियों के द्वारा पूर्वपक्षों का खण्डन, प्रकाशभंगी तथा अपने सिद्धान्त-स्थापन की विपुल शक्ति ने उन्हें मुग्ध कर दिया। 'नैष्कर्म्यसिद्धि' ग्रन्थ को पढ़कर आचार्य इतने अधिक प्रसन्न हुए कि एक दिन सुरेश्वराचार्य को बुलाकर कहा—"तात सुरेश्वर, तुम्हारा ग्रन्थ पढ़कर मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ। तुम सूत्रभाष्य का वार्तिक-रचना नहीं कर सके इस कारण दुःख न करो। तुम मेरे द्वारा रचित तैत्तिरीय और बृहदारण्यक उपनिषद्भाष्यों पर वार्तिक की रचना करो और नैष्कर्म्यसिद्धि के समान 'ब्रह्मसिद्धि' और 'इष्टसिद्धि' नामक और भी दो ग्रन्थ लिखो। उसी से संसार में तुम्हारी कीर्ति अमर रहेगी।"

सुरेश्वराचार्य गुरुदेव के अशेष स्नेह तथा असीम कृपा से अभिभूत हो गये। उन्होंने गुरुदेव की चरणधूलि मस्तक पर धारण कर आनन्दगद्गद कण्ठ से कहा—"देव, आपका आदेश मैं सर्वान्तःकरण से पालन करने की चेष्टा करूँगा। संन्यासग्रहण के दिन से आपकी चरणसेवा तथा सान्निध्य-लाभ के अतिरिक्त मेरे मन में और कोई भी इच्छा नहीं है। हे भगवन्, आपका अद्वैत-तत्त्वोपदेश श्रवण करने से हृदय अमृतरस में आप्लुत हो जाता है। मैं अपने को कृतार्थ मानता हूँ। जीवन रहते आपके ऋण का

परिशोध मैं नहीं कर सकूंगा।"

सुरेश्वराचार्य के चले जाने पर आचार्य ने शिष्यों को बुलाकर नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रन्थ का पाठ करने का आदेश दिया। उस ग्रन्थ को पढ़कर सभी मुग्ध हुए तथा सुरेश्वराचार्य के पाण्डित्य एवं ज्ञान-निष्ठा के सम्बन्ध में अब किसी को कोई भी संशय नहीं रहा।

वेदान्त के बहुल प्रचार के लिए आचार्य ने अपने सभी शिष्यों को निर्देश दिया--"तुम लोग सभी अपनी शक्ति के अनुसार अद्वैतज्ञान-मूलक विभिन्न ग्रन्थों की रचना करो।" शिष्य लोग भी परमात्मज्ञानविषयक अन्यान्य ग्रन्थों की रचना में प्रवृत्त हुए। बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदों के भाष्यों की प्रचलित टीकाओं की रचना आचार्यशिष्य आनन्दगिरि ने की। ‡

पद्मपाद ने सूत्रभाष्य की टीका लिखी है, यह जानकर आचार्य ने उसे सुनना चाहा। पद्मपाद ने इससे अपने को धन्य समझकर प्रथम चार सूत्रों की पूरी टीका आचार्य को पढ़कर सुनायी। उनके विचार-नैपुण्य तथा रचनाशैली की भूयसी प्रशंसा करके आचार्य ने कहा—"पद्मपाद, तुम सम्पूर्ण सूत्रभाष्य की टीका

‡'शंकरविजय' (आनन्दगिरि-रचित) और 'शंकरदिग्विजय' (माधवाचार्य-लिखित) ग्रन्थों में आचार्य के प्रधान चौदह शिष्यों के नाम मिलते हैं। 'शंकरविजय' ग्रन्थ में पद्मपाद, हस्तामलक, समित्पाणि, चिद्विलास, ज्ञान-कन्द विष्णुगुप्त, शुद्धकीर्ति, भानुमरीच, कृष्णदर्शन, बुद्धिवृद्धि, विरिंचिपाद, शुद्धानन्द और आनन्दगिरि। 'शंकरदिग्विजय' ग्रन्थ में इनके अतिरिक्त सुरेश्वराचार्य का भी नाम मिलता है। बहुत ही विस्मय का विषय है कि 'शंकरविजय' के लेखक ने आचार्य के एक प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्य के नाम का उल्लेख ही नहीं किया है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक कारणों से प्रतीत होता है कि 'शंकरविजय' के लेखक आनन्दगिरि शंकर के शिष्य या समसामयिक व्यक्ति नहीं थे। वे माधवाचार्य के परवर्ती व्यक्ति थे।

लिखो। तुम्हारी टीका बहुत ही उत्तम है। इस टीका का नाम होगा 'विजयडिण्डिम' और इसके प्रचार से समस्त संसार में वेदान्त की वैजयन्ती हमेशा फहराती रहेगी।†

* * *

कुमारिल भट्ट के द्वारा सूत्रभाष्य की वार्तिक-रचना का निर्देश वेदव्यास ने दिया था। कुमारिल भट्ट ने मण्डन मिश्र के द्वारा

---

† माधवाचार्य ने 'शंकरदिग्विजय' ग्रन्थ में लिखा है कि आचार्य की इच्छा जानकर भी दूसरे शिष्यों ने सुरेश्वराचार्य द्वारा वार्तिक-रचना में आपत्ति उठायी थी। इस कारण मन के दुःख से उन्होंने शाप दिया था कि कितने ही बड़े पण्डित सूत्रभाष्य की वार्तिक-रचना क्यों न करें, पृथ्वी भर में उसका प्रचार न होगा। यह भी सत्य है कि आचार्य शंकर के जीवित रहते उनका कोई दूसरा शिष्य सूत्रभाष्य के वार्तिक की रचना नहीं कर सका। आजकल सूत्रभाष्य की तीन टीकाएँ विशेष प्रसिद्धि-प्राप्त हो रही हैं—गोविन्दानन्दकृत रत्नप्रभा, वाचस्पति मिश्रकृत भामती और आनन्दगिरि-रचित न्यायनिर्णय। बहुतों का ख्याल है कि न्यायनिर्णय-रचयिता आनन्दगिरि ने ही शंकरविजय ग्रन्थ की रचना की है और वे शंकर-शिष्य आनन्दगिरि (तोटकाचार्य) से पृथक् व्यक्ति थे। किसी किसी ग्रन्थ में ऐसा भी मिलता है कि शंकराचार्य ने सुरेश्वराचार्य को सान्त्वना देते हुए कहा था—"प्रारब्धवश तुम्हें और एक बार जन्मग्रहण करना होगा और तुम वाचस्पति उपाधि प्राप्त करके सूत्रभाष्य की एक उत्कृष्ट टीका लिखोगे और वह चिरकाल तक प्रसिद्ध रहेगी।" सुरेश्वराचार्य ने ही उस विशेष कार्य के साधन के लिए भामतीकार वाचस्पति मिश्र के रूप में जन्मग्रहण किया था। किसी किसी के मतानुसार सुरेश्वराचार्य ने नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्-भाष्य के वार्तिक की भी रचना की थी। और तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य-वार्तिक के अतिरिक्त दक्षिणामूर्तिस्तोत्र-वार्तिक अथवा (मानसोल्लास) तथा पंचीकरण-वार्तिक की भी रचना की थी। मण्डन मिश्र-रचित 'विधि-

वार्तिक-रचना कराने की इच्छा प्रकट की थी; किन्तु दैवेच्छा से शंकर-रचित सूत्रभाष्य का वार्तिक नहीं तैयार हो सका । आचार्य ने सुरेश्वर को सूत्रभाष्य की वार्तिक-रचना की आज्ञा दी थी । परन्तु बाद में अधिकांश शिष्यों का मनोभाव जानकर उन्होंने उस आदेश का धीर भाव से प्रत्याहार किया । इस घटना से केवल आचार्य की उदारता ने ही हमें मुग्ध नहीं किया बल्कि वे पूर्णतया गणतान्त्रिक थे यह भी हम कह सकते हैं । इसके अतिरिक्त वे निर्लिप्त भाव से अपने को विराट्-इच्छा का यन्त्र-स्वरूप मानकर साक्षी रूप से संसार में विचरण करते थे—यह भाव भी इस घटना से परिस्फुटित होता है ।

वार्तिक-रचना बन्द हो जाने की घटना से पद्मपाद के मन में विशेष प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई । गुरुदेव की इच्छा कार्यकारी होने में बाधा डालने के कारण उन्होंने अपने को महान् अपराधी माना ।

विवेक' ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध है । सुरेश्वराचार्य की पंचीकरण टीका भी विशेष प्रामाणिक ग्रन्थ है ।

पद्मपादाचार्य ने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है । उनमें से पंचपादिका (ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रथमांश की टीका), विज्ञानदीपिका (इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रकाशित) तथा प्रपंचसार की विवरण-टीका और पंचाक्षरीभाष्य (शिव के पंचाक्षरमन्त्र की व्याख्या) विशेष प्रशंसाप्राप्त हैं । प्रवाद है कि पद्मपाद ने आचार्य के दिग्विजय के धारावाहिक वर्णन के साथ एक प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना की थी; परन्तु वह ग्रन्थ कभी जनसाधारण में प्रकाशित नहीं हुआ । कालान्तर में वह नष्ट भी हो गया होगा । पद्मपाद के उस अप्रकाशित ग्रन्थ से शंकराचार्य की जीवनी के अनेक उपादान परवर्ती लेखकों ने संग्रह किये थे ।

तोटकाचार्य (आनन्दगिरि) ने भी उपनिषद्भाष्य की टीका के अतिरिक्त निर्णयकाल, तोटकव्याख्या, तोटकश्लोक, श्रुतिसार-समुद्धरण आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की है ।

भारी पश्चात्ताप से उनका हृदय भर गया और उस पाप के प्रायश्चित्त रूप से वे मन में तीर्थयात्रा के लिए तैयारी करने लगे।

पद्मपाद ने आचार्य की इच्छानुसार समस्त सूत्रभाष्य की टीका लिखकर उसे गुरुदक्षिणा रूप से आचार्यचरणों में सौंपकर उनसे तीर्थभ्रमण की आज्ञा माँगी। आचार्य शिष्य के मनोरथ को समझकर बोले—"तात, गुरुसाहचर्य ही यथार्थ तीर्थयात्रा है। गुरुचरणामृत ही यथार्थ तीर्थोदक है। गुरु के भीतर इष्टदर्शन ही यथार्थ देवदर्शन है। गुरुसमीप रहकर सदा गुरुसेवा ही सर्व तीर्थसेवा है। गुरु को छोड़कर दूर देश न जाओ। दिनभर पथ चलकर क्लान्ति के कारण रात्रि में सो जाओगे, इससे तत्त्वचिन्तन के लिए समय न मिलेगा।" इस प्रकार के अनेक उपदेशों से आचार्य ने पद्मपाद को तीर्थभ्रमण से निवृत्त रखने की अनेक चेष्टाएँ कीं। किन्तु शिष्य के मन में तीव्र वैराग्य और दृढ़ संकल्प देखकर विवश होकर अनेक आशीर्वाद देते हुए उन्होंने तीर्थयात्रा की आज्ञा दे दी।

किसी शुभ मुहूर्त में कुछ शिष्यों के साथ पद्मपाद रामेश्वरम् तथा सेतुबन्ध के दर्शन के लिए चले। रास्ते में कालहस्ती, कांचीपुरम्, पुण्डरीकपुरम् और शिवगंगा आदि प्रसिद्ध तीर्थस्थानों का दर्शन कर पद्मपाद प्राचीन तीर्थ श्रीरंगम् पहुँचे। निकट ही उनका मातुलालय था। सशिष्य पद्मपाद वहाँ आये। बहुत दिनों के बाद भानजे को देखकर मामाजी ने अत्यन्त आदर के साथ उनका स्वागत किया और कुछ दिन वहीं रहने के लिए अनुरोध किया।

मातुल एक सदाचारी सुपण्डित वैष्णव ब्राह्मण थे। वे प्रभाकर-मतावलम्बी ‡ कर्मकाण्डी थे। भानजे को संन्यासी देखकर यद्यपि

‡ प्रभाकर कुमारिल भट्ट के प्रधान शिष्य थे। भट्टपाद के देहान्त के उपरान्त प्रभाकर, मीमांसकों में प्रधान और मीमांसा-मत के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता थे।

मामाजी मन में विशेष क्षुब्ध हुए तथापि भीतर का भाव छिपाकर पद्मपाद का विशेष रूप से आदर-सत्कार किया।

पथश्रम दूर होने पर पद्मपाद गुरु का परिचय देकर मातुल के साथ शास्त्रीय आलोचना में प्रवृत्त हुए। मातुल भी सुपण्डित ही थे पर थे द्वैतवादी और पद्मपाद थे अद्वैतवादी। आलोचना क्रमशः वाद-वितण्डा में परिणत हो गयी। पद्मपाद के युक्तितर्कों के सामने मातुल बहुत देर तक अपने पक्ष के समर्थन में कृतमनोरथ न हो सके। इससे मातुल के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि भड़क उठी। पद्मपाद अपना 'विजयडिण्डिम' ग्रन्थ भी साथ लाये थे। मातुल द्वारा पूछे जाने पर उस ग्रन्थ का परिचय देते हुए उन्होंने कहा, "मेरे आचार्यदेव ने ब्रह्मसूत्र पर जो भाष्य लिखा मैंने उस भाष्य की टीका बनायी है। इस टीका का नाम 'विजयडिण्डिम' है।"

मातुल उस ग्रन्थ को आंशिक पढ़कर ही समझ गये कि यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ तो कर्मकाण्ड के मूल पर ही कुठाराघात होगा। उनके मन में इस ग्रन्थ को नष्ट कर डालने का संकल्प जाग उठा। किन्तु ऊपर से ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुए कहा—"इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ने की मेरी प्रबल इच्छा हो रही है।"

मामाजी के मुख से अपने द्वारा रचित टीका की प्रशंसा सुनकर पद्मपाद बहुत आनन्दित हुए। मामा के आग्रह और अनुरोध से तीन दिन तक उन्हें वहाँ रहना पड़ा। पद्मपाद के मुँह से शास्त्र-व्याख्या और उपदेश सुनकर ग्राम के लोग मुग्ध हो गये। चौथे दिन शिष्यों के साथ पद्मपाद रामेश्वरम् की ओर चले। परन्तु मातुल के उस टीकाग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ने का आग्रह देखकर वह 'विजयडिण्डिम' ग्रन्थ उन्हीं के पास छोड़ गये। लौटते समय उसे ले लेंगे यही बात निश्चित हुई।

मामाजी ग्रन्थ को पढ़कर सोचने लगे कि यह ग्रन्थ यदि प्रकाशित हुआ तो गुरु प्रभाकर का यश मलिन हो जायगा। साथ ही उस ग्रन्थ में प्रतिपादित मतवाद को खण्डन करने की उनमें शक्ति नहीं थी। फलतः इसे नष्ट कर डालने का ही उन्होंने संकल्प किया। परन्तु पद्मपाद के मन में किसी प्रकार का सन्देह न उत्पन्न हो इसलिए अपने मकान के साथ उस ग्रन्थ को जला डालने का उन्होंने निश्चय किया। मन में ऐसा निश्चय कर एक गहरी रात में उन्होंने अपने घर में आग लगा दी। देखते देखते घर के साथ 'विजयडिण्डिम' भी अग्नीभूत हो गया। पद्मपाद रामेश्वरम् आदि तीर्थों का दर्शन कर बहुत आनन्दित हुए। प्रसन्न मन से वे श्रृंगेरी लौटने के रास्ते में मातुलालय पहुँचे। ग्राम में प्रविष्ट होते ही उन्होंने देखा कि मातुल का घर जल गया है। पद्मपाद को देखकर मातुल बनावटी शोक प्रकट करते हुए सिर पर हाथ रखकर उस ग्रन्थ के लिए खेद प्रकट करने लगे।

पद्मपाद ने मातुल को सान्त्वना देते हुए कहा—"आप उस ग्रन्थ के लिए दुःख न करें, श्रीगुरुदेव की कृपा से मैं और भी अधिक युक्तिपूर्ण ग्रन्थ लिख लूँगा। परामर्श के समय आपने जो जो प्रश्न उठाये थे उन सब प्रश्नों का मैं निपुणता के साथ नये ग्रन्थ में खण्डन करूँगा। आप शान्त हो जायें।"

मातुल ने देखा कि उनकी सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हो रही हैं, तो भी उन्होंने अपने भीतरी भाव को छिपाकर अपने भानजे का विशेष आदर-सत्कार किया और मन में एक दुष्ट अभिप्राय सिद्ध करने का संकल्प किया। विष का प्रयोग कर पद्मपाद का मस्तिष्क विकृत कर देना होगा—ऐसा सोचकर पद्मपाद के खाद्य के साथ विष मिला दिया। फलस्वरूप पद्मपाद पागल हो गये।

वैद्यों की चिकित्सा से पद्मपाद कुछ स्वस्थ तो अवश्य हुए; किन्तु उनकी स्वाभाविक अवस्था नहीं लौटी। पद्मपाद के शिष्यगण मातुल के कुकृत्य की बात समझकर अपने गुरु को लेकर शृंगेरी की ओर चले। एक दो दिन चलने के बाद उन्हें एक यात्रीदल से समाचार मिला कि आचार्य केरल चले गये हैं। शृंगेरी जाना व्यर्थ है ऐसा समझकर आचार्य के साथ मिलने के उद्देश्य से वे भी केरल की ओर चल पड़े।

दस

जब पद्मपाद तीर्थभ्रमण के लिए चले गये तो शृंगेरी के सभी लोगों को उससे बहुत कष्ट हुआ। वे आचार्य के प्रथम, प्रधान और प्रिय शिष्य तो थे ही, देहरक्षक के रूप में भी वे बराबर उनके साथ सभी अवस्थाओं में रहते थे। इसके अतिरिक्त वे जिस मर्मवेदना का भार वहन करते हुए गये हैं वे सभी के हृदय में शूल के समान चुभ रही थी।

परन्तु आचार्य निर्विकार चित्त से सभी के जीवन में पूर्णता-सम्पादन के लिए सदा ही तत्पर रहते थे। स्वाध्याय, शास्त्रविचार, साधनभजन आदि शृंगेरीनिवासियों की जीवनधारा में अविराम गति से चल रहा था। एक दिन प्रातःकाल आचार्य शिष्यों के सामने शास्त्रव्याख्या कर रहे थे। उसी समय उनके मुख में माता के स्तनपान का-सा स्वाद अनुभूत हुआ। उन्हें ऐसा भास हुआ कि उनकी जननी अन्तिम शय्या में पड़ी पड़ी उन्हें स्मरण कर रही हैं। पाठ बन्द करके वे ध्यानस्थ हो गये। कुछ क्षणों के बाद

शिष्यों से उन्होंने कहा—"माता अन्तिम क्षण में मुझे स्मरण कर रही हैं। मैं उनके सामने प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि अन्तिम समय में मैं उनके चरणकमलों में प्रस्तुत रहूँगा। मुझे अभी ही माता के पास चले जाना होगा।"

इतना कहकर आचार्य शंकर योगावलम्बनपूर्वक आकाश-मार्ग से देवदूत के समान केरल देश में माता के पास पहुँच गये।*

शंकर-जननी अन्तिम शय्या पर पड़ी हुई थीं। पास में एक वृद्धा सेविका बैठी थी। थोड़ी दूर पर एक गरीब सगोत्र व्यक्ति उदास बैठा था। ठीक इसी समय आचार्य शंकर ने सामने जाकर जननी को प्रणाम किया। दीर्घकाल के अनन्तर अप्रत्याशित भाव से अपने एकमात्र पुत्र को पाकर विशिष्टा देवी प्रबल हृदयावेग से अधीर हो उठीं। अनेक प्रकार से वे अपने पुत्र को स्नेह जताने लगीं। पुत्र भी माता के चरणों के पास बैठकर उन्हें विविध प्रकार से सान्त्वना देने लगा। अपने प्रिय पुत्र को पाकर माता अपनी रोगयन्त्रणा भूल गयीं। तरह तरह से प्यार करके भी माता को मानो तृप्ति नहीं हो रही थी।

माता को ज्वराक्रान्त और जराग्रस्त देखकर आचार्य ने कहा—"माँ! मैं आपकी सेवा के लिए आया हूँ। आप शोक का परित्याग कर स्वस्थ हो जायें। आपको क्या कष्ट है बताइये।

---

* आचार्य के जीवन की अनेक घटनाओं के समान इस घटना के सम्बन्ध में भी मतभेद है। किसी किसी जीवनीग्रन्थ में मिलता है कि आचार्य लोगों के मुख से माता की बीमारी का समाचार सुनकर तुरन्त शिष्यों के साथ केरल की ओर चल पड़े और यथासमय माता की मृत्यु-शय्या के पास पहुँच गये। आकाशपथ से गमनरूप अलौकिक कार्य आज-कल अनेक व्यक्ति सत्यरूप नहीं मानेंगे। इसके अतिरिक्त उससे आचार्य-जीवन का महत्त्व बढ़ता भी नहीं है। उनकी श्रेष्ठता दूसरे विषयों में है।

औषधि, पथ्य और सेवा आदि के द्वारा मैं आपको स्वस्थ करूँगा।"

विशिष्टा देवी ने कहा--"बेटा, तुम्हें भला-चंगा देखकर मैं आनन्दित हुई हूँ। मेरे शरीर को जरा और रोग ने घेर लिया है। अब तुम्हारे सामने ही मर सकूँ तो शान्ति होगी। कुटुम्बियों ने मेरे ऊपर अनेक अत्याचार किये हैं। यह बुढ़िया सेविका और वह गरीब पड़ोसी न होता तो बहुत पहले ही मेरी मृत्यु हो गयी होती। मेरे मरने के बाद तुम इनका दुःख दूर करना। उससे मुझे सुख ही मिलेगा। अब तुम जाकर स्नान-भोजनादि करो।"

माता के आदेशानुसार आचार्य स्नान-भोजन आदि से निवृत्त होकर जब लौट आये तब विशिष्टा देवी ने उनसे कहा--"बेटा! तुम मेरे महाप्रयाण का आयोजन करो। तुम्हें देखूँगी यही इच्छा लेकर अब तक मैं जी रही थी। तुम मेरे पास आ गये हो, मुझे अब कोई कामना नहीं है। केवल यही करो जिससे मैं सद्गति पा सकूँ और अपने इष्टलोक में पहुँच जाऊँ।"

शंकराचार्य को प्रतीत हुआ कि माँ की मृत्यु आसन्न है। उन्होंने माता को परब्रह्मतत्त्व सुनाते हुए कहा--"माँ, आप परब्रह्म का स्वरूप ज्ञात होने पर मोक्षलाभ कर सकेंगी।"

आचार्य के तत्त्वोपदेश का कुछ अंश सुनकर विशिष्टा देवी बोलीं--"बेटा, मैं अशिक्षित स्त्री हूँ। मन-वाणी के परे उस निर्गुण ब्रह्म को मैं कैसे जान सकूँगी? बेटा, तुम कमनीयकान्ति हृदय-रंजन किसी देवविग्रह का मुझे दर्शन कराओ जिससे मेरे नेत्र सफल हों, मेरा जीवन सार्थक हो।"

माता की इच्छा जानकर आचार्य कुछ काल तक मौन रहे, फिर बोले--"माँ, आप आँख मूँदकर मन को भगवान् में समाहित कीजिये। उसी से आप भुवनरंजन देवाधिदेव का दर्शन कर सकेंगी।"

माता की प्रीति के लिए उन्होंने भुजंगप्रयात छन्द में अष्टमूर्ति महादेव का स्तोत्र रचकर उसका पाठ किया। महादेव ने शंकराचार्य की स्तुति से प्रसन्न होकर विशिष्टा देवी को शिवलोक में लाने के लिए अनुचरों को भेज दिया। किन्तु शंकर-जननी त्रिशूल-पिनाकधारी भीषणमूर्ति शिवदूतों को देखकर भयभीत हो गयीं और पुत्र से कहने लगीं—"बेटा, ये आदमी बहुत ही भयंकर हैं। इनके साथ मैं नहीं जाऊँगी।"

आचार्य ने बहुत विनय के साथ शिवदूतों को विदा कर दिया। उसके अनन्तर माता के इष्टदेव केशव को स्मरण कर उन्होंने पुनः लक्ष्मीपति विष्णु का स्तवन किया। इधर अनेक ग्रामवासी उस अलौकिक कार्य को देखने के लिए वहाँ उपस्थित हो गये।

यतिश्रेष्ठ शंकर अपनी माता की अन्तिम इच्छा पूर्ण करने के लिए अत्यन्त कातर होकर श्रीविष्णु के चरणों में प्रार्थना करने लगे। उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी श्रीभगवान् विष्णु ने दिव्य ज्योति से दशों दिशाओं को आलोकित करते हुए आचार्य के समक्ष आकर उनकी प्रार्थना के अनुसार विशिष्टा देवी को भी दर्शन दिये। इष्टदर्शन से पुलकित होकर विशिष्टा देवी पुत्र को अनेक आशीर्वाद देने लगीं। इतने में ही विष्णुदूत सुन्दर विमान लेकर वहाँ उपस्थित हुए। विष्णु तथा उनके पार्श्वचरों के आगमन से विशिष्टा देवी का घर वैकुण्ठ में परिणत हो गया। शंकर-जननी ने आनन्दविह्वल होकर श्रीविष्णु भगवान् के चरणों में प्रणाम किया। तदनन्तर विष्णुदूतों ने विशिष्टा देवी को आदर के साथ विमान में उठा लिया। क्रमशः विमान वायु, विद्युत्, वरुण, चन्द्रलोक, सूर्यलोक, इन्द्रलोक तथा ब्रह्मादि देवताओं के निवास अर्चिः, अहः आदि ज्योतिर्मय लोकों का अतिक्रमण करते हुए विष्णु-

लोक पहुँच गया। पुत्र के तपःप्रभाव से विशिष्टा देवी भी परम-पद को प्राप्त हुईं।

माता के अन्तिम समय उपस्थित होकर उन्हें इष्टदेव-दर्शन तथा परमगति-प्राप्ति की व्यवस्था करा सकने से आचार्य ने अपने को कृतकृत्य माना। शंकराचार्य बचपन से ही विशेष मातृभक्त थे। वे जानते थे कि गर्भधारिणी जननी आद्याशक्ति जगज्जननी का ही अंशरूप हैं। उनकी मातृभक्ति ब्रह्मज्ञान के उच्च शिखर से उतरकर भक्तिगंगा में मिल गयी थी। प्रसन्न चित्त से वे माता के अन्तिम आदेश को स्मरण कर उनकी दाहक्रिया करने के लिए तैयार हुए। इतने में कुटुम्बी लोग भी वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर आचार्य बोले—"माता की इच्छा थी कि मैं ही उनकी अन्तिम क्रिया करूँ। यद्यपि संन्यासी के लिए वैसा कार्य शास्त्र-विहित नहीं है तथापि मातृआज्ञा-पालन ही मेरा परम धर्म है। इसलिए आप लोग इसका आयोजन कीजिये।"

शंकराचार्य की बात सुनकर कुटुम्बियों ने अत्यन्त उत्तेजित होकर उन्हें शठ, लोभी, पाखण्डी आदि दुर्वचन सुनाकर कहा—"माता का क्रियाकर्म करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार अशास्त्रीय कार्य करने से तुम्हें हम लोग सम्पत्ति का अधिकारी होने नहीं देंगे।"

आचार्य जितने ही विनय से कहने लगे कुटुम्बी लोग उतने ही अशान्त और दुर्विनीत होकर कटु भाषा में उन्हें खरीखोटी और दुर्वचन सुनाने लगे। आचार्य अपनी माँ के अन्तिम शब्द को स्मरण कर सब पी गये और विनीत स्वर में कहने लगे—"माता की इच्छानुसार मैं इस वृद्धा सेविका तथा निर्धन बन्धु को ही अपनी सारी सम्पत्ति दूंगा। यही मेरा संकल्प है।"

उनकी बात सुनकर सब बन्धु-बान्धव आगबबूला हो उठे और उस गरीब व्यक्ति को जाति-बाहर करने का भय दिखाकर वहाँ से चले गये ।

जातिबन्धुओं के इस प्रकार के अशिष्ट व्यवहार से आचार्य को बड़ा कष्ट हुआ । कोई दूसरा उपाय न देखकर आचार्य ने उस वृद्धा सेविका की सहायता से कुछ लकड़ियाँ जुटाकर आँगन में ही चिता बना ली और स्वयं माता का शव ले जाकर उस पर रखा । लकड़ियों को रगड़कर आग जलायी और उससे ही माता की दाहक्रिया सम्पन्न की । जातिबन्धुओं ने थोड़ीसी आग देकर भी दाहकार्य में सहायता नहीं पहुँचायी ।

आचार्य योगसिद्ध थे । वे आकाशमार्ग से माता के समीप आये और उन्होंने अतीन्द्रिय शक्ति के प्रभाव से माता को इष्ट-देव के दर्शन कराये । यह चर्चा सर्वत्र वायुवेग से प्रचारित हो गयी । दल के दल मनुष्य उत्सुकता के साथ आकर आचार्य का दर्शन करने लगे । क्रमशः यह समाचार देश के राजा राजशेखर के कान तक पहुँचा । उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । साथ ही साथ राजकर्मचारियों द्वारा आचार्य के प्रति उनके जातिबन्धुओं के दुराचार की बात भी उन्होंने सुनी ।

शंकराचार्य के साथ राजा राजशेखर का पहले से ही परिचय था । उस समय आचार्य की अवस्था केवल सात या आठ वर्ष की थी । उस बालक की असाधारण प्रतिभा ने राजा को मुग्ध कर दिया था । वे समझ गये थे कि ये एक शुभ नक्षत्र में जन्मे हुए महापुरुष हैं । उसके अनन्तर उनके सूत्रभाष्य-रचना, दिग्विजय, शृंगेरी में मठस्थापन आदि असाधारण कार्यों का समाचार केरल देश में भी पहुँचा था । राजा भी यह सब सुनकर आचार्य के प्रति

विशेष श्रद्धावान् हुए थे। वही जगत्पूज्य, वरेण्य आचार्य कालाडी में आये हैं और जातिबन्धुओं के कटु व्यवहार से बहुत दुःखी हैं, यह समाचार पाकर राजा अपने मन्त्रियों के साथ आचार्य के दर्शन के लिए आये। शान्त, गम्भीर, प्रसन्नवदन, सौम्यकान्ति उस यतिवर के दर्शन मात्र से राजा का हृदय श्रद्धा-भक्ति से परिपूरित हो गया। वे अपने को कृतार्थ और धन्य समझने लगे। परस्पर यथोचित सौजन्य और सश्रद्ध सम्भाषण आदि के उपरान्त राजा ने स्वयं ही जातिबन्धुओं के व्यवहार के बारे में सारी घटनाएँ सुनने की इच्छा प्रकट की। आचार्य ने विनीत भाव से संक्षेप में माता की अन्तिम इच्छा और जातिबन्धुओं के दुर्व्यवहार का यथार्थ वर्णन करते हुए कहा—"हे राजन्, मायामय संसार की गति ही कुछ इस प्रकार की है। मैं उससे जरा भी दुःखी नही हूँ। माँ की अन्तिम इच्छा यह थी कि वृद्धा सेविका और गरीब जातिबन्धु को उनकी सारी सम्पत्ति दे दी जाय। आप उसका प्रबन्ध करा दीजिये।"

आचार्य की बात सुनकर राजा ने क्षोभ और दुःख से लम्बी साँस छोड़ते हुए कहा—"यतिवर, आपके प्रति जातिभाइयों ने जो अमानुषिक उत्पीड़न किया है उसका मैं अभी दण्ड देता हूँ। ब्राह्मण अवध्य हैं। मैं उन्हें शारीरिक दण्ड नहीं दे सकता; परन्तु मैं अपने राज्य से उन्हें निकाल दूंगा।"

राजा का आदेश सुनते ही आचार्य के जातिबन्धुओं ने अपने को बहुत ही विपन्न समझा। निरुपाय होकर उन्होंने राजा से क्षमा माँगते हुए कहा—"धर्मावतार, हम लोगों ने अपराध किया है, हमें क्षमादान दीजिये। हम आपकी सन्तान के तुल्य हैं। हमारे पालन और रक्षण का भार आप ही पर निर्भर है। ऐसा अपराध हम

फिर कभी नहीं करेंगे, कृपया क्षमा कीजिये ।"

ब्राह्मणों की आर्ति देखकर राजा का हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने समवेत ब्राह्मणों को सम्बोधित करते हुए कहा—"आप लोगों ने मेरे साथ तो कोई अपराध किया नहीं है । मैं तो केवल विचारक मात्र हूँ । जिनके निकट आप लोग अपराधी हैं उनसे ही क्षमा-याचना कीजिये । उनके क्षमा कर देने से ही आप लोग क्षमा प्राप्त कर सकेंगे ।"

राजा की बात सुनते ही निरुपाय जातिबन्धुओं ने आचार्य से क्षमायाचना की। सब को विनत देखकर आचार्य ने कहा—"आप लोगों ने मेरे प्रति तो कोई अपराध किया नहीं और न तो आप लोगों के व्यवहार से ही मैं क्षुब्ध हुआ हूँ। आप लोग अपराधी हैं धर्म के निकट—श्रीभगवान् के दरबार में। वे ही आप लोगों को क्षमा प्रदान करें।"

आचार्य की क्षमा, दया और उदारता देखकर सब लोग धन्य धन्य करने लगे । जातिबन्धु बहुत ही लज्जित हुए । राजा ने उन ब्राह्मणों से कहा—"आचार्य ने जब क्षमा कर दी है तो आप लोग इस बार बच गये । उनकी माता की इच्छानुसार उनकी सम्पत्ति इस गरीब जातिभाई तथा इस वृद्धा को मैं बाँट दूंगा* ।"

---

* ऊपरी दृष्टि से ऐसा लगता है मानो आचार्य शंकर ने माता का क्रियाकर्म सम्पन्न करके संन्यासधर्म की मर्यादा का उल्लंघन किया । परन्तु यहाँ हम लोग सर्वोपरि उनकी मातृभक्ति, माता के प्रति कर्तव्यज्ञान तथा सत्यानुराग ही पाते हैं । उन्होंने संन्यासधर्म ग्रहण करने के पूर्व जिस ढंग से प्रतिज्ञा की थी, तदनुसार ही काम किया है और सत्य को ही मर्यादा दी है । सत्य के ऊपर ही धर्म आधृत रहता है । उपनिषद् की वाणी है कि—

राजा ने आचार्य के रहने तथा भोजन की सारी व्यवस्था कर दी और उनके श्रीचरणों में प्रणाम करते हुए चले गये। आचार्य की महानुभावता की बात सारे केरल देश में प्रचारित हो गयी। उनके दर्शन तथा उनके श्रीमुख से शास्त्रव्याख्या सुनने के लिए कालाडी ग्राम में अनेक लोग आने लगे।

* * *

समस्त केरल देश में सामाजिक परिस्थिति की शोचनीय परिणति देखकर राजा राजशेखर बहुत दिनों से ही समाज-संशोधन की बात सोच रहे थे; किन्तु ब्राह्मणों के प्राधान्य और प्रतिष्ठा को सोचकर वे उस कार्य में हाथ डालने का साहस नहीं कर सके थे। आचार्य के आगमन से उन्हें ऐसा लगा मानो उपयुक्त समय ही आ उपस्थित हुआ है। उन्होंने सोचा कि आचार्य के निर्देशानुसार समाजशुद्धि का प्रवर्तन करेंगे। मन में ऐसा संकल्प लेकर राजा आचार्य के पास पहुँचे।

राजा की इच्छा जानकर आचार्य ने नतमुख रहकर ही उत्तर दिया—"यह तो बहुत ही अच्छी बात है। मेरे द्वारा जितना सम्भव होगा मैं अवश्य ही करूँगा। आपकी इच्छा क्या है बताइये।"

आचार्य से अभय पाकर राजा ने कहा—"आचार्य, आपके समक्ष इस विषय में कुछ कहना मेरी धृष्टता होगी। तथापि मुझे

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा"—"अविचलित सत्य तथा एकाग्रता के द्वारा उस ज्योतिर्मय शुद्ध आत्मा की उपलब्धि की जाती है।" शास्त्र में और भी कहा गया है कि धर्म के चार पाद हैं—तपस्या, शौच, दया और सत्य। सत्यभ्रष्ट होकर संन्यासी, यति, तपस्वी या ब्राह्मण कोई भी श्रेयलाभ नहीं कर सकता। आचार्य-जीवन का यह कर्म धर्मसाधन के पथ पर एक नया प्रकाश डालता है।

ऐसी इच्छा हो रही है कि यदि आप कृपा करके समाजसंस्कार-निर्देशक कोई निबन्ध लिख दें तो मैं उसे समाज में प्रवर्तित करने का प्रबन्ध करूँ। आप केरल की सामाजिक अवस्था अच्छी तरह जानते हैं। अतः जिससे लोगों का कल्याण हो आप वही करें।"

राजा के प्रस्ताव का अनुमोदन कर आचार्य ने कहा—"अच्छी बात है, मैं एक संक्षिप्त धर्मसंहिता लिख दूँगा। आप सब मिल-कर उसके गुण-दोष का विचार करते हुए उसे समाज में प्रचलित कर दीजियेगा। उससे देश का कल्याण होगा।"

लिपिक नियुक्त हो गया। आचार्य ने स्मृति की विधियाँ बता-कर उन्हें लिपिबद्ध करा दिया। इस प्रकार चौंसठ अनुशासन-युक्त एक छोटा स्मृतिग्रन्थ तैयार हो गया। उसे पढ़कर राजा बहुत ही आनन्दित हुए। उस ग्रन्थ का नाम 'शंकर-स्मृति' दिया गया।

पूर्ण आशा और उद्यम लेकर राजा ने समाज के प्रमुख स्थानीय ब्राह्मणों को बुलाकर एक बड़ी सभा का आयोजन किया। उस स्मृतिग्रन्थ के गुण-दोष की आलोचना करना ही उस सभा का उद्देश्य था। अनेक नाम्पुद्रि (नम्बूदरी) पण्डित और ब्राह्मण उस सभा में उपस्थित थे। राजा के विशेष अनुरोध से आचार्य शंकर भी उस सभा में आये। स्मृति के नियमों का पाठ होने पर ब्राह्मणों ने कहा कि आचार्य-लिखित सभी नियम शास्त्रविरुद्ध तथा समाज के लिए हानिकारक हैं। तब आचार्य ने पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए बुलाया। सभा में तुमुल विचार और कोलाहल आरम्भ हो गया। आचार्य के गम्भीर पाण्डित्य, शास्त्रज्ञान, तर्कशक्ति तथा प्रतिभा के सामने क्रमशः पण्डितों का बल घट गया, परन्तु उन्होंने पराजय स्वीकार नहीं की।

ब्राह्मणों ने आपस में परामर्श करके कार्यसिद्धि के लिए एक अभिनव कुटिल अभिसन्धि का आश्रय लिया। केरल के दोनों प्रान्तों में प्राय: पचास मील के फासले पर एक ही दिन एक ही समय ब्राह्मणों ने दो सभाओं का आयोजन किया। दोनों सभाओं के प्रतिनिधियों ने राजा को ज्ञात कराया कि उन्होंने आचार्य को शास्त्रार्थ के लिए बुलाया ह। यदि वे शास्त्रार्थ में उन्हें पराजित कर सकें तो उनकी स्मृति वे मान लेंगे। राजा ने दो सभाओं को भिन्न-भिन्न दिनों में करने के लिए वृथा प्रार्थना की; परन्तु कोई भी पक्ष सभा का दिन और समय बदलने के लिए राजी नहीं हुआ। राजा ने अपने को बहुत ही विपन्न समझा। कोई दूसरा उपाय न देखकर उन्होंने आचार्य के सामने सारी बातें बता दीं। आचार्य बद्धपद्मासन में बैठे थे। सब सुनकर वे गम्भीर ध्यान में लवलीन हो गये। उनके मुख पर एक अनिर्वचनीय दिव्य ज्योति खिल उठी। अन्तर में वे आनन्दमय के साथ एक हो गये। आचार्य की वैसी ध्यानमूर्ति देखकर दर्शकों के मन में एक दिव्य चेतना का संचार हुआ।

ध्यान से व्युत्थित होकर उन्होंने गम्भीर स्वर से कहा––"ब्राह्मण लोग मेरी अलौकिक शक्ति की परीक्षा लेना चाहते हैं। अच्छी बात, मैं तैयार हूँ। उनकी इच्छानुसार ही सभा का आयोजन हो। मैं दोनों सभाओं में उपस्थित रहूँगा और वाद में प्रवृत्त होऊँगा।"

आचार्य के श्रीमुख से इस प्रकार की आपाततः असम्भव बात सुनकर राजा अवाक् रह गये। वे कुछ भी न समझ सके। यद्यपि राजा ने आचार्य की अनेक अलौकिक शक्तियों के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें सुनी थीं तथापि वे सोच नहीं सके कि किस ढंग से यह सम्भव हो सकेगा। निर्दिष्ट दिन राजा के सभापतित्व में एक

स्थान पर विराट् सभा का आयोजन हुआ। वहाँ आचार्य शंकर ने ब्राह्मणों के सैकड़ों प्रश्नों का समुचित उत्तर देकर सब को निरस्त कर दिया और उन्होंने जो स्मृति का विधान दिया है वह वेद-पुराणादि शास्त्रों से अनुमोदित है यह भी निस्सन्देह प्रमाणित हुआ। चारों वेद, वेदांग तथा सभी दर्शनों में सुपण्डित, श्रुतिधर आचार्य के श्रीमुख से असंख्य शास्त्रीय वचन सुनकर ब्राह्मण-मण्डली स्तम्भित हुई। वे पराजय स्वीकार करने को बाध्य हुए, परन्तु अभी भी उनको आशा थी कि दूसरी सभा का परिणाम उनके अनुकूल होगा। क्योंकि आचार्य तो उन्हीं से शास्त्रार्थ में लगे हैं। दूसरी सभा में उपस्थित होने का उन्हें मौका ही नहीं मिला है।

परन्तु इधर एक अभावनीय घटना से ब्राह्मणों की कुचेष्टा व्यर्थ हो गयी। आचार्य शंकर योगशक्ति के प्रभाव से कायव्यूह की रचना कर निर्दिष्ट समय पर दूसरी सभा में भी उपस्थित हो गये थे और पण्डितों के सारे प्रश्नों का शास्त्र और युक्ति के द्वारा उत्तर देकर उन्होंने उनको भी पराजित कर दिया। किन्तु आचार्य ने जो प्रश्न किये उनका उत्तर न दे सकने के कारण ब्राह्मणों ने सिर झुकाकर पराजय मान ली। उन्हें भी बड़ी आशा थी कि दूसरी सभा में उपस्थित न होने के कारण आचार्य की पराजय होगी।

समयानुसार दोनों सभाओं का निर्णय जब प्रकाशित हुआ तो लोग अत्यन्त विस्मित हुए। अलौकिक शक्ति के अधिकारी नवीन यतिवर के निकट केरल के ब्राह्मण नतमस्तक हुए तथा समाज में शंकर-स्मृति का विधान प्रचलित करने में वे लोग स्वयं साधनरूप हुए। दैवी शक्ति के सामने मनुष्य की अल्प शक्ति सर्वत्र ही पराजित होती है।

* * *

राजा राजशेखर के जीवन में आचार्य के दिव्य चरित्र का प्रभाव विपुल भाव से पड़ा था। उस दिन से वे आचार्य के एक प्रधान शिष्य हो गये। एक दिन राजा आचार्य के निकट आये। शास्त्रीय प्रसंग में बातें होने लगीं। आचार्य ने राजा से पूछा—"आपकी साहित्यचर्चा आजकल कैसी चल रही है—क्या कोई नयी पुस्तक लिखी है ?"

आचार्य का प्रश्न सुनकर लम्बी साँस छोड़ते हुए राजा ने कहा—" नहीं देव, आजकल उस काम को मैंने छोड़ दिया है। वह एक बहुत ही कष्ट की बात है। उसे मैं अभी नहीं भूल सका। जिन तीन नाटकों को पढ़कर आपको सुनाया था वे ही मानो ईश्वर के शाप से अग्नि में भस्मीभूत हो गये। उससे मेरे हृदय में एक ऐसी चोट पहुँची है कि किसी और पुस्तक के लिखने का अब उत्साह नहीं रह गया है।"

राजा की मनोवेदना कितनी गम्भीर थी यह आचार्य समझ गये। उन्होंने उनके दुःख में सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा—"आपके मन पर कितना बड़ा आघात हुआ है यह मैं समझ गया। ग्रन्थकार के निकट ग्रन्थ सन्तान की तरह प्रिय है। पुत्र-कन्या की सृष्टि देह से है। परन्तु मानस सृष्टि है ग्रन्थ। आपने उन तीनों नाटकों को मुझे पढ़कर सुनाया था। मुझे इतने अच्छे लगे थे कि उन तीनों ग्रन्थों का आदि से लेकर अन्त तक मुझे अभी भी स्मरण है। आप चाहें तो मुझसे लिख लेकर उन ग्रन्थों का पुनरुद्धार कर सकते हैं।"

राजा आचार्य की बात सुनकर बहुत ही आश्चर्यचकित हुए। उन्होंने पूछा, "आचार्य, आपको सभी स्मरण हैं ? तो कृपा कर बताइये मैं लिपिक बुलाता हूँ, वह लिख लेगा।"

आचार्य की सम्मति से लेखक नियुक्त हुआ। वे कहते गये और लिपिक सब लिखता गया। इस प्रकार से थोड़े ही दिनों के भीतर तीनों नाटक लिख लिये गये। उन ग्रन्थों को पढ़कर राजा ने देखा कि उन्होंने जैसी रचना की थी ठीक वैसी ही अविकल आचार्य ने भी बतायी। आनन्द, विस्मय और कृतज्ञता से राजा का चित्त भर गया। उन्होंने आचार्य को बार-बार प्रणाम किया। आचार्य की अलौकिक स्मरणशक्ति की बात सुनकर केरल के निवासियों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

यतिवर को अब श्रृंगेरी लौट जाने की इच्छा हुई, किन्तु राजा उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने आचार्यचरणों में देश के धर्मसंस्कार के लिए बारम्बार अनुरोध किया। उनके विशेष आग्रह और कातरता के कारण तथा देश में धर्मग्लानि की बात सोचकर आचार्य कुछ दिन रुक गये। इस निर्णय के अनुसार उन्होंने द्रुतगामी वार्तावह के द्वारा श्रृंगेरी में अनेक शिष्यों को समाचार भेजा कि सब लोग केरल चले आयें†।

---

† किसी किसी जीवनी-ग्रन्थ के अनुसार आचार्य मातृकार्य समाप्त कर श्रृंगेरी लौट गये। वहाँ उनके मन में सारे भारत में धर्मसंस्थापना की भावना उदित हुई। उसके बाद वह शिष्यों के साथ केरल चले गये। श्रृंगेरी से केरल के दूरत्व, केरल में आचार्य के साथ पद्मपादाचार्य का मिलन और आचार्य-जीवन की तत्कालीन अन्यान्य घटनाओं के साथ सामंजस्य विधान करने के लिए ठीक सिद्धान्त यही होगा कि आचार्य ने केरल से शिष्यों को अपने साथ मिलने के लिए ही बुला भेजा था। अन्यथा तीर्थभ्रमण के उद्देश्य से पद्मपाद के श्रृंगेरीत्याग के लगभग दो महीनों के भीतर आचार्य का कालाडी-आगमन, मातृकार्य, राजकार्य समापन, स्मृति-प्रणयन, पण्डितों से शास्त्रार्थ, नष्ट ग्रन्थत्रय का उद्धार, पुनः श्रृंगेरी-आगमन तथा केरल में प्रतिगमन आदि इतने कार्य स्थान के दूरत्व तथा कार्यों के गुरुत्व का विचार

आचार्य शंकर के जीवन का एक महिमोज्ज्वल अध्याय आरम्भ हुआ। उस दिन से लेकर लगभग सोलह वर्ष तक जीवन के अन्तिम दिन पर्यन्त—हम उन्हें आदर्श कर्मयोगी के रूप में पाते हैं। यद्यपि आठ वर्षों के भीतर चार वेद, सारे दर्शन तथा अन्यान्य शास्त्रों का अध्ययन, बारह वर्ष के भीतर योगसिद्धि और सर्वशास्त्राभिज्ञता तथा सोलह वर्षों के भीतर ब्रह्मसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों की भाष्य-रचना आदि कार्य आचार्य के अक्लान्त कर्मजीवन के द्योतक हैं; तथापि उनके जीवन के अन्तिम अध्याय के निरन्तर कर्म हमें विस्मित कर देते हैं।

केवल 'निरग्नि' और 'निष्क्रिय' होकर कर्म में विरति ही वास्तविक संन्यास नहीं है। परन्तु कर्मफल में अनासक्ति और इहलोक तथा परलोक में भोगसुख में वैराग्य होने पर भगवान् की प्रीति के लिए लोककल्याणकर कर्मानुष्ठान ही यथार्थ संन्यास है। जो संसार के हित के लिए इस प्रकार के कार्य करते हैं, वे ही यथार्थ संन्यासी भी हैं। जीवहित-व्रत में आचार्य ने अपने जीवन का एक एक क्षण कठोर कर्तव्य साधन करते हुए ही बिताया था। . . .आचार्य शंकर के मतानुसार आत्मज्ञान लाभ के पूर्व तक कर्म-फल की आकांक्षा छोड़कर ईश्वर में फल का अर्पण करते हुए सारे शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान ही सच्चा कर्मयोग है। . . .ज्ञान-लाभ न होने तक कर्म का परित्याग करना अनुचित है। उससे इहलोक और परलोक दोनों की ही हानि होती है।

आचार्य शंकर योगसिद्ध तथा ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित थे। वे जब चाहते तभी योगारूढ़ होकर भूमानन्द का अनुभव कर सकते थे।

करने पर देखा जाता है कि इतने थोड़े समय के भीतर वे सम्भव नहीं हैं। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि घटनाओं का कुछ अंश काल्पनिक हो।

वे प्रतिदिन ही समाधि के अति उच्च स्तर में अधिरूढ़ होकर 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान में स्थित रहकर 'निर्विकल्प, निराकार, विभु और बन्धनमुक्तिरहित चिदानन्दमय शिवस्वरूपता' का अनुभव करते थे। तथापि जीवकल्याण-व्रत में उनका आत्मनियोग एवं आत्मोत्सर्ग हमारे सामने एक आलोकमय राज्य उद्भासित करता है। हमारे मानसपटल पर दण्ड-कमण्डलुधारी मुण्डित-मस्तक सौम्यदर्शन ज्योतिष्मान् तरुण यति शंकर का चित्र एक दिव्य प्रेरणा तथा शत-शत मनुष्यों के प्राण में धर्मचेतना उद्बुद्ध कर देता है। उन्होंने धीर शान्त पदक्षेप से समग्र अखण्ड भारत, काश्मीर, नेपाल और वर्तमान भारत के बाहर के अनेक देशों में पदयात्रा करके उन देशों के मन्दिर आदि का यथोचित संस्कार किया। पूजा आदि का प्रचलन कर विरुद्ध मतावलम्बियों के साथ शास्त्रार्थ तथा शास्त्रव्याख्या आदि के द्वारा सनातन वैदिक धर्म की शीतल छाया में आश्रय-प्रदान तथा कुमार्गगामियों का शुभ मार्ग में परिचालन आदि किया है।

किन्तु इतना बड़ा काम कितना परिश्रम-साध्य था इसे धीर भाव से सोचने पर विस्मय-विमुग्ध होना पड़ता है। अब तक संसार में जितने भी धर्म प्रचारित हुए हैं, उनमें अधिकांश प्रधानतया राजशक्ति की पृष्ठपोषकता से ही वृद्धिप्राप्त हुए हैं। किन्तु एकमात्र सनातन वैदिक धर्म का प्रचार ही उसका अपवाद दिखायी पड़ता है। आचार्य शंकर वैदिक धर्म की ध्वजा लेकर दैवबल से बलीयान् तथा आत्मबल से उद्बुद्ध होकर एकाकी चल रहे थे। उनके पीछे रणभेरी नहीं बजी, सेनाओं की पदध्वनि या अश्वों का हिनहिनाना भी नहीं सुनायी पड़ा। केवल पूत गम्भीर वेदध्वनि, मन्त्रोच्चारण तथा देव-देवियों का वन्दन-गान ही उनके

धर्मप्रचार का सम्बल था।

आचार्य शंकर की यह दिग्विजय-यात्रा सुखकर नहीं थी। अनेक स्थलों में उनका जीवन विपन्न भी हुआ था। परन्तु उन्होंने सब कुछ सहर्ष स्वीकार कर लिया तथा सारी विपत्तियों का सामना भी धैर्यपूर्वक किया। किसी भी अवस्था में उनके चित्त का सन्तुलन विनष्ट नहीं हुआ। सभी अवस्थाओं में वे कूटस्थ निर्विकार रहे। आचार्य के व्यावहारिक चरित्र का यह अंश हमें मन्त्रमुग्ध कर देता है और वे हरएक कर्म की प्रचेष्टा में कितने आत्मस्थ रहते थे इसे देखकर हमारा हृदय श्रद्धा से भर जाता है। वे गरीयान् और अतिमहान् थे--केवल भारत के ही नहीं, सारे विश्व के थे। धर्म, सत्य, शान्ति और मैत्री की प्रतिष्ठा का व्रत लेकर उन्होंने समुद्र से हिमालय पर्यन्त और उसके बाहर भी महद्धर्म के प्रचार के लिए भ्रमण किया। जनगण को लौकिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा देकर और वेद-वेदान्त की प्रतिष्ठा का महान् दायित्व अपने कन्धों पर लेकर वे शान्त भाव से अग्रसर होते रहे। आचार्य की दिग्विजय-वाहिनी के साथ उनका पुण्य सान्निध्यलाभ करने के लिए तथा मन को पवित्र करने के लिए हम लोग भी इस परमब्रह्मलीन लोकातीत-चरित्र यतिवर का अनुसरण करते हुए चलेंगे।

आचार्य ने मायावाद का प्रचार किया था--यह बात लोग प्रायः कहा करते हैं। परन्तु यथार्थतः उन्होंने अद्वैत-ब्रह्मात्मविज्ञान का ही प्रचार किया था। समस्त भारत में तथा विशेषकर हिन्दू जाति की वर्तमान कर्मविमुखता और जातीय जीवन में तमिस्रा के लिए एक श्रेणी के लोग आचार्य को उत्तरदायी ठहराने में संकोच नहीं करते। यदि सभी मायाजन्य हों तो इस मायिक स्थिति के लिए

फिर पुरुषकार का मूल्य ही क्या है। कर्मविमुखता के पीछे यही चिन्ता विद्यमान है। आचार्य ने जिस मतवाद का प्रचार किया है उनका सारा जोवन ही उसका भाष्यरूप है। इस अक्लान्त कर्मी को जो लोग हिन्दुओं की कर्मविमुखता के लिए उत्तरदायी समझते हैं उनसे हम सहमत नहीं हैं। उन्हें मायावादी या और किसी प्रकार का वादी क्यों न कहा जाय, उनके जीवन में कर्म का आदर्श और कर्म की प्रेरणा ही दिखायी पड़ती है। वे निष्क्रिय योगीपुरुष नहीं थे; बल्कि कठोर कर्मयोगी थे। उनके कर्ममय जीवन से हम मुख्यत: कर्म की प्रेरणा ही पाते हैं।

* * *

कुछ दिनों में श्रृंगेरी से अनेक शिष्य केरल में आचार्य के श्रीचरणों के पास आ पहुँचे। इधर आचार्य की पदयात्रा का समाचार सुनकर अनेक गृहस्थ शिष्य तथा ब्राह्मण उनका पवित्र संग प्राप्त करने के उद्देश्य से वहाँ आ जुटे। एक शुभ मुहूर्त में आचार्य शंकर ने शिष्यवर्ग, भक्तवृन्द और राजा राजशेखर को साथ लेकर धर्म-संस्थापनरूप महान् व्रत के उद्यापन के लिए प्रस्थान किया। सर्वप्रथम आचार्य ने केरल के अनेक स्थानों में ही भ्रमण करते हुए देवमन्दिरादि का यथोचित संस्कार तथा शास्त्रव्याख्या आदि के द्वारा वेदान्त की ब्रह्मात्मविद्या का प्रचार किया।

कुछ दिनों के अनन्तर आचार्य शिष्यों के साथ केरल के महाशूर नामक तीर्थ में आये। वहाँ वे देवता की अर्चना तथा स्तोत्र आदि का उच्चारण कर धर्मप्रसंग कर रहे थे कि इतने ही में शिष्यों के साथ पद्मपाद भी वहाँ आ उपस्थित हुए। पद्मपाद को देखकर आचार्य ने अत्यन्त आनन्दित हो उनका स्वागत किया। गुरु के श्रीचरणों में प्रणाम कर उठते ही शिष्य के मस्तक पर अपना

वरदहस्त स्थापित कर उन्होंने पूछा—"पद्मपाद, कुशल तो है?"

पद्मपाद के हृदय की पुंजीभूत वेदना आँसुओं के रूप में नेत्रों को प्लावित करते हुए झरने लगी। अबोध शिशु की तरह वे रो पड़े। आचार्य ने प्रिय शिष्य को हाथ पकड़कर उठाया और मनोवेदना का कारण पूछा। शृंगेरी-त्याग के बाद जो जो घटनाएँ हुईं सभी पद्मपाद ने बतला दीं। मातुलालय में 'विजयडिण्डिम' का भस्मीभूत होना ही उनके सर्वाधिक दुःख का कारण है, यह भी उन्होंने कह सुनाया। विषप्रयोग की घटना भी बतायी। शिष्य का शोकावेग कुछ घट जाने पर दयालु आचार्य ने ज्ञानपूर्ण अमृत-तुल्य वचनों से शिष्य को सान्त्वना देते हुए कहा—'वत्स, वृथा शोक न करो। प्रारब्ध कर्म के विषमय फल से किसी को परित्राण नहीं है। जिस दुःख का प्रतीकार ही नहीं, उसके सम्बन्ध में धैर्यावलम्बन ही श्रेय है। . . . भाष्य की टीका नष्ट हो गयी है इसमें भी शोक करने का कोई कारण नहीं है। एक ब्रह्मवस्तु को छोड़कर सारा प्रपंच ही मिथ्या है। . . . बेटा, शृंगेरी में रहते समय तुमने जो टीका की रचना कर मुझे सुनायी थी वह मुझे इतनी अच्छी लगी थी कि अभी तक उसका स्मरण है। तुम लिख लो। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुमने ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार सूत्रों कीं जो टीका लिखी थी वही तुम्हें अमर बनाये रखेगी। तुम शोक का परित्याग करो।"

तदनन्तर आचार्य स्नेह से शिष्य के शरीर पर हाथ फेरते हुए उन्हें शिशु की तरह प्यार करने लगे। आचार्य के स्नेह-स्पर्श से पद्मपाद का हृदय शीतल हुआ तथा वे शान्त हुए।

आचार्य के श्रीमुख से उच्चारित चतुःसूत्री-टीका लिख लेने पर पद्मपाद के मन को अनिर्वचनीय प्रशान्ति मिली। साथ ही साथ

उनके मन से ग्रन्थ-रचना की इच्छा भी सदैव के लिए लुप्त हो गयी। उस समय से श्रीगुरुदेव के दिव्य प्रभाव के फलस्वरूप पद्मपाद की मानसिक जड़ता और शारीरिक अवसाद दूर हो गये। साथ ही उनका देह-मन मेघनिर्मुक्त आकाश के समान निर्मल और स्वच्छ हो गया। पद्मपाद के गुरुभाई भी उन्हें स्वाभाविक अवस्था में लौट आते देख विशेष आनन्दित हुए।

इस जययात्रा में सहस्राधिक शिष्य तथा विद्वान् ब्राह्मण *

* आचार्य के संन्यासी और गृहस्थ शिष्यों में अधिकांश ही ब्राह्मण थे। उन्होंने ब्राह्मणों को स्वधर्मपरायण करने के लिए विशेष प्रयत्न किया था। इस कारण ब्राह्मणेतर जातियों में से कुछ लोग उन्हें अनुदार कहकर उन पर दोषारोपण करते हैं। वे कहते हैं कि उन्होंने ब्राह्मणों के प्रति विशेष पक्षपात किया था।

शंकराचार्य ने अपने गीताभाष्य में एक स्थान पर लिखा है---"...ब्राह्मणत्वस्य रक्षितेन रक्षितः स्यात् वैदिको धर्मः" ..आदि। इससे ब्राह्मणत्व के पुनरुत्थान की चेष्टा के पीछे उनकी क्या शुभेच्छा थी उसे हम समझ सकते हैं। ब्राह्मणगण धर्म के धारक तथा वाहक रूप से धर्मरक्षाकार्य में विपुल भाव से सहायता देते थे। यह सत्य सभी स्वीकार करेंगे।

वैदिक धर्म की भित्ति रूप से आचार्य शंकर ने हिन्दू समाज में पंचदेवता की पूजा तथा पंचमहायज्ञ का अनुष्ठान प्रचलित करके जनसाधारण के धर्मलाभ का द्वार खोल दिया और योग्यतानुसार धर्मानुष्ठान में सभी को अधिकार भी दे दिया था। उन्होंने भाष्य आदि में ऐसा भी कहा है कि "यज्ञ में शूद्र का अधिकार नहीं है, यह सत्य है, किन्तु ब्रह्मज्ञान-लाभ में शूद्र का अधिकार नहीं है ऐसी निषेध-श्रुति दिखायी नहीं पड़ती।" महाभारत में दासीपुत्र विदुर तथा धर्मव्याध के सम्बन्ध में आचार्य ने कहा है---"विदुर धर्मव्याध आदि जिन व्यक्तियों को पूर्वकृत संस्कार-हेतु ज्ञानोदय हुआ है उनकी ज्ञानफल-प्राप्ति का निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि ज्ञान का फल अवश्यम्भावी है। साधन और सुकृतिसम्पन्न शूद्र का भी तत्त्वज्ञान-

आचार्य का अनुगमन कर रहे थे। कर्नाट-उज्जयिनी के राजा सुधन्वा ने भी आचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया था। वे तथा केरलाधीश आचार्य के साथ ही साथ चल रहे थे। यात्रीदल ध्वजा, पताका तथा शंख, डमरु, मृदंग आदि विभिन्न मांगलिक वाद्यों के साथ शोभायात्रा के रूप में चलने लगा। रास्ते में चलते हुए शिष्य लोग एक स्वर से वेदपाठ तथा स्तोत्रों की आवृत्ति करते रहे थे। गम्भीर ओंकार-ध्वनि से चारों दिशाएँ गूंज उठीं। उन तीर्थयात्रियों के

लाभ सम्भव है।" शंकर के मत में "ब्रह्मज्ञान-लाभ श्रुतिमूलक है। समाज में प्रचलित सामान्य धारणा है कि स्त्री-शूद्रादि वेद के पठन-पाठन के अनधिकारी हैं"।...ब्रह्मज्ञान में स्त्रीजाति के अधिकार के सम्बन्ध में गार्गी मैत्रेयी, सुलभा आदि क्षत्रिय रमणियों का नाम प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी रूप से प्रख्यात है। अब प्रश्न यह उठता है कि किस समय से स्त्रीजाति को वेद-पाठ के अधिकार से वंचित किया गया है। शंकर-युग में मण्डन-पत्नी उभय-भारती के वेदज्ञान और ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं करता।

स्त्री-शूद्र के वेद में अधिकार के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ लिखे गये तथा अनेक वाक्-वितण्डा की भी अवतारणा हुई। किन्तु मीमांसा कुछ भी नहीं हुई। श्रुति में इसकी मीमांसा दिखायी पड़ती है। ऐतरेय ब्राह्मण में भृगु, अंगिरा आदि वैदिक ऋषियों ने शूद्र ऋषि द्यूतकार ऐलुष को यज्ञ में अधिकार दिया था। अतः विशेष विशेष स्थलों में योग्य शूद्र को यज्ञ के अधिकार से वंचित नहीं किया जाता था। उसका प्रमाण श्रुति में ही मिलता है।

केवल इतना ही नहीं, ऋग्वेदसंहिता के कुछ सूक्तों के द्रष्टा ऋषि कवष थे।...सम्वर्ग-विद्या में ब्रह्मज्ञान श्रवणार्थी राजा जानश्रुति को शूद्र नाम से अभिहित किया गया है (किसी किसी के मत में यह शूद्र शब्द अर्थवाद है)। बहुचारिणी परिचारिका जबला के पुत्र जाबाल सत्यकाम को सत्य-निष्ठ देखकर हारिद्रूमत गौतम ने उसको उपनयन देकर ब्रह्मचारी रूप से ग्रहण किया था तथा वेदपाठ का अधिकार दिया था।

दल का दर्शन तथा पूजा-आरती आदि मांगलिक कृत्य करने के लिए रास्ते के स्थान स्थान पर ग्रामीण लोग दलवद्ध होकर भक्ति-नम्र चित्त से प्रतीक्षा कर रहे थे। आचार्य की पूजा तथा आरती करके वे अपने को धन्य समझने लगे। संन्यासियों को भोग-नैवेद्य आदि देकर वे अपने हृदय की मानो भक्ति ही जता रहे थे। देव-मूर्ति की शोभायात्रा का स्वागत करते हुए उन्हें वे सम्मानित करते थे। वह एक महान् भावोद्दीपक दृश्य था। उस शोभायात्रा के मध्यदेवता थे आचार्य शंकर। मण्डित-मस्तक, देदीप्यमान् ब्रह्मण्यदेव-सदृश सौम्यदर्शन तरुण यति आचार्य शंकर धीर

दासीपुत्र नारद के ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में किसी को भी सन्देह नहीं है। गत सहस्र वर्षों के भीतर उत्तर और दक्षिण भारत के अनेक अब्राह्मण मर्मज्ञ कवियों और साधकों का जीवन देखकर प्रतीत होता है कि सुकृति और शुभ प्रारब्धसम्पन्न मनुष्य किसी भी कुल में जन्मग्रहण क्यों न करे ज्ञानलाभरूप फलप्राप्ति से उन्हें कोई वंचित नहीं कर सकता। मीराबाई क्षत्रिय थीं। उनकी कृष्णभक्ति संसारप्रसिद्ध है।

आचार्य शंकर ने प्रचलित संस्कारों पर आघात नहीं किया है और वे अपने जीवन तथा अपनी रचनावली में भी धर्म और तत्त्वज्ञान-लाभ की जो श्रेष्ठ प्रेरणा छोड़ गये हैं वह समाज के प्रत्येक स्तर में व्याप्त रहकर सर्व-साधारण को धर्मजीवन-लाभ के लिए प्रेरणा दे रही है।

वेदाध्ययन और ब्रह्मविद्या-लाभ ये दो, सब क्षेत्रों में एक वस्तु नहीं हैं। आचार्य ने कहा है—"अनग्नित्व ही शूद्र के वैदिक कर्म में अनधिकार का कारण है। किन्तु ब्रह्मविद्या-लाभ में अनग्नित्व अनधिकार का कारण नहीं हो सकता।...कारण हैं अर्थित्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान-लाभ की आकांक्षा और सामर्थ्य अर्थात् ब्रह्मज्ञान-लाभ के उपयुक्त शक्ति शूद्रों में भी रहना सम्भव है।"

वर्तमान युग में समाजसंस्कार की अनुदारता के लिए आचार्य शंकर को उत्तरदायी बनाना ठीक नहीं होगा।

पदक्षेप करते हुए ध्यानस्तिमित नेत्रों से चल रहे थे। वे दक्षिण हस्त उठाकर अभयमुद्रा से दर्शनार्थियों के मस्तक पर आशीर्वाद का वर्षण कर रहे थे। यतिराज का दर्शन कर सभी धन्य और कृतार्थ हुए तथा उन्होंने अपने नरदेह को सार्थक माना। उनके श्रीमुख से उपदेश और शास्त्रव्याख्या सुनकर सभी मुग्ध थे।

कुछ दिनों में आचार्य प्रसिद्ध शैवतीर्थ मध्यार्जुन में उपस्थित हुए। मध्यार्जुन-शिव जाग्रत देवता हैं। देवदर्शन और देवार्चना करके आचार्य शंकर विशेष आनन्दित हुए। देवात्मा शंकर का दर्शन और उनके श्रीमुख से शास्त्रव्याख्या सुनने के लिए देवायतन में अनेक मनुष्य समागत हुए। वह स्थान ब्राह्मण-प्रधान था और ब्राह्मणों में प्रायः सभी विद्वान् कर्मकाण्डी तथा देवयाजी थे।

मन्दिर के प्रांगण में सन्ध्याकालीन आरती के अनन्तर एक विराट् जनसभा का आयोजन हुआ। आचार्य के श्रीमुख से अद्वैत-ब्रह्मात्म-विज्ञान की सुमधुर तथा युक्तिपूर्ण व्याख्या सुनकर सभी आनन्दित हुए। अद्वैतवाद श्रेष्ठ है इस विषय पर सभी निस्सन्दिग्ध हुए। अनेक व्यक्ति अद्वैत मत ग्रहण करने के लिए भी कृतसंकल्प हुए। इससे कुलपति ब्राह्मणों में विशेष क्षोभ उत्पन्न हुआ।

दूसरे दिन भी मन्दिर के प्रांगण में बृहत्तर सभा का आयोजन किया गया। आचार्य मध्यस्थल में पद्मासन पर विराजमान थे। शिष्यवर्ग भी उनके चतुर्दिक् बैठा था। उसी समय एक गम्भीर स्तब्ध भाव उनके मन में व्याप्त हो गया और तत्त्वमुद्रा का प्रदर्शन कर वे जनमण्डली को तत्त्वोपदेश देने लगे। उपस्थित लोग निस्तब्ध हो उनका उपदेश सुन रहे थे। इतने में पण्डित-मण्डली की ओर से एक ब्राह्मण ने आचार्य से कहा—"हे देव, आपकी

शास्त्रव्याख्या अति मधुर और प्रांजल है। आपकी युक्तिपूर्ण व्याख्या सुनकर हमें विश्वास हो चला है कि अद्वैत मत ही श्रेष्ठ है। हमारे मध्यार्जुन-शिव इष्ट एवं जाग्रत देवता हैं। हम उनकी पूजा करते हैं, उपासना करते हैं। उस परम देवता से भी यदि कोई प्रत्यादेश सुनायी पड़े और वह कहे कि अद्वैत मत ही सत्य है तो हम सब अद्वैत मत को ही ग्रहण करेंगे।"

पण्डित की बात सुनकर सभा के लोगों में सन्नाटा छा गया। आचार्य ध्यानमग्न हुए। आत्मानन्द की प्रशान्ति उनके मुखमण्डल पर खिल उठी। ध्यान से व्युत्थित होकर आचार्य आसन से उठ खड़े हुए और मन्दिर के द्वार पर जाकर घुटने टेककर प्रार्थना करने लगे---"प्रभो मध्यार्जुनेश, आप सारे उपनिषदों के सार हैं। सभी वेद आपकी ही महिमा गा रहे हैं। आप देवदेवेश तथा सर्वज्ञ हैं। वेद का प्रतिपाद्य विषय अद्वैत मत ही सत्य है यह बात आप सब के सामने प्रकट कर सब का संशय दूर कीजिये।" इस प्रार्थना-ध्वनि से मन्दिर गूंज उठा।

आचार्य की प्रार्थना समाप्त होते ही एक अलौकिक घटना से सभी आश्चर्यचकित हो गये। मन्दिर के भीतर एक दिव्य प्रकाश भर गया और साथ ही साथ जलदगम्भीर स्वर से दैववाणी हुई "अद्वैत सत्य है, अद्वैत सत्य है।"

इस आकस्मिक असाधारण घटना ने सभी को आत्मविस्मृत तथा अभिभूत कर दिया। आचार्य की अलौकिक शक्ति से सभी लोग स्तम्भित, निर्वाक् एवं निःस्पन्द हुए। सभी ने समझा कि मध्यार्जुनेश्वर महादेव जाग्रत देवता हैं। अब तक स्थानीय ब्राह्मण भक्ति के साथ जिस मूर्ति की पूजा कर रहे थे वह तो केवल मूर्ति ही नहीं, साक्षात् जाग्रत चैतन्य हैं। आचार्य के प्रभाव से वह भी प्रमाणित

हो गया। ये प्रभु प्रार्थना सुनते हैं तथा भक्तों को आशीर्वाद भी देते हैं। मूर्तिपूजा की मर्मवाणी आचार्य के प्रभाव से उद्घाटित हुई।

अनेक ब्राह्मणों ने अद्वैत मत ग्रहण किया। मध्यार्जुनेश्वर भी सगुण ब्रह्म का ही विकास हैं यह सत्य सिद्ध हुआ। आचार्य ने सब को इस जाग्रत देवता की पूजा तथा उपासना आदि और भी भक्ति के साथ करने के लिए उत्साहित किया। उससे चित्त शुद्ध होगा और विमल चित्तदर्पण में ब्रह्म खिल उठेंगे।

लोगों के आग्रह से आचार्य ने और भी कई दिनों तक मध्यार्जुन में रहकर देवार्चन किया तथा सभी को धर्मोपदेश देकर परितृप्त कर दिया।

प्रतिदिन अनेक व्यक्ति उनके दर्शन के लिए आते रहे। साधनोपदेश तथा सन्देह-निराकरण द्वारा सब को कृतकृत्य करके आचार्य रामेश्वर की ओर अग्रसर हुए।

मार्ग में तुलाभवानी नामक तीर्थ में आकर भवानी, महालक्ष्मी और सरस्वती के उपासकों में सत्यधर्म की व्याख्या द्वारा आचार्य ने उनके मतों का संस्कार किया।

* * *

तुलाभवानी में अनेक शाक्त वामाचारियों का निवासस्थान था। उनमें बहुतसे वीराचारी, पश्वाचारी, वामाचारी तथा कौलाचारी थे। इन तथाकथित शाक्तों ने धर्माचरण के नाम पर मदिरा, मांस और नारी-भोग द्वारा समाज के नैतिक जीवनस्तर को विशेष रूप से कलुषित कर डाला था और उनके आसुरिक धर्मानुष्ठान के फलस्वरूप जनसाधारण कुपथगामी होकर अनाचार तथा व्यभिचार में लिप्त था। आचार्य इसे जानते थे। इसी कारण

वे कृपालु होकर इन वामाचारियों का संशोधन-कार्य साधन करने के लिए कृतसंकल्प हुए।

तुलाभवानी में रहते समय एक दिन कुछ वामाचारी आचार्य के सामने आये और उन्हें कपटी, पाखण्डी आदि सम्बोधित कर अपशब्द कहने लगे। उन लोगों ने अपने मतवाद की व्याख्या करते हुए कहा--"आप वन्ध्यापुत्र के समान अवास्तविक अद्वैतज्ञान-लाभ में मत्त हुए हैं। जब प्रलयकाल में भी भेदज्ञान रहता है तो अद्वैतज्ञान का स्थान ही कहाँ? जो संसार के आदि कारण हैं वही शिव की विद्यारूपिणी महाशक्ति हैं। हम लोग उन्हीं के उपासक हैं। आप भी उसी मत का अवलम्बन कीजिये। उसी से आपका भी परम कल्याण होगा।"

इतना कहकर अनेक युक्तियों द्वारा अपने मत की वे व्याख्या करने लगे। आचार्य ने धीर भाव से उनकी उक्तियों को सुना। तदनन्तर उन्होंने कहा—"आत्मारहित अनित्य प्रकृति की उपासना से मुक्ति नहीं मिल सकती। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'- —इन्द्र परमेश्वर हैं, माया के द्वारा इन्द्र अनेकानेक रूप धारण कर लेते हैं---इत्यादि श्रुतिवाक्यों से शक्ति के अनेक रूपों की कल्पना की गयी है। जो चिदात्मा हैं वह तो प्रकृति से भी परे हैं। 'ईशानो भूतभव्यस्य'--वह परमात्मा भूत और भविष्यत् के ईश्वर हैं। उस परमात्मा के ध्यान के बिना मुक्ति नहीं होती।. . शास्त्र का विधान है कि ब्राह्मण कभी कलंज (निषिद्ध वस्तु) भक्षण और सुरापान न करे। आप लोग मद्य-मांस का सेवन कर अनार्य हो गये हैं। ब्राह्मण्यधर्म से आप सब भ्रष्ट हो गये हैं। अब आपके लिए ब्राह्मण कहकर अपना परिचय देना अपराध होगा। प्रायश्चित्त करके परब्रह्म में आत्मसमर्पणपूर्वक मुक्ति की चेष्टा

कीजिये ।"

शंकराचार्य के इस प्रकार के सारगर्भित और शास्त्रानुमोदित वाक्य सुनकर उन वामचारियों का मन आत्मग्लानि से भर गया। आचार्य के आदेशानुसार वहाँ के अनेक आचारभ्रष्ट ब्राह्मण प्रायश्चित्त करके अपना अनाचार त्याग कर वर्णाश्रमोचित धर्मानुष्टान में व्रती हो गये। किसी किसी ने अद्वैत मत को ग्रहण किया, किन्तु आचार्य के तुलाभवानी से प्रस्थान करते ही उन वामाचारियों में से अनेक अपने पूर्वमार्ग का अनुसरण करने लगे । ‡

इसके उपरान्त आचार्य रामेश्वर तीर्थ में पहुँचे । रामायण आदि में ऐसा लिखा है कि श्रीरामचन्द्र ने रामेश्वर-मूर्ति की स्थापना की थी और उसी दिन से वह पुण्यतीर्थ समस्त भारत के हिन्दुओं के विशेष आकर्षण का स्थान बन गया । भगवान् शंकर ने भी इस

‡ आचार्य शंकर ने उन वामाचारी तान्त्रिक सम्प्रदाय के संस्कार के लिए जो उपदेश दिये थे उनके अवलम्बन से तान्त्रिकों ने 'तन्त्रावतारक्रम' नामक ग्रन्थ की रचना की थी ।

प्रपंचसार नामक ग्रन्थ में लिखा है कि आचार्य शंकर ही उस तन्त्रावतारक्रम ग्रन्थ के रचयिता हैं । केवल यही नहीं वे और भी कहते हैं कि शंकराचार्य तान्त्रिक साधक थे और शाक्त तथा तान्त्रिक मत की पृष्ठपोषकता करते थे । आचार्य के नाम से जो दक्षिणाचारी तान्त्रिक सम्प्रदाय वर्तमान है उन लोगों का भी दावा है कि शंकराचार्य एक तान्त्रिक साधक थे ।

शंकराचार्य आठ वर्ष की अवस्था में गुरु गोविन्दपाद के शिष्य हुए थे और वहीं हठयोग, राजयोग और ज्ञानयोग का अभ्यास करके अद्वैत-ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित हुए थे । इसके अनन्तर उनके जीवन में तन्त्रसाधना का कोई उल्लेख कहीं नहीं मिलता । कांची में देवी कामाक्षी को शंकराचार्य ने ही स्थापित किया था, वह भी शाक्त सम्प्रदाय के संस्कार के लिए । ऐसा भी हो सकता है कि परवर्ती काल में किसी मठधारी शंकराचार्य ने तान्त्रिक साधना की हो और वह घटना आदि शंकराचार्य के नाम से चली आ रही हो ।

तीर्थ में आकर रामेश्वर-शिव की पूजा की। आचार्य के दर्शन के लिए उस तीर्थ में अनेक यात्रियों का समागम हुआ। पूजार्चना, शास्त्रव्याख्या तथा शिवमाहात्म्य-गान से वह स्थान एक महान् उत्सवक्षेत्र के रूप में परिणत हो गया। वह स्थान आचार्य को बहुत ही अच्छा लगा। किसी किसी जीवनीग्रन्थ में लिखा है कि उस प्रसिद्ध तीर्थ में वे तीन मास तक अपने शिष्यों के साथ रहे थे।

रामेश्वर शैवप्रधान स्थान है। उन्होंने शैव मत का संस्कार-साधन किया तथा शैवों में पंचदेवता की उपासना एवं पंचमहा-यज्ञ के अनुष्ठान को प्रचलित किया था। कुछ शैवमतावलम्बी विद्वानों ने अद्वैत मत ग्रहण भी कर लिया था।

रामेश्वर से शिष्यों के साथ अनेक तीर्थों का दर्शन करते हुए आचार्य श्रीरंगम् आये। उन दिनों उस देश में भक्त, भागवत, वैष्णव, पंचरात्र, वैखानस और कर्महीन ये छः प्रकार के वैष्णव रहते थे। लगभग तीन हजार शिष्यों के साथ यतिराज शंकर के आगमन-समाचार से वहाँ के वैष्णवों में बड़ी हलचल मच गयी। जहाँ भगवान् विष्णु अनन्त शयन में विराजमान हैं उस पवित्र तीर्थ श्रीरंगम् में आकर शंकराचार्य पहले ही श्रीमन्दिर में गये और अत्यन्त भक्ति के साथ देवमूर्ति की पूजा-अर्चना तथा स्तुतिगान करके एक दिव्य भाव में आविष्ट हुए। आचार्य का भक्तिभाव देखकर सभी के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। जिन वैष्णवों के हृदय में आचार्य के प्रति वैरभाव उत्पन्न हुआ था वे भी आचार्य के परम गम्भीर भक्तिभाव को देखकर मुग्ध हो गये। आचार्य शिष्यों के साथ वहाँ रहकर प्रतिदिन देवार्चना आदि में अधिक समय बिताते थे।

तथापि विभिन्न सम्प्रदाय के वैष्णव अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए पृथक् पृथक् रूप से आचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए आये। एक दिन एक वैष्णव-सम्प्रदाय के नेता ने आचार्य से पूछा—"मैं विष्णु के मुद्रादि तथा शंखचक्रादि चिह्नों के द्वारा सुचिह्नित हुआ हूँ। मैं एक परम वैष्णव हूँ। अतः भवबन्धन से मुक्त होकर वैकुण्ठ जाऊँगा। मेरे समान अनेक वैष्णव यहाँ निवास करते हैं। मैंने जो चिह्न धारण किये हैं वे पुराणादि शास्त्रों से अनुमोदित हैं। आप भी क्यों नहीं उन चिह्नों को धारण करते हैं? पुराण में लिखा है—

ये बाहुमूलपरिचिह्नितशंखचक्राः
ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाक्षमालाः।
ये वामललाटफलके सदूर्ध्वपुण्ड्रा–
स्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति ॥" इत्यादि।

वैष्णव की उक्ति सुनकर आचार्य ने कहा—"किन्तु इस विषय में वेद का कोई प्रमाण है?" वेद में लिखा है कि मोक्ष का कारण एकमात्र ब्रह्मज्ञान है (तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय) और पापनाश के लिए कठोर तप तथा चित्त-शुद्धि के लिए भगवान् की पूजा-उपासना वेद के ही विधान हैं। दूसरी ओर बृहन्नारदीय पुराण में तप्तचिह्नधारण का निषेध है। जिस प्रकार शूद्र शिखा-सूत्र धारण करने मात्र से ब्राह्मण नहीं बन जाता यह भी वैसे मनःकल्पना मात्र है। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी चिन्ता करते-करते भेदज्ञान नष्ट हो जाने पर जीव शिवत्व को प्राप्त होता है। देखिये, शिवगीता में लिखा है—'मैं शिव हूँ' इस भावना से जीव शिव के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है। अतः आप भी पंचदेवता की पूजा करके चित्त शुद्ध कीजिये। पंचमहायज्ञ

का अनुष्टान करके पापक्षय कीजिये और मैं विष्णु का अंश हूँ इस प्रकार की भावना द्वारा विष्णुभाव प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हो जाइये।"‡

‡ पंचदेवता हैं--गणेश (मतान्तर में वह्नि), शिव, दुर्गा, नारायण और सूर्य। पंचदेवता की पूजा का पुनःप्रवर्तन सनातन वैदिक धर्म में आचार्य शंकर का विशेष अवदान है। इन पाँच देवताओं में साधक की रुचि तथा संस्कार के अनुसार किसी एक देवता को अपने इष्ट के रूप में और अन्य चार देवताओं को अंगदेवता रूप से पूजा करने की विधि है। इष्ट ही प्रधान है, अन्य देवता सहकारी हैं। इष्ट की सगुण ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर के रूप में उपासना करनी होगी। यही ब्रह्म संसार के निमित्त और उपादान दोनों कारण हैं। उनकी प्रसन्नता से साधक को क्रममुक्ति तथा सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। अन्य देवता पूजा द्वारा प्रसन्न होकर साधक के साधन-विघ्न दूर करते हैं। एक ही ब्रह्म को मायोपहित दृष्टि से सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं, फिर मायारहित दृष्टि से वही निर्गुण ब्रह्म हैं। निर्गुण ब्रह्म जगत् के अध्यासाधिष्ठान हैं। सगुण ब्रह्म निमित्तकारण और उनके शरीरस्थानीय उपाधिरूप माया, जगत् के विवर्त उपादान हैं। एक ही ब्रह्मवस्तु सगुण और निर्गुण भाव से जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान हैं।

यद्यपि वेद में 'त्रयस्त्रिंशत्तु एव देवा:'--(बृहदारण्यक ३।९।२) (एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, इन्द्र और प्रजापति) का उल्लेख है तथापि गणेश, शिव, दुर्गा, नारायण और सूर्य इन पाँच देवताओं को विशेषित क्यों किया गया है यह कहना कठिन है। गणेश, सूर्य और रुद्र (शिव) के अतिरिक्त अधूना प्रचलित पंचदेवता इन तैंतीस देवताओं में नहीं हैं।

गणेश का उल्लेख वेद में मिलता है--"गणानां त्वां गणपतिं हवामहे।"

पंचमहायज्ञ--अध्यापन ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

ब्रह्मयज्ञ--वेदपाठ, वेदाध्ययन। पितृयज्ञ - तर्पण आदि। होम--नित्य अग्निहोत्र तथा नैमित्तिक यज्ञ आदि। बलि--भूतसेवा, गो, पक्षी आदि प्राणियों को भोजन देना। नृयज्ञ--अतिथिसेवा।

आचार्य के इस महान् उदार एवं सारगर्भित उपदेश से वैष्णवाचार्य का हृदय द्रवित हो गया । उन्होंने आचार्यचरणों में वैष्णवोचित विनम्रतापूर्वक प्रणाम करते हुए कहा--"आपका उपदेश अमृततुल्य है । मैं आज से आपका उपदेश पालन करने का प्रयत्न करूँगा ।"

"कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी ।
पंच सूना गृहस्थस्य पंचयज्ञात् प्रणश्यति ।।"

कण्डनी (सूप, ओखली), लोढ़ा या चक्की, चूल्हा, जल का घड़ा, झाड़ू ये पाँच वधस्थान हैं अर्थात् इनके द्वारा अनजान में भी प्राणिहिंसा होती है । पंचयज्ञों के द्वारा यह पाप विनष्ट होता हे । पाप के अनुष्ठान के सम्बन्ध में मनुष्य को सावधान करना और वैसा पाप हो भी जाय तो प्रायश्चित्त के द्वारा मनुष्य को निष्पाप करना ही पंचमहायज्ञ का मुख्य उद्देश्य है, क्योंकि शास्त्र का आदेश है कि 'पुण्येन पापं अपनुदति' और उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता का अभ्यास ही पंचदेवता की उपासना का फल है ।

नित्य पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान द्वारा पाप दूर होने पर मनुष्य का चित्त शुद्ध हो जाता है । वे शुद्धचित्त व्यक्ति उपासना के प्रभाव से एकाग्र होकर इष्टदर्शन के द्वारा क्रममुक्ति प्राप्त करते हैं । अधिकारी-भेद से शुद्धचित्त पुरुष ईश्वरप्रसाद से सद्योमुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं और वह चतुर्वर्गों में मोक्षरूप एक फल है । चित्त उत्तम रूप से शुद्ध न हुआ तो पंचमहायज्ञ करने से जो धर्मार्जन होता है उससे मोक्ष न होने पर भी स्वर्ग आदि लोक की प्राप्ति हो जाती है । यह कामरूप एक फल है । सकाम भाव से इष्टदेवता की उपासना का फल है लोकप्राप्ति । परन्तु पंचमहायज्ञरूप नित्यकर्म का अनुष्ठान न हुआ तो पापक्षय नहीं होता । फलस्वरूप उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता नहीं होती ।

श्रद्धा के न्यूनाधिक्य के कारण कर्म और उपासना विभिन्न प्रकार के अधिकारियों को विभिन्न प्रकार के फल प्रदान करते हैं । श्रद्धा के साथ जो कुछ किया जाय उसकी शक्ति बहुत प्रबल हो जाती है । उपनिषद् का कथन

आचार्य ने भी प्रसन्न होकर उन्हें और भी अनेक प्रकार के तत्त्वोपदेश देकर उनके चित्त को सन्देहमुक्त तथा निर्मल कर दिया। वैष्णवाचार्य द्वारा शंकराचार्य का मत ग्रहण करने से उस सम्प्रदाय के अनेक वैष्णव शंकराचार्य के शिष्य हो गये। अन्याय सम्प्रदायों के वैष्णव लोग भी क्रमशः शंकराचार्य के शिष्य हुए। इस प्रकार लगभग एक मास तक वहाँ रहकर आचार्य ने वहाँ के वैष्णव-समाज को संस्कृत तथा जनसाधारण को धर्मोपदेश द्वारा स्वधर्मपालन के लिए उत्साहित किया।

उस प्रान्त के सभी देवमन्दिरों में सेवा-पूजा आदि का प्रवर्तन करके आचार्य विशेष सन्तुष्ट हुए।

इसके अनन्तर शिष्यों के साथ सुब्रह्मण्यदेश और शुभगणपुरम् आदि तीर्थस्थानों का दर्शन करते हुए आचार्य कांचीपुरम् आये। सभी जगह आचार्य अक्लान्त भाव से धर्मपिपासुओं को धर्मोपदेश देकर प्रत्येक के हृदय में तत्त्वज्ञान-लाभ की आकांक्षा जगा देते थे। तीर्थस्थानों का संस्कारसाधन और तीर्थदेवताओं की महिमा-संकीर्तन भी उनके धर्मसंस्कार के अन्यतम प्रधान कार्य थे।

है "यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छान्दोग्य, १।१।१०)। इस कारण एक ही पंचयज्ञ तथा देवता की उपासना सकाम निष्काम और श्रद्धा के तारतम्य से विभिन्न अधिकारियों को विविध फल प्रदान करती है। इस भाव से निम्न अधिकारी को भोगादि प्रदान करके क्रमशः चित्तशुद्धि-क्रम से साधक को मोक्षमार्ग में चालित करते हैं और अतिथिसेवा, भूतसेवा तथा संयम आदि के द्वारा समाज को भी सुव्यवस्थित करते हैं।

पंचदेवता की उपासना और पंचमहायज्ञ की अनुष्ठानरूप भित्ति पर सनातन वैदिक धर्म सुप्रतिष्ठित है और वे प्रत्येक स्तर के अधिकारी को क्रमशः मोक्षलाभ का अधिकारी बनाते हैं।

अद्वैतवादी आचार्य शंकर ने तीर्थदेवताओं की पूजा-अर्चना करके अधिकारी-भेद से साकारोपासना का भी विशेष प्रयोजन है इसे प्रमाणित कर दिया। इन तीर्थस्थानों में आचार्य ने कार्तिकेय-हिरण्यगर्भोपासक, विभिन्न मतावलम्बी, सूर्योपासक, महागणपति, हरिद्रागणपति, उच्छिष्टगणपति के उपासक आदि विभिन्न मतावलम्बियों का भी संस्कार किया। उनके आगमन से सर्वत्र ही धर्मभाव की एक बाढ़-सी आ गयी। यद्यपि आचार्य अद्वैतवादी थे तथापि उनके भीतर किसी प्रकार की संकीर्णता या कट्टरपन नहीं था। सभी लोग अद्वैततत्त्व-लाभ के योग्य अधिकारी तो नहीं हैं इसे आचार्य अच्छी तरह जानते थे। अतः वे अधिकारी-विचार-पूर्वक अद्वैतज्ञान तथा अद्वैतभाव में आरोहण करने के लिए पूजा-उपासना आदि के प्रति जनसाधारण को उत्साहित करते रहते थे।

* * *

यतिवर शंकर अनेक शिष्यों के साथ अपने राज्य कांचीपुरम् (कांचीवरम्) में आये हैं यह समाचार सुनकर पल्लभ वंश के स्थानीय राजा बन्दीवर्मन् ने उनका ससमारोह स्वागत किया। स्थानीय पण्डितों ने भी आचार्य के प्रति श्रद्धा विज्ञापित की, राजा को अनेक आशीर्वाद देकर आचार्य नगर के बाहर 'एकाम्रकानन' में ठहर गये।

आचार्य के आगमन से चारों ओर भारी हलचल मच गयी। उस प्रदेश में तान्त्रिकों का बोलबाला था। इस कारण उन्होंने भगवती कामाक्षी देवी के यन्त्र की प्रतिष्ठा करके श्रुतिस्मृति-अनुमोदित पूजा का निर्देश दिया। प्रवाद है कि देवी कामाक्षी की मूर्ति के नेत्र इतने तेजःपूर्ण थे कि कोई भी व्यक्ति उनकी ओर एकटक देख नहीं सकता था। इसलिए आचार्य ने देवी का समस्त तेज

उस यन्त्र में आकर्षित कर लिया। यन्त्रप्रतिष्ठा के अनन्तर आचार्य ने राजा से वहाँ एक मन्दिर बनवा देने का अनुरोध किया। मन्दिर का निर्माण-कार्य आरम्भ हो गया। स्थानीय तान्त्रिक लोगों में शक्तिपूजा का प्रवर्तन करने के कारण आचार्य के प्रति विशेष श्रद्धा उत्पन्न हुई। आचार्य के निर्देशानुसार देवीपूजा का भार पूजादि कार्य में पारंगत नैष्ठिक ब्राह्मणों पर सौंपा गया।

कांचीपुरम् अत्यन्त प्राचीन युग से ही एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। वह स्थान दो भागों में विभक्त है---शिवकांची और विष्णु-कांची। श्रीभगवान् शिव और विष्णु रूप से इन दोनों स्थानों में आविर्भूत होकर भक्तों का अभीष्ट सिद्ध करते हैं। शिवकांची में भवानीपति अपनी पृथ्वीमूर्ति में लिंग रूप से प्रकट होकर 'अमरेश' नाम से पूजित होते थे। उस तीर्थस्थान की महिमा सभी दिशाओं में प्रचारित हो गयी थी। किन्तु कालान्तर से वह मन्दिर ध्वस्त हो गया और पूजादि का नाममात्र ही शेष रहा। इस कारण आचार्य शंकर की विशेष इच्छा से मन्दिर का संस्कार-कार्य प्रारम्भ हो गया और यथाशास्त्र पूजा आदि के प्रवर्तन के लिए राजव्यय से नैष्ठिक ब्राह्मण नियुक्त हुए।*

---

* आनन्दगिरि के ग्रन्थ के मतानुसार शिवकांची और विष्णुकांची दोनों ही तीर्थस्थान श्रीशंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित हुए थे। शिवकांची में एकाम्रेश्वर या एकाम्रनाथ तथा भगवती कामाक्षीदेवी की प्रतिष्ठा भी आचार्य ने ही की थी और कामाक्षीदेवी के मन्दिर में ही उन्होंने शरीर छोड़ा था। मन्दिर के आँगन में उनका शरीर समाधिस्थ हुआ था। ... आजकल कामाक्षी देवी के मन्दिर के आँगन में ही एक कोने पर शंकराचार्य का मन्दिर है। वहाँ आचार्य की मूर्ति स्थापित है। आचार्य ने वहाँ शरीर त्याग किया था अथवा उस मन्दिर की स्थापना की थी, किस कारण से वहाँ उनकी मूर्ति स्थापित है कहना कठिन है।

विष्णुकांची की दशा और भी शोचनीय थी। देवस्थान तथा देवपूजा की इतनी दुर्व्यवस्था देखकर आचार्य विशेष व्यथित हुए। श्रीवरदराज विष्णु अति प्राचीन काल से वहाँ प्रतिष्ठित थे। आचार्य ने विशेष प्रयत्नों द्वारा मन्दिर का संस्कार कर श्रीवरदराज की पूजा-अर्चना की ऐसी सुव्यवस्था की जिससे चारों ओर धन्य-धन्य की ध्वनि गूँज उठी। आचार्य का जीवन उदार अद्वैतमत का जीता-जागता उदाहरण था।

इसके अनन्तर सशिष्य आचार्य ताम्रपर्णी, वेंकटाचल और विदर्भ होकर कर्नाट-उज्जयिनी में पधारे। केवल तीर्थस्थान ही नहीं, वे जिस स्थान में भी गये सर्वत्र ही उन्होंने सनातन वैदिक धर्म की पुन:प्रतिष्ठा की। आचार्य ने अपने जीवन, धर्माचरण, तत्त्वोपदेश और उदार शास्त्रव्याख्या द्वारा विरुद्ध भाव दूर कर सर्वत्र धर्मराज्य का संस्थापन किया।

* * *

कर्नाट-उज्जयिनी के राजा सुधन्वा केरल से ही आचार्य का अनुसरण कर रहे थे। राजा के विशेष आग्रह से आचार्य उनके राज्य में धर्मसंस्थापन के लिए आये। वहाँ कापालिक के प्राधान्य की बात आचार्य ने पहले ही सुनी थी। राजोपाधिधारी कापालिक क्रकच ने वहाँ सारे भारत के कापालिकों का प्रधान केन्द्र स्थापित किया था। वह अनेक प्रकार की सिद्धियों और विभूतियों से सम्पन्न उच्चांग का कापालिक था। इसके अतिरिक्त वह विद्वान् ब्राह्मण भी था। इस कारण क्षत्रिय राजा सुधन्वा को उसके कार्य में रुकावट डालने का साहस नहीं होता था। धर्माचरण के नाम से क्रकच अनेक प्रकार के पाशविक कर्मों का अनुष्ठान करने लगा। राजा भी उसकी ब्राह्मण कापालिक-मण्डली से भयभीत थे।

सशिष्य आचार्य का आगमन सुनकर कापालिकराज आचार्य की प्रतिष्ठा घटाने और प्रयोजन होने पर सशिष्य आचार्य का वध करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हुआ और संकल्पानुसार उसने अपनी कापालिक-सेना को भी संघटित कर लिया। आचार्य के आने पर भस्माच्छादित, रक्तवस्त्र-परिहित क्रकच ने एक हाथ में नर-कपाल और दूसरे में परशुयुक्त शूल के साथ संहारमूर्ति में आचार्य के सामने उपस्थित होकर उन्मत्त की तरह अश्लील भाषा से उनका अपमान किया। परन्तु आचार्य ने बहुत ही धीर भाव से शान्त मूर्ति में सब कुछ सह लिया।

गुरुदेव के इस ढंग से अपमानित होने के कारण राजा सुधन्वा विशेष दुःखित हुए। उन्होंने क्रकच को रोकने का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु उससे कोई लाभ न हुआ। फिर राजा ने अपने अनुचरों को आज्ञा दी—"इस दुराचारी को यहाँ से निकाल बाहर करो।"

राजा की आज्ञा सुनकर और अपने को अपमानित समझकर क्रकच ने तीक्ष्ण परशु उठाकर वज्रगम्भीर स्वर से कहा—"यदि मैंने तुम लोगों का सिर न काट लिया तो मेरा क्रकच नाम ही व्यर्थ है।"

क्रोध से आगबबूला होकर वह वहाँ से चला गया और अपने स्थान पर जाकर अपने सेनादल को युद्ध के लिए आज्ञा दी। क्षण भर के बाद ही क्रकच की सेना रणडंका बजाकर शत-शत सिंह के समान तुमुल गर्जन करती हुई तीक्ष्ण त्रिशूल और परशु उठाकर दौड़ती हुई राजभवन की ओर आने लगी। प्राणनाश की आशंका से, आचार्य के शिष्य बहुत ही भयभीत हुए तथा आचार्य को घेरकर खड़े हो गये परन्तु वे बिलकुल ही निर्विकार थे। किसी प्रकार

की भी चंचलता आचार्य के भीतर दिखायी नहीं पड़ी। कापालिक-सेनाओं को आगे आते देखकर राजा सुधन्वा ने अपनी सेना को उन्हें रोकने के लिए आज्ञा दी। स्वयं भी कवच तथा वर्म धारण करके, धनुषबाण लिया और रथारूढ़ हो अग्रसर हुए।

थोड़ी ही देर में दोनों पक्ष की सेनाओं में तुमुल संघर्ष आरम्भ हो गया। सुनियन्त्रित राजसेनाओं के प्रचण्ड आक्रमण का वेग सहन न कर सकने के कारण क्रकच-सेना तितर-बितर हो गयी तथा घायल व्यक्तियों को रणभूमि में छोड़कर भाग खड़ी हुई।

सैन्यों को भागते देखकर अस्त्र-शस्त्रों को छोड़ क्रकच ने अकेले आचार्य के सामने आकर कर्कश स्वर से कहा—"रे दुष्ट, मेरी शक्ति देख, अभी तू अपने दुष्कर्मों का फल भोगेगा।"

क्रकच हाथ में नर-कपाल लेकर ध्यान-मग्न हो गया। देखते ही देखते उसके हाथ का नर-कपाल मदिरापूर्ण हो गया। उसने मदिरा का पान कर संहार-भैरव का आवाहन किया। क्षण भर में विकट शब्द से दसों दिशाओं को प्रकम्पित करता हुआ संहार-भैरव वहाँ आविर्भूत हुआ। क्रकच ने नतजानु हो उसे प्रणाम किया और आचार्य शंकर के प्राणनाश की प्रार्थना की। संहार-भैरव ने उग्र रूप धारण कर कठोर शासन के स्वर में उससे कहा—"रे नराधम, तू मेरा विरुद्धाचरण कर रहा है। शंकर मेरा ही अंश-सम्भूत है। तूने इनका अपमान किया है। इसका उचित दण्ड मैं अभी तुझे देता हूँ।" इतना कहकर संहार-भैरव ने क्रकच का सिर काट डाला। ‡

‡ आनन्दगिरि-रचित 'शंकरविजय' ग्रन्थ में राजा सुधन्वा के साथ कापालिकों के युद्ध का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु कापालिकों की सेना के आक्रमण से शिष्यों की रक्षा करने के लिए आचार्य ने गम्भीर हुंकार-ध्वनि की थी। उस हुंकार से निकली हुई अग्नि में क्षण भर के भीतर ही सारे

यह देखकर आचार्य प्रणिपात कर संहार-भैरव की स्तुति करने लगे। स्तुति से सन्तुष्ट होकर शंकराचार्य को आशीर्वाद देते हुए भैरव अन्तर्हित हो गये। आचार्य की महिमा समझ सकने के कारण अन्य कापालिकों ने आचार्यचरणों की शरण ली। करुणानिधान आचार्य ने उन्हें क्षमा प्रदान की तथा अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों द्वारा शुद्धि कराकर उन्हें तत्त्वोपदेश दिया। आचार्य के उपदेश से कापालिक लोग व्यभिचार छोड़कर सन्ध्यावन्दन, पंचदेवता की पूजा तथा पंचमहायज्ञानुष्ठान में रत हुए। क्रकच के मरने के साथ ही साथ उस प्रान्त के दुराचारी कापालिकों की प्रधानता विलुप्त-प्राय हो गयी तथा वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हुई।

कापालिकों के उद्धार-साधन के अनन्त आचार्य कर्नाटक के मल्लपूर, मरुंघनगर आदि अनेक स्थानों में होते हुए चार्वाक्, सौगत, क्षपणक, जैन, बौद्ध, कुक्कुर-सेवक, विष्वक्सेन उपासक तथा कामदेवमतावलम्बियों का संस्कार करके क्रमशः आन्ध्रप्रदेश की ओर अग्रसर हुए। इस प्रकार के विभिन्न मतावलम्बियों की संख्या नितान्त अल्प नहीं थी और उन मतवादियों का प्रभाव भी विशेष था। सर्वत्र ही आचार्य को उस प्रकार के मतवादी पण्डितों साथ शास्त्रार्थ भी करना पड़ा था। सभी ने आचार्य की शक्ति की परीक्षा की थी। निर्विवाद किसी भी मतवादी ने आचार्य के सामने आत्म-

---

कापालिक सैनिक वज्राहत की तरह धराशायी हुए थे।

फिर किसी जीवनीग्रन्थ में ऐसा भी वर्णित है कि क्रकच की प्रार्थना से संहार-भैरव ने आविर्भूत होकर क्रकच को ही आदेश दिया, "दुष्टों तथा विपथगामियों को दण्ड देने के लिए ही संसार में आचार्य का आविर्भाव हुआ है। तुम लोग उनके शरणागत होकर उनकी पूजा करो।" भैरव के निर्देश से भयभीत होकर शिष्यों सहित क्रकच ने आचार्य की शरण ली। आचार्य ने भी उन्हें क्षमा करते हुए शिष्य बना लिया।

समर्पण नहीं किया। विभिन्न मतवादियों के साथ आचार्य के जो शास्त्रविचार हुए थे उनका विस्तृत विवरण अनेक जीवनीग्रन्थों में उल्लिखित हैं। स्थानाभाव के कारण उनका वर्णन नहीं दिया।

आचार्य जहाँ भी गये सर्वत्र ही अनेक विपथगामियों ने उनकी उदार धर्मव्याख्या सुनकर वैदिक धर्म का माहात्म्य समझा। आचार्य की शिक्षा और कृपा से कोई भी वंचित नहीं हुआ। वे अपने आध्यात्मिक जीवन तथा शक्ति के बल से सभी के अन्तर में सत्यलाभ की आकांक्षा जगा देते थे। उनका उपदेश सुनकर विरुद्ध मतावलम्बियों के मन में भी परिवर्तन आ जाता था। फलस्वरूप सनातन धर्म को ही अनन्य मन से ग्रहणपूर्वक श्रेयःप्राप्ति का एकमात्र मार्ग समझकर वे उन्हीं का अनुसरण करते थे। जो लोग कुमार्ग के कण्टकों से विद्ध, अन्धविश्वास से प्रपीड़ित तथा संकीर्णदृष्टि थे, उनके हृदय में आचार्य शंकर शान्ति का अमृत सिंचन करते तथा दिव्य ज्योति जगा देते थे। आचार्य ने ऐसे उदार सनातन हिन्दू धर्म के वार्तावह के रूप में सारे धर्मभूमि भारत का परिभ्रमण किया था, जिस धर्म में सभी को समान स्थान था। उन्होंने किसी को भी वंचित नहीं किया। उनके अन्तर में जो अपार क्षमा, दया, विज्ञता, परोपकार-प्रवृत्ति, भक्तिभाव, विनय, दृढ़ता, धैर्य, स्थैर्य, गुणग्राहिता और सर्वोपरि परकल्याण-चिकीर्षा का विशेष विकास हुआ था, उसके संस्पर्श से कोई भी वंचित नहीं हुआ। उनकी दृष्टि में कोई भी अयोग्य नहीं था। उन्होंने शान्ति की शीतल स्नेहछाया देकर सब को आश्वस्त किया।

आचार्य शंकर जैसे उदारपन्थी संस्कारक को पाकर सनातन धर्म नवजीवन लाभ करके उज्जीवित हो उठा तथा वह शतशत वर्षों का स्थायित्व प्राप्त करके समग्र मानवजाति के कल्याण-साधन

की क्षमता अर्जित कर सका।

आन्ध्रप्रदेश के अनेक स्थानों का भ्रमण कर आचार्य ने अद्वैत-ब्रह्मात्मविज्ञान का प्रचार किया। ‡ उसके बाद कलिंगदेशवासियों के अनुरोध से वे उस देश के कुपथगामियों के संस्कार-साधन में प्रवृत्त हुए। सर्वत्र ही अनेक व्यक्ति आचार्य के व्यक्तित्व तथा उदार शास्त्रव्याख्या के द्वारा विशेष प्रभावित हुए। आचार्य क्रमशः पुरी-धाम में आये कलिंगराज ने अपने मन्त्रियों के साथ पूज्य-यतिवर का स्वागत किया। राजा को आशीर्वाद देकर वे श्रीमन्दिर में गये और उन्होंने यथाशास्त्र पूजा-अर्चनादि भी की। मन्दिर में कोई विग्रह प्रतिष्ठित नहीं था। शालग्रामशिला पर ही श्रीविष्णु भगवान् की पूजा होती थी।

आचार्य अपने प्रधान शिष्यों के साथ मन्दिर के प्रांगण में ही टिक गये। उनके अनुयायियों के रहने का प्रबन्ध समुद्रतट पर

---

‡ आचार्य के प्रथम परिव्राजक-जीवन तथा दिग्विजय-यात्रा का कोई धारा-वाहिक पौर्वापर्य निर्णय करना कठिन है। अनेक मनुष्यों के हाथ में पड़ने के फलस्वरूप उन घटनाओं की पूर्वापरसंगति रक्षित नहीं हो सकी और उससे आचार्य-जीवन की अनेक गौरव-घटनाओं का इतिहास ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया है। हम लोगों ने वर्तमान ग्रन्थ में राजेन्द्रचन्द्र घोष द्वारा रचित 'आचार्य शंकर और रामानुज' ग्रन्थ की धारावाहिकता का प्रायः अनुसरण किया है। किसी जीवनीग्रन्थ में दिखायी पड़ता है कि आचार्य के साथ वेद-व्यासजी का विचार-परामर्श काशी में ही (उत्तरकाशी में नहीं) सम्पन्न हुआ था। जिस अलौकिक घटना के अवलम्बन से आचार्य के प्रधान और प्रथम संन्यासी शिष्य सनन्दन गुरुकृपा के बल से पद्मपाद नाम से विभूषित हुए थे उस घटना का स्थान भी बदरिकाश्रम की व्यासगुफा या तुषारावृत्त अलकनन्दा नदी नहीं बल्कि विश्वेश्वर अन्नपूर्णा का स्थान——वाराणसी तथा भागीरथी-गंगावक्ष था।

हुआ। श्रीमन्दिर में श्रीजगन्नाथदेव का भी कोई विग्रह नहीं था। शालग्रामशिला पर ही देवता की पूजा-अर्चना देखकर आचार्य बहुत ही चिन्तित हुए। एकाएक उनका इस प्रकार भावान्तर देखकर पद्मपाद आदि शिष्य बहुत ही उद्विग्न हो उठे। क्रमशः आचार्य गम्भीर ध्यान में तल्लीन हो गये। बहुत देर बाद ध्यान भंग होने पर उन्होंने पुजारियों से मन्दिर में श्रीविग्रह के न रहने का कारण पूछा। बहुत ही खेद के साथ उन लोगों ने बताया कि पहले किसी समय विधर्मियों के लुण्ठन के भय से काष्ठमय विग्रह स्थानान्तरित किया गया था और जगन्नाथदेव की रत्नपेटिका चिल्काह्रद के तीर पर किसी स्थान में गाड़ रखी गयी थी।† किन्तु बहुत दिनों के उपरान्त उस स्थान का पता न लगा सकने के कारण उस रत्नपेटिका का उद्धार करना सम्भव नहीं हुआ। उस समय से ही शालग्रामशिला पर पूजा-अर्चना होती आ रही है।

आचार्य ने क्षण भर तक चिन्तामग्न रहकर पुजारियों से कहा--"रत्नपेटिका का पुनरुद्धार यदि सम्भव हुआ तो क्या आप लोग श्रीजगन्नाथदेव के विग्रह को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए तैयार हैं?"

आचार्य की बात सुनकर पुजारियों ने उल्लास के साथ कहा--"हम लोग कृतार्थ होंगे, अपने को धन्य मानेंगे। जगन्नाथदेव की कृपा से ही आपका शुभागमन हुआ है। आपकी अलौकिक शक्ति

---

† किसी के मत में 'कालयवनों' के अत्याचार के समय वहाँ के पण्डों ने जगन्नाथविग्रह के उदर-मध्यस्थ रत्नपेटिका की रक्षा के लिए उसे चिल्काह्रद के तीर में गाड़ दिया था। और भी प्रवाद है कि बौद्धों के अत्याचार के समय वह काष्ठमूर्ति मन्दिर से हटा दी गयी थी। उसके अनन्तर किसी राजा की सहायता से एक लाख शालग्रामशिलाएँ प्रतिष्ठित करके उसी वेदी में भगवान् की पूजार्चना होने लगी।

की बात हम लोगों ने सुनी है। कृपापूर्वक वह रत्नपेटिका कहाँ है बता दीजिये। हम उसकी पूजा करके कृतार्थ हो जायें।"

पुजारियों का हार्दिक आग्रह तथा उत्सुकता देखकर आचार्य प्रसन्न होकर बोले—"आप लोगों की शुभेच्छा श्रीभगवान् अवश्य ही पूर्ण करेंगे।"

इसके अनन्तर आचार्य ध्यानमग्न हो गये। बहुत समय बीत गया। पुजारी लोग उत्कण्ठित भाव से प्रतीक्षा करने लगे। आचार्य रत्नपेटिका का उद्धार कर देंगे यह अलौकिक समाचार चारों ओर फैल गया। दल के दल लोग वहाँ समवेत होकर सौम्य यतिवर के ध्यानभंग होने की प्रतीक्षा करने लगे।

ध्यान से जगकर आचार्य ने गम्भीर स्वर में कहा—"चिल्काह्रद के पूर्वतट पर सब से बड़े बरगद के नीचे उत्तरांश में रत्नपेटिका प्रोथित है। उस स्थान को खोदने से ही उसका उद्धार होगा।"

चारों ओर लोगों की जयध्वनि गूँज उठी। आचार्य के वाक्य को दैववाणी समझकर पुरी के निवासियों के आनन्द की सीमा नहीं रही। तुरन्त राजकर्मचारियों के साथ पण्डे-पुजारी दीर्घ काल से लुप्त रत्नपेटिका के उद्धार के लिए चिल्काह्रद की ओर दौड़ पड़े। यथासमय पुरी के निवासी चिल्कातट पर आ पहुँचे। तीरस्थ बृहत् बरगद के नीचे की मिट्टी खोदते ही वह रत्नपेटिका मिल गयी। सभी लोग आनन्द से प्रफुल्लित हो उठे। गाजे-बाजे के साथ वह रत्नपेटिका लायी गयी। श्रीक्षेत्र में आनन्द का मेला-सा लग गया। दूरदूरान्तर से हजारों नरनारी आचार्य के दर्शनार्थ वहाँ आने लगे। काष्ठ की मूर्ति भी बनायी गयी। एक शुभ मुहूर्त में अगणित नरनारियों की जयध्वनि और आनन्द-उल्लास के बीच यथाविधि अभिषेक और पूजा समाप्त करके सूर्याग्नि-सदृश दिव्य

पुरुष जगन्नाथ रूप में पुरी के श्रीमन्दिर में प्रतिष्ठित हुए।*

---

* साधारण लोगों की यही धारणा है कि आचार्य शंकर तथा उनके मतावलम्बी अद्वैतवादी ईश्वर का अस्तित्व अंगीकार नहीं करते! परन्तु शंकराचार्य के जीवन तथा उनके द्वारा रचित भाष्यादि से यह दिखायी पड़ता है कि वे पूर्ण रूप से ईश्वरविश्वासी, भगवान् के ऊपर निर्भरशील तथा कृपाप्रार्थी थे। ईश्वर ही जगत् के अभिन्न निमित्त-उपादान कारण हैं—ब० सू० प्रकृत्यधिकरण इत्यादि स्थान में भी शारीरकभाष्य द्वारा यह जाना जाता है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही जीव के शुभाशुभ-कर्मफलदाता और मोक्षप्रदाता हैं।

अद्वैत-वेदान्ती इतने ही ईश्वरनिर्भरशील होते हैं कि वे विनश्वर कर्म की फलप्राप्ति के लिए नैयायिक और मीमांसक जैसी अपूर्व या अदृष्ट सत्ता को अंगीकार नहीं करते।

जीव और ब्रह्म की अभिन्नता-ज्ञान से ही जीव कि अविद्या का आत्यन्तिक नाश तथा मोक्षप्राप्ति होती है। इस एकत्वज्ञान-लाभ की इच्छा भी अद्वैतवादी के मत से ईश्वर की इच्छा बिना साधक के मन में उदित नहीं होती। सायणभाष्य में दिखायी पड़ता है कि "ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैत=वासना।" पुनः आचार्य शंकर ने भी शारीरकभाष्य में लिखा है "तदनुग्रह-हेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिः"—जीव-ब्रह्म के एकत्वज्ञान-बल से ही मोक्षसिद्धि होती है। परन्तु वह एकत्वानुभूति परमेश्वर के अनुग्रह बिना सम्भव नहीं है। अर्थात जीवब्रह्म-एकत्वज्ञान भी ईश्वर की कृपासापेक्ष है।

अपने को सम्पूर्ण रूप से भूलकर परमप्रेमस्वरूप परमेश्वर की अनुरक्ति में तल्लीन हो जाने को भक्ति कहा जाता है। आचार्य शंकर पूर्णतया ईश्वर-भक्त थे और भगवत्शक्ति के विकासस्वरूप विभिन्न देव-देवियों में भी उनका पूर्ण विश्वास था। भक्तिमार्ग ही सर्वसाधारण के कल्याण का प्रशस्त मार्ग है यह जानकर उन्होंने अखण्ड भारतवर्ष में अनेक मन्दिर तथा देवस्थान-निर्माण, विविध देवदवीमूर्तिप्रतिष्ठा तथा पूजार्चना का प्रवर्तन किया था।

यह कहना कि आचार्य शंकर ईश्वर को स्वीकार नहीं करते थे, उनके साथ घोर अविचारपूर्ण कृत्य होगा।

शिष्यों के साथ आचार्य उस देवविग्रह के प्रतिष्ठाकार्य में सहयोग देकर विशेष आनन्दित हुए। वे भुवनमंगल 'जगन्नाथ-स्वामी' अपनी परम करुणामयी कृपादृष्टि लेकर लोगों के कल्याणार्थ श्रीमन्दिर में विराजमान हुए। साथ ही आचार्य की महिमा भी सर्वत्र घोषित हुई। पुरी के मन्दिर में यथाशास्त्र पूजा का प्रवन्ध कर आचार्य प्रसन्न चित्त से मगध-राज्य की ओर अग्रसर हुए।

ग्यारह

मगध के रास्ते में मगधपुर, यमस्थपुर आदि अनेक नगर होते हुए तथा दिग्विजय करते हुए आचार्य मगध राज्य के भीतर से क्रमशः त्रिवेणी-संगम पर स्थित तीर्थराज प्रयाग की ओर अग्रसर हुए। मगध में उन दिनों भी यथेष्ट बौद्धप्रभाव था। किन्तु बौद्धाचार्य लोग आचार्य का प्रभाव सहन न कर सकने के कारण जहाँ-तहाँ छिप गये थे। किसी ने भी आचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं किया। वरन् सभी स्थानों में अनेक मनुष्य आचार्य के दर्शन और उनके श्रीमुख से शास्त्रव्याख्या-श्रवणहेतु एकत्र हो जाते थे। वे अक्लान्त भाव से सभी की धर्मजिज्ञासा का समाधान करते थे। अनेक भ्रान्त मतावलम्बियों के साथ भी आचार्य का शास्त्रविचार हुआ था। उनमें कुबेर-उपासकों, इन्द्रोपासकों और यमोपासकों के नाम उल्लेखनीय हैं। ये विभिन्न मतावलम्बी उपासक यद्यपि भ्रान्त पथ का अवलम्बन कर अपने अपने साधन-मार्ग में चल रहे थे तथापि वे सभी वेद-विश्वासी थे और अपने

मत को वेदानुगत मानते थे। साथ ही अपना परिचय भी वे हिन्दू शब्द से ही देते थे। आचार्य ने विशेष धैर्य के साथ अनेक मतों का विवरण सुनकर यथायोग्य संशोधन कर दिया था।

आचार्य के जीवन-ग्रन्थ से यमोपासकों के साथ उनका जो शास्त्रार्थ हुआ था उसे आंशिक रूप से यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। यमस्थपुर में अनेक यमोपासकों का निवास था। उनकी भुजाओं में भैंस तथा तपे लोहे के चिह्न थे। यम के ये अनुचर भयंकर रूप-वाले थे तथा सदैव नाचते रहना ही उनका स्वभाव था।

एक दिन यमोपासकों के ब्राह्मण नेता ने शिष्यों के साथ नृत्य करते हुए आचार्य से आकर कहा—"यतिवर, हम यम के उपासक हैं। हमारे आराध्य देवता ही सृष्टि-स्थिति-प्रलय के कर्ता हैं। केवल वही जीव को मुक्ति दे सकते हैं। वेद में भी लिखा है—'यमाय सोमम्' इत्यादि। वही एकमात्र यज्ञभोक्ता हैं। अतः यम ही एकमात्र परम ब्रह्म हैं। यम के शुक्ल और कृष्ण दो रूप हैं। जो शुक्ल हैं वही परब्रह्म हैं—'यत् शुक्लं तत् परं ब्रह्म'—यह श्रुति-वाक्य ही उसका प्रमाण है। वही निर्गुण ब्रह्म हैं, उन्होंने ही महत्-तत्त्व तथा ऐश्वर्य आदि के साथ रुद्रावतार की भी सृष्टि की थी। इस रुद्र से ही विष्णु नामक यम की उत्पत्ति हुई। इनके नाभि-कमल से रक्तवर्ण ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं और वे ब्रह्मा ही आठ दिक्पालों, सूर्यादि ग्रहों एवं चराचर विश्व के जनक हैं। यम ही लोकशिक्षार्थं दण्ड हाथ में लिये भैंसे पर सवार होकर चारों ओर विचरण करते हैं। यह यम ही सत्यस्वरूप तथा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव हैं। यही सब पदार्थों के आदिकारण हैं। कोई भी निर्गुण की उपासना नहीं कर सकता। इसलिए हम लोग कृष्णवर्ण यम की उपासना करते हैं। इनकी उपासना से मूल अज्ञान का नाश

होता है। अज्ञान के नष्ट होने से यम ही सर्वमय हैं ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। तदनन्तर शुक्लवर्ण यम के रूपातीत स्वरूप मोक्ष का लाभ होता है। आप लोग भी मोक्षार्थी हैं। अत: अनन्य चित्त से यम की उपासना कीजिये। फलस्वरूप मोक्षलाभ होगा।"

आचार्य ने धीर भाव से यमोपासकों की बात सुनकर मधुर स्वर से कहा--"आप लोग श्रुतिविरुद्ध बात कह रहे हैं। कठोपनिषद् की बात याद कीजिये। उसमें लिखा है यम ब्रह्म नहीं हैं। फिर मार्कण्डेय पुराण में आप देखेंगे--भक्तवत्सल महादेव ने यम को पीड़ित कर उनके हाथ से अपने भक्त की रक्षा की। शिवरात्रि में जागरण के फलस्वरूप सुन्दर नामक भक्त को शिवदूतों ने यमदूतों के हाथ से बचाया था। और भी देखिये चिह्नधारण कभी मुक्ति का हेतु नहीं हो सकता। मुक्ति का हेतु तो है ज्ञान--आत्मा का स्वरूपावबोध। आप लोग चिह्न को छोड़कर अद्वैत-ब्रह्म-परायण हो जाइये। यम को देवताविशेष जानकर निष्काम भाव से उनकी उपासना कर सकते हैं तो उससे चित्तशुद्धि में सहायता होगी। चित्तशुद्धि के बिना ब्रह्मात्मज्ञान दृढ़ नहीं होता। इस कारण चित्तशुद्धि के द्वाररूप वेदोक्त कर्मानुष्ठान करने से आप लोगों का कल्याण होगा। चित्तशुद्धिक्रम से ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित होने से ही मुक्तिलाभ सम्भव होता है। केवल देवोपासना के द्वारा मुक्ति नहीं होती।"

आचार्य के युक्तिपूर्ण दिव्य उपदेश सुनकर यमोपासकों का चित्त द्रवित हो गया। उन्होंने आचार्यचरणों की शरण ली और ब्रह्म-ज्ञानलाभ के उपायरूप चित्तशुद्धि के लिए पंचदेवता की पूजा तथा पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान में अनुरागी हुए। आचार्य के आदेश से उनके ब्राह्मण शिष्यों ने यमोपासकों की शुद्धि करके उन्हें पूजा-

विधि की शिक्षा दी तथा व्रत-परायण कर लिया। लगभग एक मास तक उस स्थान में रहकर आचार्य ने यमोपासकों का धर्म-जीवन भूमानन्द-लाभ के मार्ग में संचालित किया।

* * *

यमस्थपुर में आचार्य को आशातीत सफलता मिली। अनेक व्यक्तियों ने उनके व्यक्तित्व के अमोघ प्रभाव का अनुभव किया था।

शंकराचार्य के आगमन के समय सारे भारत में हिन्दू धर्मावलम्बियों का धर्मजीवन विविध भ्रान्तियों तथा मलिनताओं से आच्छन्न हो गया था। बौद्ध धर्म के प्रचण्ड आघात के फलस्वरूप कर्मकाण्ड-बहुल वैदिक धर्म प्रायः विलुप्त हो गया था। जनसाधारण में वेद के प्रति आस्था नहीं रह गयी थी। बौद्ध सम्प्रदाय वेदनिन्दक था। चार्वाकों के साथ वे भी कहते थे—'त्रयो वेदस्य कर्तारः भण्ड-धूर्तनिशाचराः।' ब्राह्मण लोग वेदानुग न होकर केवल आचार मात्र के अवलम्बन से अपने धर्मजीवन की किसी प्रकार रक्षा कर रहे थे।

आचार्य शंकर को हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मत के लगभग ८० प्रधान सम्प्रदायों के साथ शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होना पड़ा था। बौद्धों और जैनों की बात छोड़ देने पर भी हिन्दू धर्मावलम्बी लोग यथार्थ वैदिक धर्म से विच्युत होकर अनेक संकीर्ण मतवादों में विभक्त हो गये थे। उसका प्रधान कारण था बौद्धप्रभाव के फलस्वरूप वेद में अनास्था हो जाना। परन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि प्रत्येक भ्रान्त मतावलम्बी हिन्दू अपने अपने मत को अभ्रान्त, वेदानुगामी तथा परम सत्य की प्राप्ति का एकमात्र पथ समझता था। जिस वेद के अवलम्बन से सनातन हिन्दू धर्म की अनेक शाखाओं और मतवादों की उत्पत्ति हुई थी वह वेद ही विस्मृति

के अतल तल में निमज्जित हो गये थे। सैकड़ों वर्षों तक बौद्धों के अपप्रचार के फलस्वरूप वेद के आप्तत्व और नित्यत्व के सम्बन्ध में हिन्दुओं के मन में संशय उत्पन्न हो गया था। इस कारण 'काण्डच्युत' शाखा-प्रशाखाओं की तरह हिन्दू धर्म के विभिन्न मतवाद वेदरूप जीवनस्रोत से विच्छिन्न हो गये थे। धर्मसाधन प्रायः बाहरी चिह्नधारण, आचार-अनुष्ठान और कृच्छ्रसाधन में परिणत हो गया था। शंकराचार्य के जन्म के पूर्व हिन्दू धर्मावलम्बी लोगों ने वैदिक आचार से भ्रष्ट होकर विविध प्रकार के विकृत धर्मों का आश्रय ग्रहण कर लिया था।

आचार्य शंकर ने वेद की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा और हिन्दू धर्म के सभी मतवादों का संस्कार करके जनसमुदाय को वेदानुगामी कर लिया था। वेद का प्रचार भी उनका अन्यतम प्रधान अवदान है।

* * *

आचार्य शंकर क्रमशः प्रयाग की ओर अग्रसर होने लगे। कुछ वर्ष पूर्व वे वेदव्यास द्वारा आदिष्ट होकर कुमारिल भट्ट को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिए प्रयाग आये थे। उस घटना का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उस समय आचार्य सम्पूर्णतया भिन्न मार्ग से यहाँ आये थे और थोड़े समय तक ही यहाँ ठहरे थे। वे भट्टपाद के निर्देशानुसार तुरन्त प्रयाग छोड़कर मण्डन मिश्र से मिलने के लिए माहिष्मती की ओर चल दिये थे। उस समय उनके लिए प्रयागतीर्थनिवास अथवा प्रयाग की जनता के धर्मभाव से परिचित होने का अवसर नहीं मिला था। इस बार त्रिवेणीसंगम के प्रयाग-तीर्थ में संगमस्थल के पास ही आचार्य रहने लगे तथा वहाँ प्रतिदिन तीर्थकृत्यादि करते हुए समवेत जनसमूह को धर्मोपदेश देते थे।

आचार्य के शुभागमन से चारों ओर विशेष हलचल दिखायी पड़ने लगी। आडम्बर-रहित एक तरुण संन्यासी का अनुगमन तीन हजार से भी अधिक मनुष्य कर रहे थे। फिर उनमें बहुतसे गण्यमान्य ब्राह्मण विद्वान् भी थे। वह एक अपूर्व दृश्य था। मानो वे विभिन्न नदियों के संगमस्वरूप सचल समुद्र हों!

अति प्राचीन काल से ही प्रयाग केवल तीर्थराज ही नहीं, धर्म और संस्कृति का एक सुप्रतिष्ठित केन्द्र भी रहा है। अनेक मतावलम्बी धर्मप्राण हिन्दू मुक्तिकामना से इस पवित्र तीर्थ की सेवा करके अपने ढंग से अत्यन्त निष्ठा के साथ धर्मसाधना करते थे। जिस समय आचार्य प्रयागतीर्थ में पधारे उस समय इस पुण्यतीर्थ की आध्यात्मिक स्थिति बहुत ही ऊँचे स्तर पर थी। इस स्थान पर जिन विभिन्न मतावलम्बियों का निवास था उनमें वायु, वरुण, भूमि, तीर्थ तथा मनुलोक के उपासक, आकाश और वराह मन्त्रोपासक, गुणवादी, परमाणुकारणवादी तथा सांख्यमतावलम्बियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक मतावलम्बी अपने अपने मत को वेदानुसारी तथा मोक्षलाभ का एकमात्र मार्ग समझता था।

सनातन वैदिक धर्म ने स्मरणातीत काल से भारतवासियों के धर्मजीवन पर कितने प्रकार से और कहाँ तक प्रभाव विस्तार किया था यह जानकर विस्मित और चमत्कृत होना पड़ता है। परम करुणावरुणालय भगवान् ने मानो उन विभिन्न मतों के साधकों के प्रति कृपालु होकर उनके जीवन को प्रकृत धर्मालोक से उद्भासित तथा पूर्णांग करने के लिए अपने ही अंश से उत्पन्न आचार्य शंकर को प्रयाग में उपस्थित कर दिया था।

आचार्य के आगमन-समाचार से विभिन्न मतों के पण्डित लोग अपने अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए उनसे शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त

हुए। असीम धैर्य के साथ उन्होंने क्रमशः सभी के मत सुन लिये और सब को शास्त्र और युक्ति के द्वारा बहुत धीरता से उनके मतों की अपूर्णता समझा दी। इससे उनकी विजय की आकांक्षा शान्त हो गयी। केवल यही नहीं, आचार्य शंकर ने प्रत्येक मत की पूर्णता का भी विधान किया और मोक्षप्राप्ति के एकमात्र द्वार अद्वैत-ब्रह्मतत्त्व का उपदेश देकर उन्हें परितृप्त किया। उन्होंने और भी कहा कि, सगुण ब्रह्म की उपासना तथा विभिन्न मतों के साधन, शास्त्र के अनुशासन के अनुसार सकाम भाव से अनुष्ठित होने पर उससे कामनानुसार लोकादि रूप फलप्राप्ति होती है और निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर उससे चित्तशुद्धि होती है। शुद्धचित्त पुरुष के अन्तर में सत् चित् और आनन्द रूप अद्वैतब्रह्म का परम प्रकाश होता है तथा उस अद्वैत-ब्रह्मात्मविज्ञान में प्रतिष्ठित होने पर सर्व दुःखों से मुक्ति होती है। अतः हरएक मत की साधना अद्वैत ज्ञान में आरोहण करने का सोपानरूप है।

* * *

विभिन्न मतवादियों के साथ आचार्य का जो शास्त्रार्थ हुआ था वह बहुत ही गम्भीर और गुरुत्वपूर्ण था। वे मत अतिप्राचीन काल से प्रतिष्ठित और आचरित होते आये हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। वे मत किसी न किसी ऋषितुल्य सिद्धपुरुष के द्वारा प्रवर्तित हुए थे तथा अनेक मनुष्य उन मतों का आश्रय लेकर अपने धर्म-जीवन को गठित करते थे--यह भी स्पष्ट ही प्रतिभासित हो जाता है। विस्तार-भय से उन विचारों का सन्निवेश इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं हो सकता। केवल यहाँ सांख्यमतावलम्बियों के साथ आचार्य का जो शास्त्रीय विचार हुआ उसे ही संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

एक दिन सांख्यमतावलम्बियों के नेता आये और यतिवर की वन्दना करके बोले--"आचार्यप्रवर, हम प्रकृतिवादी हैं, सांख्य मत का अनुसरण करते हैं। हमारे मत में प्रधान या प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है। मनुसंहिता आदि स्मृति हमारे इस मत के समर्थक हैं। गुणों की साम्यावस्था ही प्रधान या प्रकृति है। उससे ही महत्तत्त्व आदि आविर्भूत होते हैं। वह प्रकृति अव्यक्त होकर भी व्यक्त हो जाती है। यह संसार उसी की अभिव्यक्ति मात्र है। इस कारण विश्व-ब्रह्माण्ड में प्रकृति ही एकमात्र परात्पर है। उसकी प्रसन्नता से ही जीव को मुक्ति मिलती है।"

आचार्य ने यह सुनकर कहा--"आपने जो कहा है वह वेदविरुद्ध है। स्मृति का जो अंश वेदानुकूल है वही प्रामाणिक तथा ग्रहणीय है। श्रुतिविरुद्ध होने पर स्मृति प्रामाणिक नहीं होती। प्रधान या प्रकृति वेदानुकूल न होने से जगत् का कारण नहीं बन सकती। श्रुति में सृष्टि के वर्णन में लिखा है कि उन्होंने ईक्षण द्वारा संसार की सृष्टि की है। ईक्षण या दर्शन चेतन में ही सम्भव है। जड़ प्रकृति में वह कदापि सम्भव नहीं हो सकता। सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही चेतनपुरुष हैं। अतएव ब्रह्म ही एकमात्र जगत् के कारण हैं। प्रधान या प्रकृति जगत् का कारण नहीं हो सकती। अतः मैं आपसे कहता हूँ कि आप अद्वैत-ब्रह्मनिष्ठ हो जाइये और उससे ही मोक्षप्राप्ति भी सम्भव होगी।"

आचार्य की बात सुनकर सांख्यमतावलम्बी ने नयी युक्ति की अवतारणा करके कहा--"यतिराज, श्रुति में ही तो प्रधान का उल्लेख देखने में आता है। कठोपनिषद् में है--'अचिन्त्यम् अव्यक्तम् अरूपम् अव्ययम्'। यह अव्यक्त ही प्रधान या प्रकृति है। यही तो श्रुति का भी अभिप्राय है।"

इसके उत्तर में आचार्य ने कहा—"नहीं, वैसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि वेद अव्यक्त शब्द से ब्रह्म को ही अभिव्यक्त कर रहा है। इसके अतिरिक्त सत्त्वादि तीन गुणों की साम्यावस्था ही जब प्रकृति है और ईक्षणादि कार्य के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है तो वह ज्ञान इस प्रकार की जड़ प्रकृति में कैसे सम्भव है ?"

तदनन्तर और भी अनेक अकाट्य युक्तियों की अवतारणा करके आचार्य ने कहा—"यदि आप मोक्षलाभ चाहते हैं तो यह भ्रान्त मत छोड़कर अद्वैतज्ञान का आश्रय लीजिये। उसके अतिरिक्त मुक्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।"

आचार्य की बलिष्ठ युक्ति के सामने सांख्यमतावलम्बी ने सिर झुका लिया तथा उनका शिष्यत्व स्वीकार कर अद्वैत-ब्रह्मविद्या-लाभ के लिए उपदेश-प्रार्थी हुआ।

आचार्य शंकर ने प्रयाग के अनेक मतावलम्बियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उनकी अलौकिक प्रतिभा के समक्ष कोई भी अपने मत की प्रतिष्ठा नहीं कर सका। इस प्रकार उन्होंने प्रयाग में लगभग तीन मास व्यतीत कर सबके सामने वेद की अपौरुषेयता तथा अद्वैत-ब्रह्मात्मविज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। अनेक साधक, यति, तपस्वी, ब्राह्मण तथा पण्डित आचार्य के शिष्य बनकर अद्वैत मत के साधन में प्रवृत्त हुए। इस प्रकार सर्वत्र ही अद्वैतवाद की महिमा की प्रतिष्ठा तथा विभिन्न मतवादों का संस्कार साधन करके आचार्य शिष्यों के साथ विश्वेश्वर के स्थान अविमुक्तपुरी वाराणसी की ओर चले।

* * *

लगभग बारह वर्ष पहले आचार्य शंकर परिव्राजक के रूप में वाराणसी आये थे। उस समय वे थे एक अख्यात, अज्ञात बालक

संन्यासी मात्र। आज वे हैं विश्ववरेण्य अखण्डभारतपूज्य आचार्य शंकर। सहस्रों शिष्य के साथ सनातन वैदिक धर्म के श्रेष्ठ व्याख्याता और प्रतिनिधि रूप से, धर्मप्रतिष्ठा का व्रत लेकर वे भारत के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक भ्रमण कर रहे हैं। महद्धर्मप्रतिष्ठा-रूप देवकार्य में वे व्रती हैं। आचार्य को अब हम भिन्न रूप में पाते हैं। किन्तु उनकी जीवनगति एक ही ढंग से अनन्त असीम की ओर चल रही है। वे पहले जैसे थे अब भी वैसे ही हैं। वे अधिकांश समय ब्रह्मध्यान में बिताते हैं। पृथ्वी पर विराजमान रहते हुए भी प्रचण्ड कर्मयोग में व्यस्त हैं, परन्तु हैं वे स्वयं निर्लिप्त योगी। पद्मपत्र के समान संसार-जल में वे तैर रहे हैं।

प्रयाग छोड़कर सात दिन में शंकराचार्य वाराणसी आये। रास्ते में सर्वत्र ही विपुल जनता का समावेश होता रहा। उस परम सौम्य मूर्ति का दर्शन कर लोग पुलकित होते थे। कोई खाली हाथ नहीं लौटता था। वे सब के हृदय में मधुर शास्त्रव्याख्या और तत्त्वोपदेश द्वारा अनिर्वचनीय आनन्द भर देते थे। वे थे करुणा के अवतार। समुद्र के समान असीम था उनका शास्त्रज्ञान और आकाश के समान निर्मल था उनका चरित्र और जीवन। उनका पाण्डित्य भी अगाध था।‡ उनके विराट् व्यक्तित्व का प्रभाव सभी के ऊपर

---

‡आचार्य का पाण्डित्य और कवित्व कितने उच्च स्तर का था उनकी रचनावली ही उसका प्रमाण है। उन्होंने प्रस्थानत्रय जैसे कठिन और दुरूह अध्यात्मग्रन्थों का दार्शनिक तत्त्व, भाष्य के माध्यम से ऐसी सुगमता और सरलता के साथ समझाया है कि उसे पढ़कर सुपण्डित और विज्ञ पाठक आश्चर्यचकित हो जाते हैं। उससे केवल उनकी चिन्तनशक्ति की विशदता ही प्रकट नहीं होती, भाव और भाषा के ऊपर भी उनका कितना अधिकार था यह भी प्रतीत होता है। भाष्यों की भाषा रुचिकर, सुललित तथा सुपरिणत है। रचनाशैली भी प्रसन्न और गम्भीरता से सराबोर है। इन कठिन ग्रन्थों

गम्भीर रूप से पड़ता था। उनका हृदय अबाध उन्मुखता में उद्वेलित था। काशीपति विश्वेश्वर की दिव्य प्रेरणा ही उनके समाधिमग्न मन को जीवकल्याण में नियोजित कर रही थी।

की व्याख्या आचार्य ने ऐसी मनोरम भाषाशैली में की है कि सुधी पाठक यह धारणा भी नहीं कर पाते कि वे कोई कठिन विषय की आलोचना कर रहे है। विभिन्न मतों के सिद्धान्तों का ऐसी सबल और निपुण युक्तियों से उन्होंने समूल खण्डन किया है कि कहना पड़ता है कि वह कार्य केवल आचार्य द्वारा ही सम्भव था। ऐसे मनोहर दृष्टान्तों की सहायता से आचार्य ने अपने अद्वैत-सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है कि उसे ग्रहण करने में किसी प्रकार के संशय को स्थान नहीं रहता। इस विषय में आचार्य शंकर को केवल भारतीयों के ही नहीं वरन् ससार के सभी दार्शनिकवृन्द का शिरोमणि कहने में हम गर्व का अनुभव करते हैं।

आचार्य की कवित्वशक्ति भी अनुपम थी। कवित्व और दार्शनिकत्व का सम्मिलन नितान्त दुर्लभ है। आचार्य की कविता पढ़कर मालूम ही नहीं होता कि वह किसी तर्कयुक्तिकुशल पण्डित की रचना है। उनकी कविताएँ निःसन्देह सर्वत्र रसभावपूर्ण आनन्द का अक्षय प्रवाह रूप, उज्ज्वल अर्थरत्न की मनोरम खान तथा कमनीय कल्पना का उच्च आकार हैं। उन्होंने कविता और स्तोत्र आदि के द्वारा अद्वैत-ब्रह्मतत्त्व बहुत ही निपुण भाव से प्रकट किया है। शंकराचार्य की कविताओं में एक विचित्र मोहिनी-शक्ति और अनुपम मादकता विद्यमान है। पढ़ते ही उस विषयवस्तु में मन-प्राण लीन हो जाते हैं। ऐसा कौन पाठक है जिसकी हृदयतन्त्री में—'भज गोविन्दम्' आदि स्तोत्रों की गम्भीर स्वर-लहरी झंकृत न हो उठती हो! उस स्तोत्र की मर्मवाणी हृदय को आलोड़ित कर दुःखमय अनित्य जीवन और जगत् से मन को अतीन्द्रिय राज्य में—भूमानन्द की खोज में ले जाती है।

आचार्य शंकर के उच्च कल्पना-राज्य में विलास, भावप्रकाश की अपूर्व रमणीयता तथा शब्दप्रयोग की परम कमनीयता उनके द्वारा रचित "सौन्दर्य-लहरी" स्तोत्र का पाठ कर कौन नहीं उपलब्ध करेगा—

"हे भगवति, आपके ललाट में अवस्थित सीमन्तरेखा हमारा मंगल-साधन

काशीनगरी में प्रविष्ट होकर आचार्य सर्वप्रथम विश्वेश्वर-मन्दिर में गये। देवमन्दिर तीर्थयात्रियों से परिपूर्ण था। विविध उपचारों से देवता की अर्चना हो रही थी। कोई स्तुति-पाठ कर रहा था और समवेत कण्ठ से उच्च जयध्वनि उठ रही थी। कोई गालवाद्य द्वारा देवता की प्रसन्नता माँग रहा था। एक सम्मिलित भक्तिभाव से मन्दिर भरा हुआ सा प्रतीत होने लगता। सभी के हृदय विश्व-पति की कृपा के प्रार्थी थे। भावविह्वल चित्त से आचार्य मन्दिर में प्रविष्ट हुए और विश्वेश्वर की पूजा करने लगे। उनका हृदय एक दिव्य भाव में परिपूर्ण हो गया। वे गम्भीर ध्यान में मग्न

करे। वह मानो आपके वदनकमल के सौन्दर्यलहरी-निर्गमन के प्रवाह पथ रूप से विद्यमान है और उसमें प्रात:कालीन सूर्यकिरण की अरुण आभा की तरह अल्प रक्तवर्ण सिन्दूर-बिन्दु वर्तमान है'' इत्यादि वर्णन वस्तुतः कल्पना की कमनीयता का अभिराम विकास है। उसके अनन्तर कैसे कोमल मधुर शब्दों से भगवती का कृपाकटाक्ष माँग रहे हैं--"हे शिवे, ईषत् विकसित नीलकमल-कान्तियुक्त अपनी सुदूर-प्रसारिणी स्निग्ध दृष्टि के द्वारा कृपापूर्वक दूरस्थित इस दीन सन्तान को अभिसिंचित कीजिये। मैं धन्य होऊँगा। मातः, विजन वन में किंवा प्रासाद में विमल चन्द्रकिरण समान भाव से ही गिरता है।''

आचार्य शंकर के नाम से जो रचनावली प्रसिद्ध है उनमें बाईस भाष्य-ग्रन्थ, चौवन उपदेश और प्रकरण ग्रन्थ तथा पचहत्तर स्तोत्र हैं। परन्तु किसी किसी का तो कहना है कि सारी रचनावली आचार्य शंकर की नहीं है। भाषा, भाव और विषयवस्तु का विचार कर ही ऐसी आपत्ति उठायी गयी है। उनके मत में परवर्ती शंकराचार्य की रचना भी आदि शंकराचार्य के नाम से चली आ रही है और आजकल वह भी शंकर-रचित रूप से प्रकाशित हो रही है। किसी किसी ग्रन्थ में अनेक अंश प्रक्षिप्त हैं।

शंकराचार्य-रचित रूप से जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनमें हरएक के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण से आलोचना करना यहाँ असम्भव है।

हो गये। उनकी भाव-तन्मयता से सभी के अन्त:करण भक्तिभाव से भर गये। हृदय में उस शुभवरद का दर्शन कर वे पुलकित हो उठे। प्रतीक से वे प्रत्यक्ष में आये। रूपरहित वे विराट् पुरुष उनके अन्त:करण में सच्चिदानन्द रूप में प्रकाशित हुए।

आचार्य के आगमन-समाचार के प्रचारित होते ही अनेक तीर्थ-यात्री मन्दिर में योगिराज के दर्शनार्थ इकट्ठा होने लगे। विश्वेश्वर के साथ शंकर-रूप शंकराचार्य को देखकर सभी धन्य तथा परितृप्त हो उठे।

विश्वनाथ की पूजा समाप्त कर आचार्य मणिकर्णिका * के किसी स्थान में जा टिके। शिष्यों के रहने का प्रबन्ध पवित्र गंगातट के

*काशी के प्रधान पंच तीर्थों में मणिकर्णिका अन्यतम एवं मुक्तिप्रद प्रसिद्ध तीर्थ है। वहाँ जो कुण्ड वर्तमान है पुराण के मत से उसे स्वयं विष्णु भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से खोदा था। काशीखण्ड और विविध पुराणों में वर्णित है—"भगवान् विष्णु ने महादेवजी के कृपाप्रार्थी होकर यहाँ कठोर तपस्या की थी। इसे देखकर शिवजी ने विस्मय से जब मस्तक हिलाया तब उनके कान से विविध मणिरत्नमण्डित मणिकर्णिका नामक कर्ण-भूषण वहाँ गिर गया था। उसी से उस स्थान का नाम मणिकार्णिका पड़ा।" शिवपुराण के मत में विष्णु के मणिकुण्डल के शिव के सामने गिर जाने के कारण उस स्थान का नाम मणिकर्णिका हुआ।

वर्तमान मणिकर्णिका का श्मशानघाट बहुत अधिक प्राचीन नहीं है। हरिश्चन्द्र श्मशानघाट ही आदि और काशी का एकमात्र प्रसिद्ध श्मशान-घाट है। १७६० ई० में लखनऊ के किसी नवाब के हिन्दू कोषाध्यक्ष ने मणिकर्णिका का थोड़ासा स्थान खरीदकर अपनी माता का वहाँ दाह-संस्कार किया था और उसी समय से वह स्थान श्मशानघाट में परिणत हुआ है। आचार्य शंकर की जीवनी में जिस मणिकर्णिका का उल्लेख मिलता है वह प्राचीन मणिकर्णिका तीर्थ है, न कि वर्तमान मणिकर्णिका श्मशानघाट। आचार्य मणिकर्णिका तीर्थ में ही स्नान करने आया करते थे।

विभिन्न स्थानों में हुआ।

आचार्य का शुभागमन काशी के नागरिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। शंकराचार्य अन्यान्य शिष्यों सहित काशी आये हैं यह समाचार प्रचारित होते अधिक समय नहीं लगा। देखते ही देखते प्रतिदिन शत-शत नरनारी उनका दर्शन करने के लिए मणकर्णिका में समवेत होने लगे। काशी में योगी, यति, साधक और पण्डितों की कमी नहीं। सभी धर्मपिपासु थे। अनेक मतों के साधक साधना और तपस्या के द्वारा काशी की आध्यात्मिक भावधारा को पुष्ट किया करते हैं। उनमें शैव, शाक्त, वैष्णव, कर्मवादी, चन्द्र और मंगल आदि ग्रहों के उपासक, अनन्तदेवोपासक, सिद्ध गन्धर्व और बेताल के उपासक थे। महालक्ष्मी और सरस्वती के उपासक, वामाचारी, पंचरात्र-सम्प्रदाय, हिरण्यगर्भोपासक, वह्निमतावलम्बी, सूर्योपासक, महागणपति—हरिद्रागणपति—उच्छिष्टगणपति के उपासक, चार्वाकमतावलम्बी, हठयोगी, राजयोगी, द्वैतवादी तथा और भी अनेक मतों के उपासक तथा सम्प्रदायवादी थे। फलस्वरूप काशी में सर्वत्र ही एक घना धर्मभाव वर्तमान था। ये सभी मत-मतान्तर पुराणादि शास्त्रों के अनुगत हैं और इनके समर्थन में अनेक पृथक् पृथक् शास्त्रग्रन्थ भी हैं। उन मतवादों के दृढ़ विश्वासी और शास्त्र में अभिनिविष्ट पण्डितों की भी कमी नहीं थी। विभिन्न मतावलम्बी पण्डितों में परस्पर स्पर्धा भी थी।

क्रमशः विभिन्न मत के विद्वानों ने अपने अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए आचार्य को शास्त्रविचार के लिए बुलाया था। सभी मतावलम्बियों के साथ आचार्य का शास्त्रार्थ हुआ था। आचार्य ने सभी मतों का खण्डन कर सब के सामने अद्वैतवाद की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। उनमें से कुछ विचार संक्षेप में यहाँ दिये जाते हैं।

एक दिन आचार्य गंगास्नान के अनन्तर विश्वेश्वर और अन्नपूर्णाजी * का दर्शन कर शिष्यों सहित बैठे थे। इसी समय महालक्ष्मी के प्रधान उपासक ने आचार्य के पास आकर प्रणाम करते

---

* आचार्य शंकर जब काशी आये थे तब विश्वेश्वर का मन्दिर कहाँ था, कहना कठिन है। कुतुबुद्दीन ने ११९४ ई० में काशीराज को युद्ध में पराजित करके काशी के अनेक मन्दिरों और देवमूर्तियों के साथ विश्वनाथ-मन्दिर का भी ध्वंस किया था। वह भी एक विशाल मन्दिर था और उस टूटे मन्दिर की सामग्री से जो मस्जिद बनायी गयी थी वह वर्तमान आदि विश्वनाथ के मन्दिर के पास ही स्थित है। परन्तु वह विश्वेश्वर-मन्दिर किस स्थान पर था उसका निश्चित वर्णन कहीं नहीं मिलता। 'काशीखण्ड' में भी उसका कोई उल्लेख नहीं है।

चीनी परिव्राजक ह्युयेनचाँग ने (६२९–६७५ई०) में अपने भ्रमणवृत्तान्त में काशी के विश्वेश्वर-मन्दिर और उसके निकट के स्थानों का जो वर्णन किया है उसके साथ वर्तमान आदि विश्वेश्वर-मन्दिर का कोई भी सादृश्य नहीं मिलता। उन्होंने मन्दिर के "चारों और फूलबाग और स्वच्छ जल के तालाब" का उल्लेख किया है। और काशी के एक मन्दिर में "१०० फीट ऊँची ताँबे की शिवमूर्ति" देखी थी। "वह मूर्ति महत्त्व-व्यंजक थी। देखने पर मन में भय और भक्तिभाव का उदय होता था। ऐसा लगता मानो जीवित मूर्ति है।" परन्तु वे एक कट्टर बौद्ध भिक्षु थे। विधर्मियों के मन्दिर आदि में उनका विशेष कौतूहल नहीं था। उन्होंने काशी के मन्दिरों आदि के सम्बन्ध में और भी लिखा है––'ये मन्दिर कई मंजिल ऊँचे और अनेक शिल्पकलाओं से पूर्ण थे। मन्दिरों का जो अंश लकड़ी का बना था वह अनेक प्रकार के रंगों से रंजित था।' यह वर्णन लगभग चौदह सौ वर्ष पूर्व का है। कई मजिल ऊँचे मन्दिर और लकड़ी का बना उनका अंश ऐसे वर्णन पर विश्वास करना कठिन है। सम्भवतः उन्होंने विशिष्ट नागरिकों के निवास-भवन का वर्णन किया होगा।

ह्युयेनचाँग ने एक सौ फीट ऊँची ताँबे की शिवमूर्ति का उल्लेख किया है उसे कोई कोई ऐसा समझते हैं कि वह 'वृषस्तम्भ' था, शिवमूर्ति नहीं।

हुए कहा---"महात्मन्, हम लोगों ने आपके अगाध पाण्डित्य और दैवी प्रतिभा की बात सुनी है। आपके रचित ग्रन्थादि का भी कुछ अध्ययन किया है। हम लोग आद्याशक्ति महालक्ष्मी के उपासक हैं। कृपा करके हमारा मतवाद सुनिये। निखिल फलदात्री

बहुतों के मत में प्रथम विश्वेश्वर का मन्दिर वर्तमान विश्वेश्वरगंज में था। वहाँ ह्यूयेनचाँग द्वारा वर्णित पुराने तालाब का चिह्न भी मिलता है।

कुतुबुद्दीन ने विश्वेश्वर के मन्दिर को तोड़कर उसके पास ही मस्जिद बनवायी थी। हिन्दू मन्दिर तोड़कर हिन्दू धर्म के ऊपर जो प्रचण्ड आघात किया गया था उसी के प्रतिकार के लिए सम्राट् अकबर के राज्यकाल में महाराजा मानसिंह ने अकबर की सहायता से काशी में विश्वेश्वर के एक विशाल मन्दिर का निर्माण किया था और उसी में विश्वनाथ की लिंगमूर्ति भी स्थापित की थी तथा आदि विश्वेश्वर-मन्दिर के विग्रह का गौरीपट्ट, जो मस्जिद की सीढ़ी के रूप में व्यवहृत हो रहा था, उसका उद्धार कर, आदि विश्वनाथ-मन्दिर के उस 'अपवित्र गौरीपट्ट' को शुद्ध कर उसकी प्रतिष्ठा करके उसमें भी लिंगमूर्ति स्थापित की थी। आज तक आदि विश्वेश्वर की पूजा उसी जगह होती आ रही है।

मानसिंह-निर्मित विश्वेश्वर के विराट् मन्दिर को औरंगजेब ने १६६० ई० में तोड़ डाला था और उसी के एकांश में एक बड़ी मस्जिद बनवायी थी। प्रवाद है कि वह मन्दिर आक्रान्त होने के पहले ही पुजारियों ने विग्रह को उठाकर पासवाले ज्ञानवापी नामक कुएँ में फेंक दिया था। इस ढंग से उन्होंने विधर्मियों के अत्याचार से अपने देवता की रक्षा की थी।

मुसलमानों का अत्याचार घट जाने पर समय पाकर विश्वेश्वर के पण्डों और पुजारियों ने उस लिंगमूर्ति को ज्ञानवापी से निकालकर पास ही एक छोटा मन्दिर बनवाकर वहाँ प्रायः शत वर्ष तक विग्रह की सेवा-पूजादि की थी। १७६४ ई० में इन्दौर की रानी अहिल्याबाई ने उस स्थान पर ही पुराने छोटे मन्दिर को केन्द्र में रखकर वर्तमान विश्वनाथ-मन्दिर का निर्माण किया। पहले पण्डों ने विश्वनाथ-विग्रह को जिस स्थान पर स्थापित किया था, विग्रह वहीं है।

त्रिलोकजननी महालक्ष्मी अमलतनु परमपुरुष की आद्याशक्ति हैं। ब्रह्मा आदि देवगण उस आद्या प्रकृति से ही उत्पन्न हैं। उसी में परमेश्वर-शक्ति भी विद्यमान है। महालक्ष्मी के उपासकों की मुक्ति 'करामलकवत्' प्रत्यक्ष है। हम महालक्ष्मी को अखिल ब्रह्माण्ड की एकमात्र मुक्तिदात्री समझते हैं।"

इस कारण वर्तमान विश्वनाथ-मन्दिर में आज भी विग्रह एक कोने में अवस्थित है।

शंकराचार्य के आगमन काल में अन्नपूर्णाजी का मन्दिर कहाँ था इसका भी ठीक ठीक निर्णय करना सम्भव नहीं है। 'काशीखण्ड' में अन्नपूर्णाजी का नाम कहीं नहीं मिलता परन्तु देवी 'भवानी' का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में है और वह भवगेहिनी भवानी देवी काशीवासियों को मोक्षरूप भिक्षा देती हैं। कोई कोई तो समझते हैं कि अन्नपूर्णा भवानी का ही नामान्तर है। आचार्य शंकर ने भवानी और अन्नपूर्णा देवी के दो पृथक् स्तोत्रों की रचना की है। "गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि" आदि वन्दना में आचार्य ने भवानी-चरणों में अनन्य शरणागति की प्रार्थना की है। इसी प्रकार 'अन्नपूर्णे सदा पूर्णे शंकरप्राणवल्लभे। ज्ञान-वैराग्य-सिद्ध्यर्थं भिक्षां देहि मे पार्वति" अन्नपूर्णाजी के इस प्रणाम-मन्त्र मे उन्होंने अन्नपूर्णाजी के चरणों में ज्ञान-वैराग्य की सिद्धि की याचना की है। देवी भवानी और अन्नपूर्णा एक ही देवी का नाम है यह इन स्तोत्रों से स्पष्ट नहीं होता।

भवानी के मन्दिर के विषय में 'काशीखण्ड' में लिखा है---भवानी-मन्दिर के बहुत पास उत्तर-पूर्व कोने पर ज्ञानवापी है। किसी किसी प्राचीन ग्रन्थ में 'अन्नपूर्णा-भवानी' ऐसा उल्लेख भी दिखायी पड़ता है।

वर्तमान अन्नपूर्णा का मन्दिर किस समय बनाया गया था यह भी ज्ञात नहीं है। परन्तु १६६० ई० में औरंगजेब के द्वारा विश्वेश्वर मन्दिर ध्वस्त होते समय अन्नपूर्णा-मन्दिर भी आंशिक रूप से विध्वस्त हो गया था इस बात का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थादि में पाया जाता है। बाद में १७२५ ई० में एक दक्षिणदेशीय राजा विष्णुपन्थ गाजाड़ेजी ने (वे उस समय के अन्नपूर्णा के

आचार्य ने शान्त भाव से कहा—"ऊपरी दृष्टि से आपका मत ही सत्य प्रतीत होता है। परन्तु यथार्थ तत्त्व दूसरा ही है। परमात्मा ही एकमात्र सृष्टिकर्ता हैं। वे एक अद्वितीय सत्-स्वरूप हैं। वही परमतत्त्व हैं। वे परमात्मा सच्चिदानन्द-स्वरूप और त्रिकालाबाधित सदा विद्यमान हैं। प्रकृति उनकी शक्ति तथा उन्हीं के अधीन है। अतः यह प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है और वह मुक्ति देने-वाली भी नहीं हो सकती। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञान से ही मुक्ति होती है। ब्रह्मभाव अर्थात् ब्रह्मात्मबोध ही मुक्ति है। जो लोग प्रकृति के उपासक हैं अथवा विभिन्न देव-देवियों की उपासना करते हैं उनको विभिन्न लोकादि की प्राप्ति हो सकती है। फिर वह उपासना यदि निष्काम हो तो उससे चित्तशुद्धि भी होती है। अतः महालक्ष्मी की उपासना निरर्थक नहीं है। निम्न कोटि के साधकों के लिए इसका भी प्रयोजन है। सभी लोग उस परमतत्त्व का ग्रहण करने के अधिकारी नहीं है। परन्तु मुक्तिआकांक्षी व्यक्तियों का यह मार्ग नहीं है। यदि आप लोग आवागमनचक्र से सदैव के लिए मुक्त होना चाहते हैं तो शुद्धाद्वैतविद्या-परायण हो जाइये। अद्वैतज्ञान के सिवाय और किसी से मुक्ति सम्भव नहीं है।"

आचार्य के श्रीमुख से इस प्रकार गम्भीर सारतत्त्व सुनकर

महन्त के शिष्य थे) अन्नपूर्णा का वर्तमान मन्दिर बनवाया था।

कहते हैं कि १६०६ ई० में नवद्वीप राजवंश के राजा भवानन्द राय मजुमदार महाशय ने तन्त्रविधि के अनुसार देवीपूजा को प्रचलित करते समय भवानी देवी की अन्नपूर्णा नाम से ही पूजा की थी।

भारत का जातीय इतिहास जब तक यथार्थ रूप से लिखा नहीं जायगा तब तक इस प्रकार की घटनाओं के सत्यासत्य के विषय में आलोचना करना विडम्बना मात्र है।

महालक्ष्मी के उपासकों ने अपनी भ्रान्ति और अपूर्णता समझकर आचार्य के चरणों की शरण ली ।

* * *

किसी दूसरे दिन सरस्वती देवी के उपासकों ने आचार्य की चरणवन्दना करके कहा—"देव, हम ज्ञानस्वरूपा सरस्वती देवी के उपासक हैं । शास्त्रों में लिखा है कि जैसे वेद नित्य हैं वैसे ही सरस्वती देवी भी हैं । वे ज्ञान देनेवाली हैं । लोक-पितामह ब्रह्मा को भी उन्होंने शुद्ध बुद्धि उत्पन्न करके ज्ञान दिया था । 'जगत्कर्त्री' और 'नित्या वाक्' इन श्रुतिवाक्यों द्वारा प्रमाणित होता है कि वे ही नित्य आत्मा हैं, जो विभिन्न शास्त्रों में ब्रह्मा, विष्णु आदि विभिन्न नामों से वर्णित हैं । वे एक भाव में त्रिगुणातीत और दूसरे भाव में त्रिगुणमयी हैं । उनकी उपासना करने से ही मोक्षलाभ होता है । अतः आप भी उन नित्या देवी सरस्वती के उपासक बन जाइये ।"

क्षणभर मौन रहकर आचार्य ने बहुत ही स्निग्ध स्वर में कहा—"श्रुति कहती है—'यस्य निःश्वसितं वेदाः' अर्थात् वेद-चतुष्टय जिनके निःश्वासरूप हैं । इस श्रुतिवाक्य से यही प्रमाणित होता है कि जो कुछ व्यक्त हुआ है वह सभी उत्पन्न अर्थात् अनित्य है । ब्रह्मा के मुख में देवी सरस्वती अधिष्ठित हैं अतः उन्हें नित्य कहना भ्रमात्मक कल्पना मात्र है । आप लोग कहते हैं परमा प्रकृति सरस्वती देवी ही महत्तत्त्वादि का कारण है वह भी युक्ति-विरुद्ध है । श्रुति कहती है—परमात्मा ही सब कारणों के कारण तथा 'एकमेवाद्वितीयम्' हैं । परमात्मा विभु अवाङ्मनसोगोचर तथा सत्स्वरूप हैं । इस परमात्मा के ज्ञान से ही मुक्ति होती है । समस्त उपासना आदि का फल उसी परमात्मा को अर्पण कर चित्तशुद्धि के द्वारा शुद्ध अद्वैतब्रह्म के ध्यान में निरत हो जाइये । इस

परमात्मज्ञान से सब पापों और प्रारब्धों का क्षय होने पर आप चिरमुक्त हो सकेंगे।"

आचार्य के शास्त्रसम्मत सदुपदेश का गहरा प्रभाव सरस्वती-उपासकों पर पड़ा और उन्होंने अपना भ्रम त्यागकर आचार्य के निकट अद्वैत-ब्रह्मतत्त्व का उपदेश ग्रहण किया।

* * *

आचार्य के सामने प्रतिदिन ही उपदेश-प्रार्थियों की भीड़ लग जाती थी। एक दिन कुछ कर्मवादी मीमांसकों ने आकर विनम्र भाव से निवेदन किया—"आचार्यप्रवर, आप दिग्विजयी महापण्डित हैं, आपके ग्रन्थादि हमने पढ़े हैं तथा आपकी अद्भुत कीर्ति भी सुनी है। इसी कारण हम आपके पास आये हैं। हम लोग कर्मवादी हैं। इस ब्रह्माण्ड के सृष्टि-स्थिति-प्रलय केवल कर्म से ही होते हैं। शुभ कर्म के द्वारा शुभ और अशुभ कर्म से अशुभ फल की उत्पत्ति होती है। उत्तम कर्म करने से ब्राह्मण आदि के उच्च कुल में जन्म होता है। और पापकर्मों के फलस्वरूप शूद्रादि निम्न योनि की प्राप्ति होती है। जनक प्रभृति महाजनों ने केवल कर्म द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी, अतः मुमुक्षु को भी शुभ कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, यही शास्त्र का विधान है। शारीरिक या मानसिक कर्म से कोई भी रहित नहीं हो सकता। अन्य कार्य छोड़कर कर्म-परायण होकर मोक्षलाभ करें।"

आचार्य ने कर्मवादियों से प्रिय और मधुर भाव से कहा—"आप लोगों ने जो कुछ कहा है वह सुनने में युक्तिपूर्ण मालूम तो होता है, परन्तु है वह वेदविरोधी। 'यस्य एतत् कर्म' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा सूचित होता है कि यह प्रपंच ब्रह्म का कार्य है। वेद में ऐसा उपदेश भी है कि उस जगत्कारण का ध्यान करना चाहिए।

वह स्वयम्भू, सत्यस्वरूप, सर्वज्ञ ईश्वर ही इस जगत् के कारण हैं। कर्म कभी जगत् का कारण नहीं हो सकता। जो कुछ उत्पन्न है वह सभी अनित्य है। कर्म से प्राप्य स्वर्गादि भी अनित्य हैं। आप लोगों को चाहिए कि ध्यान-परायण होकर नित्य अजर अमर आत्मा का ज्ञान प्राप्त करें। उसी से परमानन्द का लाभ होगा और उसी से मोक्ष की प्राप्ति भी होगी।"

कर्म दो प्रकार के हैं—सकाम और निष्काम। शुभ कर्म निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर चित्तशुद्धि होती है और उसी निर्मल चित्त में ब्रह्म की ध्यान-धारणा और समाधि का लाभ भी सम्भव है। आप लोग सब कारणों के कारण उस अद्वैतब्रह्म की निष्काम भाव से उपासना कीजिये और निरन्तर उसी का ध्यान भी करते रहिए। इसी से मोक्ष की सिद्धि होगी।"

आचार्य का सारगर्भित उपदेश सुनकर कर्मवादी लोग आचार्य के उपदेशानुसार अद्वैत-ब्रह्मतत्त्व लाभ करने के लिए प्रयत्नशील हुए।

किसी दूसरे दिन गन्धर्वोपासकों ने आचार्य के समीप आकर सम्मान के साथ कहा—"देव, हम 'विश्वावसु' नामक गन्धर्व के उपासक हैं। उनकी कृपा से नादविज्ञान और बिन्दु-कला का ज्ञान लाभ कर हम लोग कृतार्थ हुए हैं। हमारे उपास्य देव विश्वावसु की प्रसन्नता के द्वारा ही जीव मुक्त हो सकते हैं। आप भी विश्वावसु की उपासना कीजिये।"

उत्तर में आचार्य ने गम्भीर स्वर से कहा—"आप लोगों का कथन वेदविरोधी है। विश्वावसु की उपासना से नाद और बिन्दु-कला का ज्ञान हो सकता है सही, किन्तु उससे मोक्षलाभ नहीं होता। वेद में ब्रह्म को—'अशब्दं अस्पर्शं अरूपं अव्ययम्' कहा है। इस वेदवाक्य से यही सूचित होता है कि ब्रह्म शब्दातीत है। जो

साधक नाद और बिन्दु-कला से परे ब्रह्म को जानते हैं वे ही यथार्थ वेदज्ञ हैं। वे परमतत्त्वज्ञ भी हैं। आप लोग उस ब्रह्म की ही उपासना कीजिये । उससे अज्ञान-बन्धन से मुक्त हो सकेंगे।"

आचार्य के उपदेश को उन लोगों ने सिर झुकाये ग्रहण किया और धन्य हुए। काशी के उस समय के प्रधान पण्डित--भास्वर, गुप्तमिश्र, विद्येन्दु आदि सभी क्रमश: आचार्य के निकट शास्त्रार्थ में पराजित हुए। इस प्रकार से आचार्य ने वाराणसी में तीन मास से अधिक समय तक रहकर अनेक भ्रान्त मतावलम्बियों को वेदानुगामी बनाया तथा अगणित नरनारियों को ब्रह्मात्मविज्ञान का उपदेश दिया। पद्मपाद, सुरेश्वर, हस्तामलक आदि आचार्य के प्रधान शिष्यों ने भी भ्रान्त मतवादियों को शास्त्रार्थ में हराकर वेदपरायण बनाया ।

इतने अल्प वयस में ही उस तरुण यति की अलौकिक प्रतिभा देखकर काशीनिवासी बहुत ही विस्मित हुए। वेदान्त का सारमर्म --ब्रह्म ही संसार का उपादान, ब्रह्म ही संसार का निमित्त कारण और ब्रह्म ही ईश्वर है--यह तत्त्व चारों ओर प्रचारित होने लगा । शून्यवादी बौद्धों, देहात्मवादी बौद्धों तथा चार्वाकों के द्वारा आत्मा का वध किया गया था। आचार्य शंकर ने मानो उस आत्मा को पुनः नवजीवन प्रदान कर नवबल से बलीयान किया। आचार्य के विचार से काल का स्रोतवेग ही मानो घूम गया। नास्तिकता और अन्धविश्वास का शिरच्छेद हो गया। अनेक नैयायिक पण्डित शंकर-रचित ब्रह्मसूत्रभाष्य का खण्डन करने के लिए प्राणपण प्रयत्न करने पर भी असफल ही रहे। जिस प्रकार सुवर्ण छेदन, घर्षण और तापन द्वारा उज्ज्वलतर होता है उसी प्रकार वेदान्तसूत्र-भाष्य भी विरुद्ध मतवादियों के द्वारा मथित होकर अधिक दीप्तिशाली

हुआ। इस प्रकार आचार्य शंकर की अद्वैत-ब्रह्मविद्या काशी में और काशी को केन्द्र करके दूर दूर स्थानों में भी प्रतिष्ठित हुई।

आचार्य शंकर उदारपन्थी थे। वे किसी को भी अपने मत का परित्याग करने के लिए नहीं कहते थे। शास्त्र और युक्ति के प्रभाव से हरएक मत का भ्रम दिखाकर, उसका संस्कार करके, उसके मतावलम्बियों को वेदानुगामी बना देते थे और धर्मजीवन-यापन के मूल भित्तिरूप अधिकारी-भेद के अनुसार सकाम और निष्काम भाव से पंचदेवता की पूजा तथा पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान में लोगों को प्रवृत्त करते थे।

थोड़े ही दिनों में हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रधान केन्द्र वाराणसी के साधक और पण्डितवर्ग की विचारधारा में महान् परिवर्तन हो गया। पण्डित और दार्शनिक लोग एकाग्र चित्त से वेदान्तदर्शन का अध्ययन करने लगे। संस्कृत पाठशालाओं में वेदान्तशास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना आरम्भ हो गया। आचार्यप्रणीत भाष्यादि लिपिबद्ध हुए तथा ग्रन्थ रूप से प्रचारित होने के फलस्वरूप पण्डित लोग विशेष उत्साह के साथ उन ग्रन्थों का व्यापक रूप से अध्ययन करने लगे। वाराणसी-निवासी विभिन्न सम्प्रदायों के साधकगण आचार्य से उपदेश पाकर अपने अपने मत को पुष्ट और पूर्ण बनाकर साधन-भजन में संलग्न हो गये। इस ढंग से वाराणसी को आध्यात्मिक भावस्रोत से प्लावित करके आचार्य सौराष्ट्र-निवासियों के विशेष आग्रह पर शिष्यों के साथ उसी ओर चल दिये।

बारह

विशाल दिग्विजय-वाहिनी के साथ सशिष्य आचार्यप्रवर सौराष्ट्र

की ओर बढ़े । जिन जिन स्थानों से संन्यासी-मण्डली जाती थी उन सभी स्थानों में जनता के वड़े समूह आचार्य का उपदेश सुनने के लिए एकत्र हो जाते थे । अनेक ब्राह्मण तथा प्रसिद्ध पण्डित आचार्य के पीछे पीछे चलने लगे । पंचदेवता की पूजा-अर्चना आदि का जनसाधारण में प्रचार करने के लिए उन ब्राह्मणों में से एक एक को उन उन स्थानों में पूजादि की शिक्षा देने के लिए वे नियुक्त करते जाते थे और वेदान्तदर्शन के प्रचार के लिए धनी हिन्दुओं की पृष्ठपोषकता में अपने साथी प्रख्यात पण्डितों के द्वारा उन्होंने अनेक स्थानों में संस्कृत विद्यालय की स्थापना भी करायी। उससे स्थायी रूप से प्रचारकार्य का प्रबन्ध भी हुआ था ।

सन्ध्यासमय आचार्य जहाँ विश्राम करते थे वहीं दर्शनार्थियों का समुदाय उमड़ पड़ता था । सभी देवदर्शन से पुण्यसंचय करने के लिए आ जाते थे । जिन लोगों ने उनका केवल नाम ही सुना था वे भी आचार्य के दर्शन मात्र से कृतार्थ हो गये । इसी तरह अनेक दिनों तक पदयात्रा करते हुए आचार्य अवन्ती देश की राजधानी उज्जयिनी नगर में पहुँचे । आचार्यदेव के आगमन-समाचार से राजधानी ध्वजाओं से सुशोभित हो गयी । स्वयं राजा को आगे कर सैकड़ों विशिष्ट नागरिक तथा ब्राह्मण-पण्डितों ने आचार्य का स्वागत किया ।

यहाँ महाकाल का मन्दिर प्रसिद्ध है । शिष्यों के साथ आचार्य पहले देवदर्शन के लिए मन्दिर में गये । वहाँ उन्होंने भक्ति-गद्‌गद चित्त से एक सुन्दर स्तोत्र की रचना कर महाकाल महादेव की अर्चना की । पूजा के समय घण्टा घड़ियाल मृदंग डमरू आदि बाजे बज उठे और धूप अगरु आदि की सुगन्धि से चारों दिशाएँ सुरभित हो गयीं । आचार्य के आगमन-समाचार से विपुल जनता का समागम

हुआ। देवदर्शन की तरह यतिवर के दर्शन के लिए सभी उत्सुक थे। उनके भक्तिविह्वल भाव ने सभी के हृदय को स्पर्श कर लिया। आडम्बररहित यतिवर का दर्शन कर सभी का कौतूहल और भी अधिक बढ़ गया। पूजा के अन्त में बाहर आकर आचार्य ने मन्दिर के विशाल मण्डप में विश्राम किया।

भिक्षाग्रहण करने के उपरान्त आचार्य ने अपने प्रिय शिष्य पद्मपाद को बुलाकर कहा—"इस नगरी में सुप्रसिद्ध भास्कर पण्डित रहते हैं। तुम उनके पास जाओ और मेरे आगमन का समाचार देकर कहो कि मैं उन्हें शास्त्रार्थ के लिए बुलाता हूँ।"

यथासमय पद्मपाद ने आचार्य का आगमन-समाचार और उनकी इच्छा पण्डित भास्कर तक पहुँचायी। सुनकर पण्डितजी ने कहा—"मैं भी आचार्य के साथ शास्त्रविचार करना चाहता हूँ।"

क्षण भर में आचार्य शंकर और पण्डित भास्कर के शास्त्रार्थ की बात नगर भर में फैल गयी। देखते ही देखते अनेक ब्राह्मण पण्डित महाकाल के मन्दिर में आकर एकत्र हो गये। तीसरे प्रहर भास्कर पण्डित अपने पक्ष के पण्डितों के साथ महाकाल के मन्दिर में आये। दोनों में ससम्मान अभिवादन हुआ। तत्पश्चात् विचार-विमर्श ‡

‡ माधवाचार्य-रचित 'शंकरदिग्विजय' ग्रन्थ में आचार्य शंकर और भेदाभेदवादी भास्कर पण्डित का शास्त्रार्थ विस्तार के साथ दिया हुआ है। उससे एक पुस्तक तैयार हो सकती है। हम यहाँ उस विचार का सारांश दे रहे हैं। माधवाचार्य ने भास्कर पण्डित को 'भट्टभास्कर' नाम से अभिहित किया है। वह लम्बा शास्त्रार्थ बहुतों के मत में माधवाचार्य की कल्पना मात्र था। वे शंकराचार्य के समकालीन व्यक्ति नहीं थे। माधवाचार्य वेद-भाष्यकार सायणाचार्य के बड़े भाई थे। फिर किसी के मत में माधवाचार्य ही संन्यास-दीक्षा लेकर शृंगेरी मठाधीश हुए थे। अगाध पाण्डित्य के कारण उन्होंने विद्यारण्य नाम ग्रहण किया और वेद का भाष्य लिखा। इसके अतिरिक्त

प्रारम्भ हुआ। वादानुवाद क्रमशः घोर वितण्डा और जटिल तर्क में परिणत हुआ। दोनों ही विशिष्ट पण्डित, उत्तम वक्ता तथा शब्दचातुर्य में निपुण थे। दोनों ही एक दूसरे के अखण्डनीय तर्कों का खण्डन करने लगे। श्रोतागण विमूढ़ और चमत्कृत हो गये। जिस समय जो जिस ढंग की युक्ति की अवतारणा करने लगे वही लोगों को अकाट्य-सी मालूम होने लगे। कुछ देर तक तुमुल वादानुवाद होने के अनन्तर भास्कर पण्डित ने अपने मत की प्रतिष्ठा की प्रचेष्टा छोड़कर वादी पक्ष पर आक्रमण करके कहा—"आपके मत में जीव और परमात्मा के भीतर प्रकृति ही भेद उत्पन्न करती है। यथार्थ में वह नितान्त असम्भव है। क्योंकि प्रकृति, चाहे वह जीवाश्रित हो या परमात्माश्रित, किसी भी प्रकार भेद नहीं उत्पन्न करती क्योंकि जीवभाव और आत्मभाव दोनों ही प्रकृति द्वारा उत्पन्न होते हैं।"

ज्ञानिवर शंकर ने उत्तर दिया—"यदि वैसा हो तो दर्पण कैसे बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेदक होता है ? वस्तु मात्र (मुख मात्र) विद्यमान रहने से ही जैसे दर्पण बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेदक होता है उसी प्रकार केवल चैतन्य मात्र का आश्रय लेकर प्रकृति

उन्होंने 'विवरणप्रमेयसंग्रह' 'बृहदारण्यक-भाष्यवार्तिकसार' आदि अमर ग्रन्थों की भी रचना की थी।

आचार्य तथा भास्कर पण्डित के उस विस्तृत शास्त्रार्थ का विवरण-विचार उन्हें किस ढंग से प्राप्त हुआ था इसका उल्लेख माधवाचार्य ने वहाँ नहीं किया है। साथ ही यह भी सत्य है कि आचार्य के शिष्यों में से किसी ने उस भावार्थ को लिख भी नहीं रखा था। इस कारण बहुतों की धारणा है कि वह शास्त्रार्थ माधवाचार्य का मनःकल्पित है। इतना अवश्य है कि शंकराचार्य और भास्कर पण्डित के बीच बहुत ही जटिल और दुरूह शास्त्रार्थ हुआ था—इसमें सन्देह नहीं।

भी जीव और ब्रह्म की भेदक क्यों न होगी ?"

भास्कर पण्डित ने पुनः आचार्य से कहा—"अग्नि के संयोग से उसकी दाहकता जिस प्रकार लोहे में आरोपित होती है उसी प्रकार अनुभवयुक्त आत्मा के संयोग से अन्तःकरण में वैसा अनुभव आरोपित क्यों न होगा ?"

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य शंकर ने अनेक अकाटच युक्तियों की अवतारणा करके भास्कर पण्डित के मत का खण्डन कर दिया जिससे पण्डितप्रवर सभासदों के सामने मानो एकदम निष्प्रभ हो गये। तथापि वह विचार बहुत देर तक चला। आचार्य ने अपने पक्ष का प्रतिपादन कर भास्कर के भेदाभेदवाद पर तीव्र आक्रमण करते हुए कहा—"मृत्पिण्ड और घटवस्तु में पिण्डत्व और घटत्व धर्म में भेद और मृत्तिका धर्म में अभेद होता है सही, किन्तु एक ही धर्म में भेद और अभेद नहीं होता। अतः भेदाभेद कहना ठीक नहीं। बल्कि उसे भेदरूप कहना ही युक्तियुक्त है।" इस प्रकार की और भी अनेक युक्तियों द्वारा आचार्य ने अपने मत का समर्थन किया। आचार्य के युक्ति-तर्कों के सामने अपने मत की प्रतिष्ठा न कर सकने के कारण भास्कर पण्डित क्रमशः निरुत्तर होते गये। सभा के पण्डितों ने आचार्य की विजय की घोषणा कर दी। भास्कर पण्डित सिर झुकाये सभा छोड़कर चले गये। कार्यतः पराजित होने पर भी भास्कर पण्डित की विद्वत्ता की गम्भीरता के विषय में किसी को सन्देह नहीं रहा। दोनों ही पण्डितों की युक्ति-तर्क-मीमांसा बहुत ही जटिल और उच्च दार्शनिक तत्त्वों से परिपूर्ण थी।

आचार्य ने क्रमशः अवन्ती प्रदेश के अनेक स्थानों का भ्रमण कर मन्दिरादि का संस्कार करके वेदमार्ग का प्रवर्तन किया। और बाण‡,

‡ ह्यूयेन चांग के (६२९–४५ ई० में) भारतभ्रमण के समय उत्तर

मयूर, दण्डी आदि पण्डितों को शास्त्रार्थ में हराकर उन्हें शिष्य बना लिया। और भी अनेक पण्डित तथा बौद्ध-जैन मतावलम्बी विद्वान्, आचार्य से शास्त्रविचार में पराजित हुए। शैव, वैष्णव, पाशुपत, शाक्त आदि सम्प्रदाय के विद्वानों से भी आचार्य का शास्त्रार्थ हुआ। किन्तु आचार्य की प्रतिभा के समक्ष सभी को सिर झुकाना पड़ा था। अवन्ती राज्य उन दिनों धर्म और संस्कृति का एक श्रेष्ठ केन्द्र था। किन्तु सर्वत्र ही आचार्य ने अद्वैतवाद का श्रेष्ठत्व स्थापित किया। इससे आचार्य का सुयश चारों ओर फैल गया।

अवन्ती के बाद आचार्य शंकर सौराष्ट्र (प्राचीन कम्बोज) में आये तथा गिरिनार, सोमनाथ, प्रभास आदि तीर्थों का दर्शन कर उन स्थानों में वेदान्त की महिमा प्रतिष्ठित की। फिर वे द्वारका पहुँचे। ये सभी स्थान भगवान् श्रीकृष्ण की स्मृति से युक्त प्राचीन तीर्थ हैं। यद्यदि जैन और बौद्धों का विशेष प्राधान्य उन स्थानों में था, तथापि आचार्य की अलौकिक शक्ति तथा पाण्डित्य की बात सुनकर एक भी व्यक्ति उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए सामने नहीं आया। सर्वत्र ही आचार्य शंकर की जय और वेदान्त की महिमा घोषित हुई।

प्रभास से सशिष्य आचार्य समुद्रतट के मार्ग से द्वारका पहुँचे।

भारत में सम्राट् महाराजाधिराज हर्षवर्धन शिलादित्य राज्य करते थे। वे ६०६ ई० में १४ वर्ष की अवस्था में राजा हुए थे और ६४६ ई० तक राज्य करते रहे। उनकी सभा में 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' के रचयिता महाकवि बाण सभापण्डित थे। आचार्य शंकर ने यदि हर्षवर्धन के सभापति बाण को शास्त्रार्थ में पराजित किया होता तो शंकर का आविर्भावकाल सप्तम शताब्दि के प्रारम्भ में ही होना सम्भव था परन्तु 'बाण' नाम के विभिन्न समय में एकाधिक कवि और पण्डित थे। अतः इस विषय में कोई आपत्ति नहीं है।

वहाँ उनका बहुत ठाटबाट एवं भव्यता के साथ स्वागत हुआ। पुण्यसलिला गोमती तीर्थ में स्नान करके वे द्वारकाधीश के मन्दिर में आये और भावविह्वल चित्त से श्रीकृष्ण भगवान् की पूजा-अर्चना करके आनन्दविभोर हो उठे। उस प्राचीन तीर्थ में अनेक धर्मप्राण नर-नारियों का निवास था। उन्होंने सब को वेदोक्त कर्म और देवोपासना आदि के निष्काम भाव से अनुष्ठान द्वारा शुद्ध चित्त तथा एकाग्रता के साथ, जीवात्मा और परमात्मा के एकत्वज्ञान की साधना में उत्साहित किया।

द्वारकापुरी से आचार्य क्रमशः कोंकण, गुर्जर (गुजरात) और पुष्करतीर्थ आदि स्थानों में होते हुए सिन्धुदेश में आये। आचार्य के आगमन से पहले ही उनकी कीर्ति उन स्थानों में पहुँच चुकी थी। सर्वत्र ही उनका विशेष सम्मान हुआ। विभिन्न मतावलम्बी आचार्य के श्रीमुख से वेदान्त की व्याख्या सुनकर अद्वैत मत में श्रद्धान्वित हुए।

सिन्धुदेश से आचार्य शंकर अनेक तीर्थों, ग्रामों, नगरों तथा जनपदों में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए गान्धार देश (वर्तमान काबुल और पेशावर के बीच के स्थान) में पहुँचे। पुरुषपुर (वर्तमान पेशावर) में उन दिनों भी बौद्ध धर्म का ही बोलबाला था। अनेक संघारामों (मठों) में बौद्ध भिक्षु लोग रहते थे। बौद्ध पण्डित आचार्य का प्रभाव सुनकर उनके साथ शास्त्रविचार में प्रवृत्त नहीं हुए। इससे वदिक धर्म की जय सर्वत्र ही घोषित हुई। आचार्य ने सत्यान्वेषी लोगों को वेदमार्ग का अनुसरण करने के लिए उपदेश दिया।

वाह्लिकदेश-निवासियों के निमन्त्रण से आचार्य उस देश की ओर अग्रसर हुए। वह एक रमणीय पार्वत्य प्रदेश था। जलवायु

अतीव स्वास्थ्यकर और शीतल थी। प्राकृतिक शोभा भी अतुलनीय थी। वैदिक धर्मप्रचार और प्रतिष्ठा के निमित्त आचार्य का आगमन सुन स्थानीय जैन तथा बौद्ध विद्वान् कुछ चंचल हो उठे। जैनियों ने समवेत रूप से आचार्य को शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया। स्याद्वाद के अवलम्बन से तुमुल तर्क-वितर्क होने लगा। परन्तु जैन पण्डित अपने पक्ष का समर्थन करने में असमर्थ होकर विचार-स्थल छोड़कर चले गये। जनता आचार्य के मत की श्रेष्ठता जान-कर उनके निकट उपदेशप्रार्थी हुई।

उन दिनों वाह्लिक प्रदेश में बौद्धों का भी यथेष्ट प्रभाव था। एक एक करके माध्यमिक और विज्ञानवादी बौद्धाचार्यों के साथ शंकराचार्य का दीर्घ शास्त्रार्थ हुआ। किन्तु आचार्य की युक्ति और वाद के सामने उनका बल क्रमशः घटता गया। आचार्य ने प्रमाणित कर दिया कि भगवान् बुद्धदेव ने वैदिक मार्ग के अवलम्बन से ही साधन किया था और वेदज्ञान की सहायता से ही वह निर्विशेष परम ज्ञान लाभ करने में समर्थ हुए थे। उन्होंने प्रचार भी किया था आर्यसत्य और अष्टांग आर्यसाधना का। बुद्धदेव के उपदेश और जीवन को ठीक ठीक न समझ सकने के कारण ही बौद्धों ने वेदविरोधी मत का प्रचार किया है।

जैनियों और बौद्धों की पराजय के फलस्वरूप सारे वाह्लिक प्रदेश में वैदिक मत का प्रचार हुआ। तदनन्तर कम्बोज, दरद, और मरुस्थल प्रदेश में स्थित अनेक देशों * के पण्डितगण को

---

* किसी किसी जीवनीकार के मत से आचार्य शंकर अपनी दिग्विजय-वाहिनी के साथ ईराक, ईरान और फारस देश तक भी गये थे और उन देशों के पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त करके वहाँ आर्यधर्म की प्रतिष्ठा की थी। उन देशों में उस समय मुसलमानों का अभियान नहीं हुआ था।

शास्त्रविचार में पराजित करके आचार्य उच्च पर्वतश्रेणियों को पार कर काश्मीर में प्रविष्ट हुए।

* * *

आचार्य का आगमन चुपके से नहीं हुआ बल्कि सैकड़ों शिष्य, हजारों ब्राह्मण तथा साधकों द्वारा परिवृत होकर वे आये थे।

बौद्धप्रचार के कारण उन देशों में बौद्ध धर्म थोड़ा-बहुत प्रविष्ट हुआ था। बौद्ध युग के पूर्व उन देशों में आर्यधर्म का प्रचार अवश्य था और सारे मध्य एशिया के अधिवासी आर्य थे तथा वे वैदिक धर्म का ही पालन करते थे, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। उनमें प्रतीकोपासना और अग्नि-उपासना का विशेष प्रचलन था यह भी निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है।

मरुभूमि के विस्तार के फलस्वरूप उन प्रदेशों के अनेक नगर और ग्राम विध्वस्त हो गये थे, परन्तु वर्तमान युग के पुरातात्त्विक अभियान के फलस्वरूप वहाँ के प्राचीन अधिवासियों के धर्मजीवन तथा सभ्यता के ऐसे अनेक उदाहरण तथा उपकरण मिले हैं जिससे निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उन देशों के लोग पहले हिन्दू ही थे।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में स्वीडेन के पर्यटक स्वेन हेडेन ने उन स्थानों के मरुस्थल में अनेक देव-देवियों की मूर्तियों के भग्नावशेष का अनुसन्धान किया है। और भी अनेक आविष्कारों द्वारा जाना गया है कि छठी और सातवीं ई० सदी में वह स्थान बहुत ही समृद्धिशाली था और आर्य सभ्यता तथा संस्कृति का प्रभाव भी वहाँ के निवासियों में प्रचुर था।

अवश्य सम्प्रति वैसी बात केवल कविकल्पना मात्र ही प्रतीत होती है। किन्तु एक समय ऐसा भी था जब एशिया-माइनर और वर्तमान टर्की की राजधानी अंकारा तक आर्यधर्म और आर्यसभ्यता का विस्तार था। उसका ऐतिहासिक प्रमाण आधुनिक पुरातात्त्विक अनुसन्धानों से मिलता है। अंकारा के पास Bhogaz-Koi नामक स्थान में Hittite राज्य की राजधानी थी। हिटाइटों के प्राधान्य का समय ऐतिहासिकों के मतानुसार ईसा के पूर्व लगभग बीसवीं सदी था (इस कालनिर्णय में कुछ मतभेद भी है)। उन स्थानों में दो शिलालेख मिले हैं जिनमें लिखा है कि हिटाइटों और

सर्वत्र ही उनके भव्य स्वागत का आयोजन भी हुआ था और उन उन देश के निवासियों ने देव-सम्मान के साथ आचार्य का वरण कर लिया था।

क्रमश: आचार्य काश्मीर के अन्तर्गत शारदापीठ में आये। उन दिनों वह स्थान भारतीय संस्कृति का एक प्रधान केन्द्र था। सारे भारत के विद्वान् तथा विभिन्न मतों के साधक वहाँ रहकर उस पीठ का गौरव तथा महिमा बढ़ाते थे। आचार्य के आगमन से वहाँ के पण्डितों में हलचल-सी मच गयी।

शारदापीठ में वाग्देवी सरस्वती का एक प्रसिद्ध देवालय था और उसमें सर्वज्ञपीठ नाम से एक पीठ स्थापित था। जो सर्वज्ञ (केवल सर्वशास्त्रविशारद ही नहीं, जिन्होंने परा विद्या प्राप्त कर ली है तथा ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित हैं वही सर्वज्ञ) हैं, वही सर्वज्ञ-पीठ पर बैठने के अधिकारी थे। भारत के विभिन्न स्थानों से आये हुए प्रसिद्ध पण्डितगण उस पवित्र पीठ की रक्षा करते थे।

सर्वज्ञपीठ पर उपविष्ट होने की आकांक्षा से यदि कोई पण्डित वहाँ आते तो उन्हें उस शारदा देवी के मन्दिर के चारों द्वारों पर अवस्थित सभी सम्प्रदाय के पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त करना

मिटानिजों में एक विवाह के अवसर पर नवदम्पति को आशीर्वाद देने के लिए पाँच आर्यदेवता बुलाये गये थे। उनके नाम हैं——इन्द्र, वरुण, मित्र और दोनों अश्विनीकुमार।

आर्यदेवतागण उस प्रदेश में तथा समस्त एशिया-माइनर क्षेत्र में पूजित थे, इसके और भी अनेक ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। आर्यधर्म और सभ्यता का विस्तार सुदूर अंकारा तक कैसे हुआ था तथा कितने युगों का समय लगा था इसका हिसाब कौन लगा सकता है!

काबुल, फारस, फिलीस्तीन आदि देशों में भी सनातन वैदिक धर्म के प्रचार के अनेक चिह्न मिले हैं।

होता था और पण्डित-मण्डली की सम्मति से ही मन्दिर-प्रवेश का अधिकार मिलता था। फिर देवी शारदा दैववाणी द्वारा उन्हें सर्वज्ञ रूप से घोषित करती थीं और तभी वह पण्डित सर्वज्ञपीठ पर बैठने का अधिकार प्राप्त करते थे।

दूर दूर के देशों से अनेक पण्डित शारदापीठ पर अधिष्ठित होने के लिए आये, किन्तु कोई भी उस महान् सौभाग्य का अधिकारी नहीं बन सका। कोई तो पण्डितों से विचार में ही हार गया अथवा किसी के लिए देवी के श्रीमुख से दैववाणी का उच्चारण ही नहीं हुआ। इस प्रकार दीर्घ काल तक शारदापीठ पर अधिष्ठित होना एक देवदुर्लभ अधिकार ही था।

शारदापीठ में आगमन के अनन्तर एक दिन आचार्य कृष्णगंगा के तट पर शिष्यों के साथ बैठे थे। इसी समय वहाँ के पण्डितों में एक कोलाहल-सा मच गया। वे आपस में वादानुवाद करते हुए कहने लगे——"हों क्यों नहीं वे दिग्विजयी पण्डित ! परन्तु हम क्यों उनका मत ग्रहण करेंगे ? वे तो अब तक यहाँ के पण्डितों को शास्त्रार्थ में नहीं हरा सके और देवी शारदा ने भी उन्हें सर्वज्ञ उपाधि से अभिहित नहीं किया। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक हम आचार्य का मत ग्रहण नहीं करेंगे।"

यह सुनकर शिष्यों ने क्षुब्ध होकर आचार्य को शारदापीठ पर आरोहण करने का अनुरोध किया। शिष्यों का आग्रह देखकर आचार्य मौन सम्मति जताकर शारदा देवी के मन्दिर की ओर रवाना हुए।

आचार्य को मन्दिर की ओर आते देखकर स्थानीय पण्डित घबड़ाने लगे। तुरन्त वहाँ के पण्डितगण मन्दिर के चारों द्वार पर एक हो गये तथा आचार्य से शास्त्रार्थ के लिए तैयार हुए। चारों ओर बड़ी हलचल-सी मच गयी। नगर-निवासी अनेक नर-नारी उस समाचार

को सुनकर विशेष उत्सुकता से वहाँ समवेत हो गये। इतने में आचार्य भी मन्दिर के प्रधान द्वार पर आ पहुँचे। मुण्डितमस्तक दण्डकमण्डलुधारी गैरिकपरिधान शिष्यवर्ग-परिवेष्टित उन सौम्य-दर्शन तरुण यतिवर को धीरे-धीरे आकर खड़े हुए देखकर सभी विस्मयविमुग्ध थे। सर्वत्र एक गुंजन-ध्वनि सुनायी पड़ने लगी कि ये यतिराज साधारण व्यक्ति नहीं हैं।

अपने दूसरे शिष्यों को वहीं प्रतीक्षा करने के लिए कहकर आचार्य पद्मपाद, सुरेश्वर, हस्तामलक और आनन्दगिरि आदि कुछ प्रधान शिष्यों को साथ लेकर मन्दिर की ओर चलने लगे। उनको आते देखकर प्रतिवादियों ने कहा—"यतिवर, आप क्या समझ कर इस महान् सम्मानजनक अधिकार को प्राप्त करने के लिए यहाँ पधारे हैं? जिस कार्य का साधन करने पर इस मन्दिर में प्रवेश का अधिकार प्राप्त होता है क्या वैसी योग्यता आपमें है? क्या आप सर्वशास्त्रज्ञ अर्थात् सर्वज्ञ हैं?"

सिर कुछ ऊँचा करके आचार्य ने कहा—"मैं सभी शास्त्रों को जानता हूँ। मेरे लिए कुछ अज्ञात नहीं है। जिन्हें भी इच्छा हो वे परीक्षा ले सकते हैं।"

प्रतिवादियों ने कहा—"जब आपकी ऐसी इच्छा है तो वैसा ही हो। आप परीक्षा में उत्तीर्ण होकर मन्दिर में प्रवेश कीजिये।"

इस प्रकार की वार्ता के पश्चात् कणाद-मतावलम्बी वैशेषिक, गौतम-मतावलम्बी नैयायिक, कपिल-मतावलम्बी सांख्य, जैमिनि-मतावलम्बी मीमांसक, बौद्ध सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक तथा जैन श्वेताम्बर और दिगम्बर पन्थी पण्डित क्रमशः विभिन्न द्वारों पर आचार्य के साथ शास्त्रविचार में प्रवृत्त हुए।

कणाद-मतावलम्बी एक श्रेष्ठ पण्डित ने पूछा—"यतीश, यदि

१६

आप सर्वशास्त्रज्ञ हैं तो बताइये वैशेषिक मत में पदार्थतत्त्व क्या है ? दो अणु मिलित होकर द्व्यणुक बनते हैं। उसका कारण क्या है ? द्व्यणुत्व कहाँ से उत्पन्न होता है ? यदि आप इन प्रश्नों के ठीक ठीक उत्तर देने में असमर्थ हैं तो इस मन्दिर में प्रविष्ट होने की चेष्टा न कीजिये।"

प्रश्न सुनते ही आचार्य ने हँसते हुए कहा—"वैशेषिक मत में द्व्यणुक के परमाणुद्वय में जो द्वित्वसंख्या है वही द्व्यणुक-निष्ठ द्व्यणुक के अणुत्व का कारण है।"

अनन्तर पदार्थतत्त्व-रहस्य के सम्बन्ध में दोनों पक्ष के भीतर बहुत देर तक तर्क-वितर्क चला। प्रसंगवश आचार्य ने कहा—"इस प्रकार पदार्थविभाग का मुख्य उद्देश्य है आत्मा-सम्बन्धी मनन। और आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है यही महर्षि कणाद का मत है।"

आचार्य का सिद्धान्तवाक्य सुनकर कणाद-मतावलम्बी पण्डित उनके प्रति सम्मान दिखाकर विचार से निवृत्त हुए। इसे देखकर गौतम-मतावलम्बी एक नैयायिक पण्डित ने गर्व से आचार्य के सामने आकर प्रश्न किया—"बताइये मुक्ति के सम्बन्ध में कणाद और गौतम के मतों में भेद क्या है ? और गौतम मत में पदार्थतत्त्व किस प्रकार है ?"

आचार्य ने धीर भाव से उत्तर दिया—"कणाद मत से मुक्ति की अवस्था में आत्मा विशेषगुण-रहित तथा पुनरुत्पत्ति की सम्भावना से रहित होकर आकाश की तरह निष्क्रिय और असंग भाव से विराजमान रहती है और गौतम मत में उस मुक्त अवस्था में आनन्द और संवित् युक्त होकर स्थिति होती है। पदार्थभेद के सम्बन्ध में स्पष्ट ही दिखायी पड़ता है कि कणाद मत में पदार्थ सात हैं (भाव पदार्थ छः और एक अभाव) और गौतम मत में पदार्थ सोलह

हैं। † पदार्थ के सम्बन्ध में दोनों मत का कोई विरोध नहीं है। तत्त्वज्ञान से मुक्ति दोनों पक्ष में समान है। सर्वनियन्ता विश्व-विधाता ईश्वर के सम्बन्ध में भी कणाद और गौतम का एक ही मत है। विभिन्न रुचिवाले अधिकारियों के लिए भिन्न भिन्न मार्ग हैं। उद्देश्य दोनों का एक ही है।"

आचार्य का उत्तर सुनकर ईश्वरवादी नैयायिक सन्तुष्ट हुए तथा आचार्य के प्रति विशेष सम्मान दिखाते हुए विचार से निवृत्त हुए। इसे देखकर एक सांख्यवादी पण्डित ने आगे बढ़कर आचार्य का रास्ता रोकते हुए पूछा––"यदि आप सर्वशास्त्र-विशारद हैं तो बताइये सांख्य मत में मूलप्रकृति में जो विश्वप्रपंच का कारणत्व है क्या वह स्वतन्त्र है अथवा चिदात्मा पुरुष के अधीन ?"

आचार्य ने सहज स्वर से कहा––"त्रिगुणात्मिका नामरूप-विशिष्टा मूलप्रकृति कपिल के मत में स्वतन्त्र है और इसी से विश्व-प्रपंच का आविर्भाव होता है। स्वाधीन मूलप्रकृति ही संसार का कारण है। किन्तु वेदान्त मत में मूलप्रकृति माया चैतन्यमय ब्रह्म के अधीन है।"

इसके अनन्तर दोनों पक्ष में अनेक विषयों पर जटिल विचार हुए तथा सांख्यवादी पण्डित विशेष सन्तुष्ट होकर विचार से निवृत्त हुए।

आचार्य को दूसरे द्वार की ओर अग्रसर होते देखकर बौद्ध और

---

† गौतम मत में सोलह पदार्थ ये हैं––प्रमाण आदि नौ और वाद आदि सात। नौ प्रमाणादि––प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त; अवयव, तर्क और निर्णय। वादादि सात हैं––वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वा-भास, छल, जाति और निग्रहस्थान।

कणाद मत में––"द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाभावाः सप्त-पदार्थाः।"

जैन पण्डितों ने उन्हें विचार के लिए बुलाया। बौद्धों में माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक इन चार सम्प्रदायों के विशिष्ट विद्वान् उपस्थित थे। उन्होंने सगर्व आचार्य से पूछा—"आप बताइये हमारे चार सम्प्रदायों में क्या भेद है और दो प्रकार के बाह्यार्थवाद में पार्थक्य कहाँ है ? वेदान्त मत के साथ इन चार मतों की भिन्नता क्या है।"

आचार्य ने तत्क्षण उत्तर दिया—"बाह्यार्थवादियों में सौत्रान्तिक का कहना है कि जो कुछ जाना जाता है सभी अनुमान-गम्य है और वैभाषिक लोग कहते हैं सभी (ज्ञान) प्रत्यक्ष-ग्राह्य है। दोनों मतों के सभी पदार्थ क्षणिक हैं। विज्ञानवादी और योगाचार के मत में सभी वस्तुएँ विज्ञान मात्र, क्षणिक और अनेक हैं। शून्यवादी माध्यमिकों के मत में सारे पदार्थ स्वरूपतः शून्य हैं। शून्य के सिवाय और कुछ नहीं है। सविषय क्षणिक विज्ञान-प्रवाह के कारण जगत् का ज्ञान होता है। निर्वाण में उसका भी नाश होता है। उस समय सभी शून्य रूप से प्रतीत होते हैं। वेदान्त मत में शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव एक नित्य ब्रह्म ही सत्य है। और सब कुछ मिथ्या माया है। शून्यवादी यदि शून्य को सत् रूप से स्वीकार करे और विज्ञानवादी विज्ञान को स्थिर अर्थात् अपरिवर्तनशील कहे तो वेदान्त के साथ उस मत का कोई भेद नहीं रहता।"

आचार्य का युक्तिपूर्ण उत्तर सुनकर बौद्ध विद्वान् इतने सन्तुष्ट हुए कि वे एक स्वर से कहने लगे कि "आचार्य, आप मन्दिर में प्रवेश करने के योग्यतम व्यक्ति हैं।"

जैन लोग इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। दिगम्बर-मतावलम्बी जैनाचार्य ने दम्भ के साथ आचार्य से पूछा—"यतिवर, बताइये 'अस्तिकाय' शब्द का प्रकृत अर्थ क्या है और उस शब्द से कौन वस्तु लक्षित

होती है ?"

आचार्य ने स्मित मुख से कहा--"जब आप इस प्रश्न का उत्तर चाहते हैं तो सुनिये। जीवास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन पाँच शब्दों के द्वारा जीव, देह (पुद्‌गल), धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच वस्तुओं को लक्षित किया गया है। 'अस्ति' शब्द जिसमें ध्वनित होता है,उसी का नाम है अस्तिकाय (कै धातु का अर्थ है 'शब्द' और उससे अस्तिकाय शब्द उत्पन्न हुआ है)। आप लोगों को यदि और कुछ जिज्ञासा हो तो उसे भी बताइये।"

आचार्य की बात सुनकर जैनाचार्यों ने सविशेष सम्मानपूर्वक कहा--"आचार्य, आपकी परीक्षा लेने की चेष्टा धृष्टता मात्र है। आप ज्ञानविद्या-वारिधि तथा सर्वशास्त्रज्ञ हैं। आपके सामने पराजित होने पर भी हम अपने को सम्मानित ही समझते हैं। आप मन्दिर में प्रविष्ट हो जाइये।" इससे भी पण्डितों की विचारस्पृहा तृप्त नहीं हुई। यद्यपि मीमांसक-श्रेष्ठ मण्डन मिश्र (सुरेश्वराचार्य) आचार्य के शिष्य रूप से साथ थे तथापि मीमांसक पण्डितों ने आचार्य से पूछा--"जैमिनि के मत में शब्द का स्वरूप क्या है? शब्द द्रव्य है या गुण ?"

मधुर स्वर में आचार्य ने उत्तर दिया--"हे सुधीवृन्द, आप लोग भी जानते हैं कि शब्द वर्णात्मक है। वर्ण नित्य और व्यापक हैं। श्रवणेन्द्रिय के द्वारा जब यह अनुभूत होता है तभी उसकी उत्पत्ति मानी जाती है। इस कारण शब्द एक द्रव्य है, गुण नहीं।"

आचार्य का उत्तर सुनकर मीमांसक लोग बहुत ही चमत्कृत हो गये। विनीत भाव से उन्होंने कहा--"आपकी परीक्षा लेने के लिए हमने ऐसा प्रश्न नहीं किया है। चिरन्तन प्रथा के अनुसार

केवल पूछा भर है। आप मन्दिर में प्रवेश कीजिये।"

इस ढंग से शास्त्रीय प्रश्नों का समुचित उत्तर सुनकर वादी पक्ष के पण्डितों ने आचार्य के प्रति अनेक प्रकार से सम्मान व्यक्त कर मन्दिर का द्वार खोल दिया और उन्हें सर्वज्ञपीठ पर उपविष्ट होने के लिए मार्ग छोड़ दिया।

मन्दिर के आँगन में समवेत जनता आचार्य की जयध्वनि करने लगी और चारों ओर बाजे बज उठे। उस गम्भीर शब्द से दशों दिशाएँ गूंजने लगीं। उस आनन्दोल्लास के बीच आचार्य ने मन्दिर के पासवाले कुण्ड के पवित्र जल का पान कर एक सुललित छन्दोबद्ध स्तोत्र की रचना कर शारदा देवी की अर्चना की। इसी समय एक गम्भीर दैववाणी सुनायी पड़ी—"वत्स शंकर, मैं प्रसन्न हुई हूँ, तुम्हें सर्वज्ञ उपाधि से भूषित करती हूँ। तुम प्रसन्न चित्त से मेरे सर्वज्ञपीठ पर आरोहण करो। केवल तुम्हीं इस पीठ के योग्य पात्र हो।"

दैववाणी से मन्दिर कम्पित हो उठा। लोग स्तम्भित रह गये। दैववाणी सुनकर आचार्य के हृदय में एक अनिर्वचनीय दिव्यानन्द का अनुभव होने लगा। वे सिर झुकाये धीरे धीरे शारदापीठ पर चढ़कर सुखासन में उपविष्ट हुए और भक्ति-गद्‌गद चित्त से शारदा देवी की स्तुति करने लगे। आनन्दविस्मय-मिश्रित कोलाहल से वह स्थान गुंजरित हो रहा था। इस अभावनीय घटना से सभी लोग पीठ में देवी की अवस्थिति के विषय में निःसन्दिग्ध हुए। आचार्य ने उस मणिमुक्ताखचित पीठ पर उपविष्ट होकर भगवती के स्वरूप और माहात्म्य के कीर्तन द्वारा सभी को प्रसन्न कर दिया। वह अविस्मरणीय स्मृति सभी के हृदय-प्रकोष्ठ में अक्षय सम्पद् बनकर रह गयी। *

---

* माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ में शंकराचार्य का शारदापीठ में आगमन

शारदा देवी के सर्वज्ञपीठ में उपवेशन के समाचार के चारों ओर प्रचारित होने में अधिक समय नहीं लगा। फलस्वरूप आचार्य विशेष सम्मान के अधिकारी हुए और अद्वैत मतवाद को भी एक विशेष स्थान मिल गया। आचार्य ने उस पीठस्थान में कुछ दिन रहकर सर्वसाधारण में अद्वैत-ब्रह्मात्मतत्त्व की व्याख्या की और अनेक योग्य अधिकारियों को भी दीक्षित किया।

विभिन्न मतावलम्बियों के साथ शास्त्रार्थ और शारदा देवी के द्वारा आचार्य को सर्वज्ञ उपाधि से विभूषित करने की घटनावली का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। हमने उस ग्रन्थ के आधार पर, वह विवरण संक्षिप्त रूप से दिया है। अनेकों के मत में माधवाचार्य-प्रणीत वह विस्तृत वर्णन, विशेषतया आचार्य के साथ विभिन्न मतावलम्बियों का विचारविनिमय आदि कल्पित उपाख्यान मात्र है। आचार्य के साथ पण्डितों का तुमुल शास्त्रार्थ हुआ था यह माधवाचार्य की कल्पना मात्र है।...किसी जीवनीकार के मत में उज्जयिनी के भास्कर पण्डित के साथ विचार के अनन्तर आचार्य आश्रम चले गये थे। . आसाम से 'भगन्दर' रोग से आराम होने पर वे गंगातट पर से होते हुए क्रमशः काश्मीर पहुँचे। काश्मीर के अनन्तर हिमालय के मार्ग से वे वदरीनारायण और केदारनाथ गये। वहाँ जाकर वे महासमाधिस्थ हुए। ...'शंकरदिग्विजय' के यात्रामार्ग की क्रमवद्धता की रक्षा करने में अनेक अलंघनीय बाधाएँ हैं।...समसामयिक विद्वानों द्वारा रचित आचार्य शंकर का कोई प्रामाणिक जीवनीग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।...माधवाचार्य और आनन्दगिरि के द्वारा रचित शंकराचार्य के दोनों जीवनीग्रन्थों में पुराण का प्रभाव वहुत अधिक परिमाण में परिलक्षित होता है।.. इसके अतिरिक्त 'शंकराचार्य' एक नामविशेष नहीं है। परवर्ती काल में आचार्य द्वारा प्रतिष्ठित चारों धाम के मठाधीशों के द्वारा 'शंकराचार्य' नाम ग्रहण करने से 'शंकराचार्य' एक उपाधि बन गयी है। शंकर-प्रवर्तित मठाम्नाय के निर्देशानुसार शृंगेरी आदि मठों के पीठपति सभी आचार्य 'शंकराचार्य' उपाधि ग्रहण करते हैं। इस कारण परवर्ती अनेक शंकराचार्यों

इस प्रकार आचार्य ज्ञान और सम्मान के उच्चतम शिखर पर विराजमान हुए। उनकी अवस्थिति के कारण शारदापीठ में एक उच्च स्तर का आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न हुआ। भारत के तत्कालीन सर्वमतावलम्बी योगी, यति और पण्डितों ने उनके व्यक्तित्व, गम्भीर ज्ञान और महामहिम जीवन के समक्ष सिर झुका लिया था। स्वयं देवी सरस्वती ने जिन्हें सर्वज्ञ रूप से घोषित किया था, ब्रह्मावतार मण्डन मिश्र ने भी जिनके पाण्डित्य के सामने पराभूत होकर शिष्यत्व स्वीकार किया उन शंकरावतार आचार्य शंकर को देवमानव रूप से सब ने ग्रहण किया--इसमें आश्चर्य की बात क्या? शारदापीठ पर बैठने का अधिकार प्राप्त करके यतिश्रेष्ठ शंकर पण्डितश्रेष्ठ हो गये और इस प्रकार उनकी दिग्विजय सम्पूर्ण हुई। इस घटना के पश्चात् अद्वैतवाद ने सारे दार्शनिक मतवादों के ऊपर उठकर उन मतों पर प्रचुर प्रभाव डाल दिया था जिससे सारे भारत के धर्मजगत में हलचल मच गयी थी। फलतः बौद्ध और जैन धर्म निष्प्रभ होकर लुप्तप्राय हो गये और सनातन वैदिक

की जीवन-घटनाओं को 'आदि शंकराचार्य' की जीवन-घटना के रूप में ग्रहण करने को जीवनी-लेखक बाध्य हुए हैं। आदि शंकराचार्य के जीवन की अनेक घटनाओं को बहुत लोग प्रक्षिप्त मानते हैं।

किसी के मत में आचार्य शंकर कामाख्या और गौड़ देश पर विजय प्राप्त कर काश्मीर आये थे। कल्हण-प्रणीत काश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' की चतुर्थ तरंग में लिखा है--"काश्मीर में ललितादित्य के राज्यकाल (ईसा की आठवीं सदी के मध्यभाग) में गौड़ देश के पाण्डतो ने शारदा देवी के दर्शन के उद्देश्य से काश्मीर प्रवेश किया और सभी ने देवालय को घेर लिया था।" स्वर्गीय अक्षयकुमार दत्त आदि पण्डित अनुमान करते हैं कि उस घटना से आचार्य शंकर तथा उनके गौड़देशीय शिष्यों को लक्ष्य किया गया है।

धर्म विशेष बलवान् होकर सर्वत्र फैल गया।

महात्मा शंकराचार्य के जीवन और प्रचार के प्रभाव से समस्त भारतभूमि में पवित्र वेदान्त धर्म सनातन धर्म रूप से पुनः प्रतिष्ठित होने का प्रधान कारणरूप बन गया। उनके प्रचार के प्रभाव से हिन्दू धर्म की जीवनशक्ति को सहस्रों वर्ष का स्थायित्व प्राप्त हुआ। शंकराचार्य के अवदान के फलस्वरूप ही आज वैदिक धर्म पृथ्वी भर के धर्मराज्य में सर्ववादिसम्मत रूप से सर्वोच्च आसन प्राप्ति कर सका है। वर्तमान युग में सारे विश्व में वैदिक धर्म को जो श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है वह प्रधानतया आचार्य शंकर का ही अवदान है।

तेरह

शारदापीठ से चलकर आचार्य काश्मीर के अनेक स्थानों का परिभ्रमण करते हुए राजधानी श्रीनगर में आये और एक पर्वत पर शिवमन्दिर देखकर देवदर्शन के लिए वहाँ गये। देवाधिदेव के दर्शन पूजन के अनन्तर आचार्य उस पर्वत के पाददेश में स्थित देवी के स्थान पर आय। वहाँ अनेक साधक और उपासक भगवती की प्रीतिकामना से साधन-परायण होकर वहाँ के कुण्ड के पास रहते थे। आचार्य ने अभूतपूर्व भावावेश से देवी की वन्दना की। देवीमाहात्म्य से उनका अन्तर इतना अधिक पूर्ण था कि उन्होंने तन्मय होकर एक सुललित स्तोत्र के द्वारा देवी की महिमा का कीर्तन किया। उनकी भावविह्वलता देखकर शिष्य तथा समवेत साधु-साधकवृन्द मुग्ध हो गये। उन्होंने देवी की महिमा का वर्णन कर जिस स्तोत्र की रचना की थी वही 'सौन्दर्यलहरी' या 'आनन्द-

लहरी' नाम से आज भी प्रसिद्ध है।

आचार्य-रचित उस स्तोत्र में १०४ श्लोक हैं। केवल कविता और रचना की दृष्टि से ही वह स्तोत्र अतुलनीय नहीं, वरन् उसके प्रत्येक श्लोक के माध्यम से ब्रह्मशक्ति को उन्होंने अपने जीवन में किस भाव से ग्रहण किया है इसका भी बहुत सुन्दर स्वरूप खिल उठा है। आचार्य की अपरिसीम भक्ति और दीन भाव पाठक मात्र के हृदय को गद्‌गद कर देता है। प्रथम श्लोक में आचार्य ने कहा है--

> शिवः शक्तचा युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
> न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
> अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिंच्यादिभिरपि,
> प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥

--अर्थात् शिव यदि शक्तियुक्त होते हैं तभी वे सृष्टि, स्थिति और संहार करने में समर्थ होते हैं। अन्यथा वे परम देवता स्पन्दित भी नहीं हो सकते। इस कारण संसार के सृष्टि-स्थिति-संहार के लिए ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवता आपकी ही आराधना करते हैं। अतः मेरे जैसे पुण्यरहित व्यक्ति कैसे आपको प्रणाम या आपकी स्तुति कर सकेगा ?

इस स्तोत्र में सृष्टि के आदि से इस जगत् के स्थितिकाल में देवताओं के जो अलौकिक कार्य विभिन्न शास्त्रों और पुराणादि में वर्णित हैं वे सब इस आद्याशक्ति महामाया की प्रसन्नता से ही सम्भव हुए हैं, इसका अति निपुण भाव से वर्णन किया गया है।

आचार्य तृतीय श्लोक में कहते हैं--"आप ज्ञानहीन व्यक्तियों के अन्तःकरण का अन्धकार दूर करती हैं, जड़बुद्धिवाले अविवेकी लोगों का मोह सूर्य के द्वारा अन्धकार की तरह आप ही नष्ट करती

हैं। संसारसमुद्र में निमग्न विषयासक्त मनुष्यों के लिए आप वराह-रूपी विष्णु के वसुधा-उद्धारक दन्तस्वरूप हैं। अर्थात् वराहरूपी विष्णु के दन्त ने जिस प्रकार वसुधा का उद्धार किया था उसी प्रकार आप भी विषयासक्त व्यक्तियों का उद्धार करती हैं।"

फिर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुर्वग अथवा इनमें से किसी एक वर्ग की प्राप्ति की कामना करनेवाले साधकों का फललाभ भी उसी आद्याशक्ति का कृपासापेक्ष है, इसे भी आचार्य ने बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रकट किया है। इस स्तोत्र के नब्बेवें श्लोक में आचार्य ने कहा है—"हे मातः, मैं ज्ञानार्थी होकर आपके अलक्त-रस-रंजित चरणोदक कब पी सकूँगा ? उस चरणोदक का पान करने से स्वभावतः मूक व्यक्ति भी महाकवि बन जाता है और इसी कारण वाग्देवी सरस्वती अपने मुखकमल-स्थित ताम्बूलरस रूप से इसी पादोदक का पान किया करती है।"

उपसंहार करते हुए आचार्य ने कहा—"हे जननि, दीपशिखा के द्वारा जिस प्रकार सूर्य की आरती की जाती है, चन्द्रकान्त मणि के जल से जिस प्रकार सुधासिन्धुचन्द्र की अर्घ्य-रचना होती है तथा समुद्र के जल से जिस प्रकार समुद्र की पूजा होती है उसी प्रकार आपके प्रदत्त वाक्यों द्वारा ही आपका वाङ्मयस्तोत्र रचा गया।"

"जिनके चरण नूपुरों से शोभित हैं, जिनके शरीर के मध्य भाग में त्रिवली अंकित है, जिनके स्तनयुगल हार से शोभायमान हो रहे हैं, कमलदल के समान जिनके तीन नेत्र हैं, जो लीलामयी हैं, जिनका नाम हिमाचलकन्या है और जो ईश्वररूप वर्तिका के द्वारा प्रदीप्त प्रकाशित ज्ञानमय दीप हैं, मैं बार बार उनके चरण-कमलों में प्रणाम करता हूँ।"

इस आद्याशक्ति को हृदय में धारण करके उनकी प्रसन्नता

के बल से शक्तिमान् होकर आचार्य ने भारत में सनातन वैदिक धर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया। इसी महाशक्ति ने काशी में अन्नपूर्णा के रूप से आचार्य को दर्शन देकर शक्तियुक्त परमतत्त्व के प्रचार का निर्देश दिया था।

आचार्य शंकर ने श्रीनगर में कुछ दिन रहकर भगवती की महिमा का कीर्तन किया। वे केवल शुष्क अद्वैतवादी ही नहीं थे, बल्कि व्यावहारिक क्षेत्र में लोकसंग्रहार्थ उनका यह द्वैतभाव विलास परम माधुर्यमय है। देवमानव देवत्व और मानवत्व के बीच में संयोग-सेतु का निर्माण कर कैसे नरदेह में अवस्थित रहते हैं उसकी भी सुस्पष्ट व्यंजना देखकर जगत्वासी मुग्ध होते हैं।

आचार्य के श्रीमुख से सहज सुन्दर तत्त्व की बात सुनकर नगरवासी सभी व्यक्ति विशेष श्रद्धासम्पन्न तथा परम परितृप्त हो गये और उन्होंने आचार्य के आगमन को चिरस्मरणीय रखने के उद्देश्य से उस पर्वत का नाम 'शंकराचार्य शैल' रखा। अभी तक वह पर्वत उसी नाम से प्रसिद्ध है।

काश्मीर उपत्यका छोड़कर आचार्य अपनी दिग्विजयवाहिनी के साथ चन्द्रभागा नदी के तीर होते हुए भारत की समतल भूमि में लौट आये और क्रमशः तक्षशिला, ज्वालामुखी, हरिद्वार आदि तीर्थों का दर्शन कर पुराण-वर्णित ऋषिमुनि-सेवित नैमिषारण्य में आ पहुँचे।

* * *

आचार्य के शारदापीठ पर आरोहण तथा सर्वज्ञ उपाधि-लाभ आदि के यश की वार्ता उससे पहले ही सर्वत्र प्रचारित हो गयी थी। इस कारण उन दिनों तक्षशिला आदि स्थानों में बौद्धों तथा जैनियों का प्राधान्य रहने पर भी उनमें से किसी को आचार्य के सामने

आने का साहस नहीं हुआ। फलतः आचार्य तथा उनके शिष्यों ने जनता में वेदान्त-धर्म की उपयोगिता, वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार सगुण ब्रह्म का प्रतीक रूप में निष्काम भाव से पंचदेवता-पूजन तथा चित्तशुद्धि के लिए पंचमहायज्ञों के अनुष्ठान की उपयोगिता का प्रचार किया। विशेष रूप से उन्होंने बौद्ध और जैन मतों के सूक्ष्म दार्शनिक तर्कों का खण्डन करके जनसाधारण को वेद-विश्वासी तथा सगुणब्रह्मोपासना-परायण होने के लिए उत्साहित किया। जीव से अभिन्न ब्रह्म के ज्ञान से ही मुक्ति होती है। एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही विराजमान हैं। दिखायी पड़नेवाले नाना प्रकार के पदार्थ यथार्थ में नहीं हैं ('एकमेवाद्वयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन')। होम, यज्ञ, उपासना आदि कर्म सकाम होने से उनके द्वारा विभिन्न लोकों की प्राप्ति होती है और निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर उनसे चित्तशुद्धि होती है। उपासना द्वारा एकाग्रता तथा आस्तिकता उत्पन्न होती है। आचार्य क्रमसमुच्चयवादी थे। वे अधिकारी-भेद से कर्म, उपासना और ज्ञान का उपदेश देते थे।

सर्वोपरि वे विशेष रूप से उदारपन्थी थे। वे किसी को स्वधर्मत्याग का उपदेश नहीं देते थे। यहाँ तक कि बौद्धों और जैनियों को भी अपने धर्म का त्याग करने के लिए नहीं कहते थे। सब के पारलौकिक कल्याण के लिए केवल उनके मतवाद की अपूर्णता दिखाकर वेदान्तसिद्धान्तानुयायी ब्रह्मबुद्धि से साधन-भजन करने का ही उपदेश देते थे। वे एकाधार में भक्त, योगी और ज्ञानी थे। उनके मत में ब्रह्म ही एकमात्र नित्य सत्य है। जगत् रूप में विकसित दृश्य मिथ्या है। जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। मुक्ति में जीव ब्रह्म ही हो जाता है। अन्तिम मुक्ति और जीवन्मुक्ति दोनों आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं। जीवन्मुक्ति में जीव

मुक्ति का आनन्द पाता है और निर्वाण-मुक्ति में जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

आचार्य शंकर शैव को वैष्णव और वैष्णव को शैव बनाना पसन्द नहीं करते थे ‡। बल्कि हरएक को वे अपने अपने अभीष्ट देवता की ब्रह्मप्रतीक के रूप में उपासना करने के लिए ही

---

‡ मतान्तर में आचार्य शंकर ने उस समय के विकृत शैव मत का खण्डन कर परम गुरु शिव की सगुण ब्रह्म के रूप में पूजार्चना करने का ही उपदेश दिया था। सगुण-ब्रह्मात्मक इस शैव मत को सुप्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने एक समय अपने एक शिष्य 'परमकालानल' को बुलाकर पूछा—"बेटा, संक्षेप में बताओ तुम्हें किस मत में प्रीति है। भावी काल के लिए उपयोगी समझकर मैं उसी का अनुमोदन करूँगा"। शिष्य ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—"देव, प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप शिव में ही मेरा मन अनुरक्त है। मैं अन्तर में शिव को ही इष्ट मानकर उनकी आराधना करता हूँ। उनके प्रसन्न होने से ही जीव चतुर्वर्ग का अधिकारी हो सकता है।" आचार्य ने कहा—"तुम्हारी बात से मैं प्रसन्न हुआ। इस प्रकार की शिवोपासना जीवों के लिए कल्याणकारी है। अद्वैत-ब्रह्मज्ञान के अधिकारी विरले ही हैं। अतः तुम जनसाधारण में परमेश्वररूप शिव की पूजा का प्रवर्तन करो। और साथ ही साथ सभी को पंचदेवता की पूजा और पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान का भी उपदेश देते रहो। आसमुद्रहिमाचल समग्र भारत में परम देवता शिव की पूजा और उपासना का प्रवर्तन करने के लिए मैं तुम्हें नियुक्त करता हूँ।" परमकालानल आचार्य का आशीर्वाद लेकर त्रिशूल और डमरू लिये शिष्य-वाहिनी के साथ सगुण-ब्रह्मात्मक शैव मत के प्रचारार्थ वहाँ से चल पड़े।

एक दूसरे अवसर पर आचार्य ने अपने एक शिष्य लक्ष्मण को श्रीनारायण का भक्त जानकर सगुण-ब्रह्मात्मक वैष्णव मत के प्रचार के लिए भेज दिया। एक बार शिष्य दिवाकर को सूर्य का उपासक जानकर ब्रह्मात्मक सौर मत के प्रचारार्थ आज्ञा दी। इसी प्रकार आचार्य ने अपने शिष्यों को विभिन्न

उत्साहित करते थे। यद्यपि आचार्य ने प्रधानतः अद्वैत-वेदान्त अर्थात् अद्वैत-ब्रह्मतत्त्व का प्रचार किया था तथापि उन्होंने किसी देवी-देवता पर अननुराग का प्रदर्शन नहीं किया। बल्कि स्तोत्रादि द्वारा उनके प्रति गम्भीर श्रद्धा ही व्यक्त की है। उन्होंने स्वयं अद्वैत-ब्रह्मज्ञान में सुप्रतिष्ठित रहकर भी लोकहितार्थ व्यावहारिक क्षेत्र में सर्वसाधरण के लिए उपयोगी वैदिक धर्म का एक विराट् रूप तथा सार्वजनीनता प्रकटित करने के लिए सगुण ब्रह्म का प्रतीक मानकर विभिन्न देवी-देवताओं की भी पूजा-अर्चना की है। आचार्य के जीवन में सभी ब्रह्म है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) यह महावाक्य यथार्थ रूप से प्रकटित हुआ है।

उन्होंने और भी कहा है कि, केवल ब्रह्मज्ञान से ही कैवल्यमुक्ति होती है। मुक्ति में जीव अपना जीवभाव छोड़कर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। किन्तु देवी-देवताओं की उपासना से चित्त की एकाग्रता होती है तथा उन उन देवी-देवताओं की प्रसन्नता का लाभ भी होता है। वेदज्ञान उपासना का अंग है तथा अधिकारी-भेद से साधकों के लिए उपासना का भी प्रयोजन है। सभी निर्गुण ब्रह्मतत्त्व के अधिकारी नहीं हो सकते। साधनचतुष्टय-सम्पन्न व्यक्ति अर्थात् जिनमें नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान का अभ्यास तथा मुमुक्षुता है

देवताओं के उपासक जानकर उन्हें अपने अपने इष्टदेवता की उपासना के प्रचार के लिए नियुक्त कर दिया। आचार्य के निर्देशानुसार त्रिपुरकुमार ने शक्तिमत का प्रचार किया, गिरिजाकुमार ने गाणपत्य मत की स्थापना की और बटुकनाथ ने कापालिक मत का प्रचार किया। आचार्य शंकर ने अपने जीवितकाल में ही अधिकारी-भेद से शिष्यों के द्वारा सगुण ब्रह्म की विभिन्न उपासनाओं का प्रवर्तन किया था।

वे ही वेदान्त के अधिकारी हैं।

परब्रह्म एक, अद्वैत, निर्विशेष और निर्गुण हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति आदि विभिन्न देवी-देवता ब्रह्म की ही मायाश्रित अभिव्यक्तियाँ हैं। अधिकार और रुचि के भेद के अनुसार सभी देवी-देवता सगुण ब्रह्म के प्रकाश रूप से उपास्य हैं। आचार्य ने सर्वत्र विभिन्न मतवादों का संशोधन कर उन्हें वेदान्त-धर्म के अन्तर्गत कर दिया है। साथ ही विशेष विशेष क्षेत्रों में उन्होंने वर्णाश्रमधर्मत्यागियों तथा कुमार्गगामियों के लिए प्रायश्चित्त का विधान भी किया था। यथाशास्त्र प्रायश्चित्त कराकर वे उन्हें वर्णाश्रमधर्मानुयायी धर्मानुष्ठान में नियोजित करते थे। इस कारण हम देखते हैं कि उनके द्वारा रोपित वेदान्त-वृक्ष कम से कम पचहत्तर शाखाओं, अनेक प्रशाखाओं, उपशाखाओं तथा पत्र-पुष्पों से सुशोभित होकर महामहीरुह के रूप में परिणत होकर अगणित नरनारियों को सुशीतल शान्ति की छत्रछाया दे रहा है। फलस्वरूप सभी हिन्दू हैं, सभी वैदिक-धर्मानुष्ठानकारी हैं और सभी वेदाश्रयी रह-कर हिन्दू नाम से अपना परिचय देने में गर्व का अनुभव करते हैं।

आचार्य के उदार मतवादप्रचार के फलस्वरूप विभिन्न मता-वलम्बियों के दार्शनिक तत्त्व में आमूल परिवर्तन हुआ और सभी ने वेदान्त के मौलिकत्व और श्रेष्ठत्व को स्वीकार किया था।

* * *

अतीत युग में नैमिषारण्य में वैदिक संस्कृति का, विशेषतया कर्मकाण्डियों का एक बड़ा केन्द्र था। पुराणादि में उस विषय के अनेक उल्लेख तथा निदर्शन मिलते हैं। आचार्य, नैमिषारण्य में आकर पूर्वऐतिह्य का कोई भी निदर्शन न देखकर बहुत दुःखी हुए। ऋषियों के आश्रम नहीं थे और न वेदध्वनि ही सुनायी पड़ती

थी। वहाँ बौद्ध तान्त्रिकों का प्राधान्य था। आचार्य ने वहाँ कुछ दिन रहकर वेदान्त-सिद्धान्त का प्रचार किया। बुद्धदेव ने जिस ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया था वह अद्वैत-वेदान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है इसकी व्याख्या करके उन्होंने सब को समझाया। फलस्वरूप अनेक व्यक्ति वैदिक धर्म-कर्म और उपासना करने लगे।

नैमिषारण्य छोड़कर आचार्य क्रमशः श्रीरामचन्द्रजी के जन्म-स्थान अयोध्या आये। वहाँ भी बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण देवी-देवताओं की पूजा लुप्तप्राय हो गयी थी। आचार्य ने श्रीरामचन्द्र के मन्दिर में आकर मन्दिर का संस्कार करके यथाशास्त्र पूजा का प्रवर्तन किया तथा देवी-देवताओं की उपासना की उपयोगिता का उपदेश भी दिया। उनके प्रचार के कारण अनेक लोग पंचदेवता के उपासना-परायण हुए।

उन स्थानों में बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव रहने पर भी सर्वत्र वेदान्तसम्मत कर्म और उपासना की आवश्यकता का प्रचार करते हुए, आचार्य मिथिला, मगध राज्य और नालन्दा आदि स्थानों से होते हुए राजगृह से गया आये।

अति प्राचीन काल से ही गयाधाम सर्वश्रेष्ठ पितृतीर्थ है। भारत के विभिन्न प्रान्तों से अनेक हिन्दू, पितृपुरुषों के उद्धार के लिए गयाधाम में प्रतिष्ठित भगवान् गदाधर विष्णु के पादपद्मों में पिण्डदान करते आ रहे हैं। भगवान् बुद्धदेव ने गया के पास बोधगया में बुद्धत्व प्राप्त किया था। उसके बाद बौद्ध धर्म के अभ्युदय के समय गया का माहात्म्य तथा वैदिक धर्म का प्रभाव घट गया।

बुद्धदेव ने जिस स्थान पर बुद्धत्व प्राप्त किया था वहाँ पर धर्माशोक ने एक विशाल मन्दिर बनवाकर उसमें बुद्धदेव की मूर्ति स्थापित की थी। क्रमशः वह स्थान और वह मन्दिर समस्त बौद्धसंसार के

लिए महान् पवित्र तीर्थ के रूप में परिणत हो गया था। उस मन्दिर के आधार पर तथा उस समय की राजशक्ति के संरक्षण से सारे भारत में बौद्ध धर्म विशेष प्रतापशाली हो उठा था।

इससे पहले आचार्य शंकर ने भगवान् विष्णु के दस अवतारों का जो स्तोत्र लिखा था उसमें बुद्धदेव को दशावतार में से नवम अवतार रूप से गिनाया था। * यथार्थ में बुद्धदेव वैदिक मार्ग के अवलम्बन से साधना करके ही सिद्ध हुए थे। उन्होंने जिस निर्वाण की बात बतायी थी वह केवल शून्यमय नहीं है—वह है परिपूर्ण आनन्दमय। निर्वाण में परमानन्द का लाभ होता है। विषयतृष्णा के निर्वाण से शाश्वत शान्ति तथा भूमानन्द की प्राप्ति होती है। बुद्धदेव आर्यपुत्र थे। सम्बोधिलाभ के अनन्तर उन्होंने आर्यशास्त्रों की सत्यता का ही प्रचार किया था। बुद्धदेव द्वारा कथित निर्वाण

---

* धराबद्धपद्मासनस्थांघ्रियष्टि–
नियम्यानिलन्यस्तनासाग्रदृष्टिः।
य आस्ते कलौ योगिनां चक्रवर्ती
स बुद्धः प्रवुद्धोऽस्तु निश्चिन्तवर्ती॥

—जो बुद्ध रूप से अवतीर्ण होकर भूमण्डल में पद्मासन पर बैठकर प्राणसंयम-पूर्वक नासाग्र में दृष्टि स्थिर करके बैठे थे तथा योगियों के अग्रगण्य होकर कलियुग में प्रादुर्भूत हुए थे वे बुद्धरूपी भगवान् हमारे चित्त में अधिष्ठित रहें।

परवर्ती काल में कवि जयदेव ने अपने दशावतार-स्तोत्र में बुद्धदेव को विष्णु के अवतार रूप से ग्रहण किया था–

"निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदयहृदयदर्शितपशुघातम्।
केशवधृतबुद्धशरीरः जय जगदीश हरे।"

—हे दयामय, अहो, यज्ञार्थप्रतिपादक जिन वेदवाक्यों में पशुहिंसा का विधान है, उसकी आपने निन्दा की है। केशव ही बुद्धरूपधारी हैं। हे जगदीश, हे हरि, आपकी जय हो।

और वेदान्त का मोक्ष दोनों एकार्थवाचक हैं। परवर्ती युग में बुद्धदेव के अनुयायी पण्डितों ने भिन्नार्थ करके पृथक् मत की सृष्टि की थी।

भगवान् बुद्धदेव को आचार्य ने विष्णु के एक अवतार रूप से ग्रहण किया था और उनके प्रचार के फलस्वरूप बौद्ध धर्म की नींव शिथिल हो गयी। गया के ब्राह्मणों ने बुद्धदेव का विष्णु के अवतार रूप से पूजन का प्रवर्तन किया। उसका भी विशेष फल हुआ था। विभिन्न प्रकार के गृहस्थ बौद्ध लोग बुद्धदेव को विष्णु के अंश रूप से पूजित करने लगे।

उस प्रदेश में आचार्य के आगमन और बुद्धदेव के अवतार रूप से प्रचार के फलस्वरूप, बौद्ध लोग बुद्धदेव को न छोड़कर ही अपने को हिन्दू नाम से परिचित करने लगे और बुद्धदेव भी विभिन्न नामों से विभिन्न स्थानों में दूसरे देवी-देवताओं के साथ पूजा पाने लगे। आचार्य ने कुछ दिन तक गयाधाम में रहकर वैदिक धर्म का प्रचार किया। उनके शिष्यों ने भी विभिन्न स्थानों में वेदान्तधर्म का प्रचार करके भ्रान्तजनों के हृदय में धर्मालोक भर दिया था। वेद को अपौरुषेय अभ्रान्तवाणी रूप से सभी ने ग्रहण किया।

देखते देखते गया के निकट तथा दूर के स्थानों में इस प्रचार के फलस्वरूप दल के दल मनुष्यों ने आकर वैदिक धर्म का आश्रय लिया और अपने को हिन्दू नाम से व्यक्त करने लगे।

* * *

गयाधाम छोड़कर आचार्य अपने शिष्यों के साथ वंगदेश के नाना स्थानों में वैदिक धर्म की व्याख्या तथा प्रचार करने लगे। उन स्थानों के अधिवासी लोग वेद के प्रति श्रद्धा जताने लगे और वेदान्त-सिद्धान्त सुनकर वैदिक क्रिया-कलाप के अनुष्ठान में प्रयत्नशील हुए। थोड़े ही दिनों में समाज के विभिन्न स्तरों में पंचदेवता

का पूजानुष्ठान प्रवर्तित हुआ। उन दिनों सारे वंगदेश में बौद्ध तान्त्रिकों का विशेष प्राबल्य रहा। वेद का नाम भी बहुत अल्प लोग ही जानते थे। आचार्य के आगमन से वंगदेश में प्रायः सर्वत्र हिन्दू शास्त्रों का पठन-पाठन आरम्भ हुआ। किसी किसी स्थान में आचार्य के साथी गृहस्थ शिष्यों ने शिव, काली तथा अन्यान्य देवी-देवता की विग्रहप्रतिष्ठा कर उनके पूजन में स्थानीय ब्राह्मणों को लगाया। आचार्य के श्रीमुख से वेद की शास्त्रव्याख्या तथा महिमा-कीर्तन सुनकर पण्डित लोग मुग्ध हुए। विशेषतया आचार्य के देवता-तुल्य चरित्र, शान्त गम्भीर मूर्ति और आत्मानन्द की दीप्ति से समुज्ज्वल मुखमण्डल ने सब की असीम श्रद्धा आकर्षित की। शंकराचार्य को साक्षात् शंकरावतार रूप से सब ने मान लिया।

शंकर की उपस्थिति और प्रचार के फलस्वरूप अल्प दिनों में ही सारे वंगप्रदेश में पंचदेवता की पूजा प्रवर्तित हुई। जन-साधारण वेद पर विश्वास करने लगे तथा वैदिक धर्म में नवजागरण दिखायी पड़ा।

वंगदेश में धर्मसंस्कार-कार्य संपूर्ण करके आचार्य विभिन्न नगरों में वैदिक धर्म की महिमा का प्रचार करते हुए प्राग्ज्योतिषपुर (कामरूप) तथा आसाम की ओर अग्रसर होने लगे। समग्र आसाम-प्रदेश में विशेषतया कामरूप में उस समय बौद्ध तान्त्रिकों का प्राधान्य था। तान्त्रिक लोग प्रायः मन्त्रसिद्धि और मारण, उचाटन, वशीकरण आदि क्रियाओं में विशेष दक्ष थे। ऐसे मन्त्रसिद्ध तान्त्रिकों का प्रभाव केवल आसाम में ही सीमाबद्ध नहीं था वरन् भारत के विभिन्न स्थानों से मारण, उचाटन आदि विद्याओं की शिक्षा-प्राप्ति के लिए अनेक तान्त्रिक साधक कामरूप में आया करते थे और वहाँ से दीक्षा तथा साधना ग्रहण कर अपने अपने देश लौटकर

तान्त्रिक क्रियाकाण्ड का प्रचार करते थे। उस प्रकार की साधना का मुख्य उद्देश्य था अलौकिक शक्ति का अर्जन तथा प्रतिष्ठा-लाभ।

आचार्य शिष्यों तथा सैकड़ों पण्डितों के साथ आये हैं, सुनकर प्राग्ज्योतिषपुर के तत्कालीन राजा ने अपने कर्मचारियों के साथ जाकर बहुत आदर से आचार्य का स्वागत किया। राजा को आशीर्वाद देकर विराट् दिग्विजयवाहिनी के साथ आचार्य शंकर राजा को साथ लेकर कामरूप में पुराणप्रसिद्ध देवीपीठ कामाख्या पर्वत के नीचे उपस्थित हुए। आचार्य के आगमन से वहाँ के लोगों में एक विशेष आनन्द उत्पन्न हुआ। दल के दल मनुष्य आचार्य के दर्शन के लिए आने लगे।

सशिष्य आचार्य ने पर्वत पर आरोहण करके शक्तिपीठ में पूजार्चना की और वहाँ बहुत देर तक ध्यानमग्न हो बैठे रहे। उस ध्यानगम्भीर सौम्यमूर्ति का दर्शन कर सभी उनके प्रति विशेष श्रद्धान्वित हुए। आचार्य और उनके प्रधान शिष्यों ने अधिकारी-विचारपूर्वक सब को वैदिक धर्म का उपदेश दिया। आचार्य के विराट् व्यक्तित्व के सामने सभी नतमस्तक हो गये। बहुतों ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया तथा लोग वैदिक धर्म के पालन में प्रवृत्त हुए।

कुछ दिनों के भीतर ही कामरूप के बौद्धप्रभावान्वित तान्त्रिकों ने अभिनव गुप्त को आगे रखकर आचार्य को शास्त्रविचार के लिए बुलाया। अभिनव गुप्त के साथ आचार्य शंकर का तुमुल शास्त्रार्थ हुआ। अन्य तान्त्रिक पण्डित भी आचार्य के शिष्यों के साथ शास्त्रार्थ करने लगे। अभिनव गुप्त ने यथाशक्ति अपने पक्ष के समर्थन की चेष्टा की, किन्तु आचार्य की असामान्य प्रतिभा के सामने पराजय स्वीकार करने को बाध्य हुए। दूसरे तान्त्रिक भी शंकर-शिष्यों के

सामने पराजित हुए । तान्त्रिकों की इस पराजय के फलस्वरूप जनसाधारण वैदिक धर्म के प्रति अनुरागी होकर मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा प्रचारित आचारों का आश्रय लेकर पंचदेवता की पूजा में तत्पर हुए ।

अभिनव गुप्त केवल एक शक्तिमान् तान्त्रिक ही नहीं थे बल्कि उनके पाण्डित्य की भी बहुत ख्याति थी । उन्होंने वेदान्तमत का खण्डन कर ब्रह्मसूत्र पर एक शक्तिभाष्य की रचना की थी ।

शास्त्रार्थ में पराजित होकर अभिनव गुप्त ‡ अपने को बहुत अपमानित मानकर सोचने लगे कि शंकर के समान पण्डित संसार में कोई नहीं है । वे त्रिलोकजयी अद्वितीय पण्डित हैं, परन्तु उनके समक्ष खुलकर अपनी पराजय मानने को वे तैयार नहीं थे । उन्होंने विचार किया कि शंकर जब तक जीवित हैं तब तक तन्त्रमत का ह्रास निश्चित है । अतः किसी प्रकार इनका विनाश कर सकने से ही तन्त्रमत सुरक्षित रह सकेगा । ऐसा दुष्ट अभिप्राय मन में रखकर अभिनव गुप्त अपने शिष्यों के साथ शंकराचार्य के शिष्य बन गये । आचार्य को विशेष सम्मान दिखाकर अधीन शिष्य के समान वे गुरु की सेवा में व्रती हुए, किन्तु गुरु के प्राणनाश के लिए गुप्त रूप से अभिचार-क्रिया के अनुष्ठान में भी लगे रहे ।

कुछ दिनों के भीतर ही आचार्य के शरीर में असाध्य भगन्दर रोग पैदा हो गया । रोग क्रमशः बढ़ता ही गया । असहनीय वेदना

---

‡ Justice Woodroffe के मत में अभिनव गुप्त काश्मीर के एक बड़े तान्त्रिक साधक थे । वे थे लक्ष्मणाचार्य के शिष्य । अतः अभिनव गुप्त के साथ शंकराचार्य का शास्त्रार्थ और आचार्य के प्रति उनकी अभिचार-क्रिया का प्रयोग काश्मीर में ही होना सम्भव है ।

हमारे मत में आसाम के अभिनव गुप्त कोई दूसरे व्यक्ति थे ।

होने लगी, पीप और रक्त का स्राव होने लगा; परन्तु आचार्य अचल और अटल थे। वे देहातीत सत्ता में प्रतिष्ठित रहकर जनगण को वेदान्त का उपदेश देते थे और उनका धर्मजीवन शाश्वत शान्तिलाभ की ओर चालित हो, इस पर उनका आन्तरिक आग्रह तथा सावधान दृष्टि थी।

रोग बढ़ता ही चला। आचार्य का शरीर क्रमशः क्षीण होने लगा। थोड़े ही दिनों में वे शय्याग्रस्त हो गये, परन्तु इससे भी आचार्य धर्मोपदेश के आकांक्षी व्यक्तियों को निर्विकार चित्त से धर्मोपदेश देते थे, क्योंकि वे ब्राह्मीस्थिति में सुप्रतिष्ठित थे।

शिष्यों ने इससे पहले गुरुदेव के शरीर में किसी प्रकार के रोग का संचार नहीं देखा था। घबड़ाकर वे प्राणपण से उनकी सेवा करने लगे। किन्तु केवल सेवा से ही रोग का उपशम नहीं होता, इस कारण पद्मपाद आदि शिष्य रोग की चिकित्सा के लिए बहुत व्यग्र हो गये। वे वैद्य बुलाने की प्रार्थना करके आचार्य से बोले —"प्रभो, इस महाव्याधि की उपेक्षा करना उचित नहीं है। शरीर के प्रति ममत्वबोध न रहने के कारण इस उत्कट रोग-यन्त्रणा की आप उपेक्षा दिखा रहे हैं परन्तु आपका यह असहनीय क्लेश देखकर हम स्थिर नहीं रह सकते। आप आज्ञा दीजिये, हम वैद्य लाकर चिकित्सा का प्रबन्ध करें।"

आचार्य मृदु हास्य से बोले—"वत्स, तुम लोग इतने विचलित क्यों हुए? भोग के द्वारा ही रोग का क्षय होता है, और यदि इससे इस देह का नाश अवश्यम्भावी हो, तो उसमें भी मुझे कोई दुःख नहीं है। तुम लोग वृथा चिकित्सा की चेष्टा न करो।"

गुरुदेव के श्रीमुख से ऐसा वैराग्यपूर्ण वाक्य सुनकर शिष्यों ने आँसू बहाते हुए कहा—"देव, यथार्थ में ही देह के प्रति आपकी किंचित्

मात्र भी आसक्ति नहीं है। परन्तु हे गुरो, जलचर जीवों के लिए जल की तरह आप ही हमारे जीवनस्वरूप हैं। साधु लोग जीव-जगत के हित के लिए ही स्वयं कृतार्थ तथा निष्काम होकर देह-धारण करते हैं। हे भगवन्, आप परहित के लिए अपनी देह की रक्षा कीजिये।" ऐसे ही अनेक प्रकार से वे विलाप करने लगे।

शिष्यों के रुदन से आचार्य का हृदय करुणा से द्रवीभूत हो गया। उन्होंने वैद्य बुलाने की आज्ञा दे दी। शिष्यों के द्वारा स्थानीय राज-वैद्य को आचार्य की कठिन पीड़ा की बात ज्ञात करायी गयी। सुनते ही वैद्य ने आनन्द से आचार्य की चिकित्सा का भार ले लिया। राजवैद्य ने उत्तमोत्तम औषधियों का प्रयोग कर चिकित्सा आरम्भ की, किन्तु रोग घटने के बदले क्रमशः बढ़ता ही गया। वैद्य ने अन्त में निराश होकर कहा—"यतिवर, हमने समयानुसार चेष्टा की, परन्तु देखा आपका रोग असाध्य है। हमारी सभी औषधियाँ व्यर्थ हो गयी हैं। अब कर्तव्य क्या है, उसका निर्णय हम नहीं कर सकते।"

आचार्य ने वैद्य से कहा—"रोग का शमन नहीं कर सके, इसलिए आप दुःखी न हों। यह रोग शमित न हुआ, तो हानि क्या है? देह तो नश्वर ही है। एक दिन इसका नाश अवश्य ही होगा। रोग तो एक निमित्त मात्र है। आप लोगों ने यथासाध्य चेष्टा की है। आप राजवैद्य हैं। अब राजा के पास लौट जाइये। आपके और भी अनेक रोगी हैं। वे सभी आपका रास्ता देख रहे होंगे। वैद्य केवल मनुष्य ही नहीं हैं, भगवान् ने आप लोगों पर जीव की देहरक्षा का भार सौंपा है। वैद्य साक्षात् विष्णुतुल्य और नारायणस्वरूप हैं। सानन्द चित्त से लौट जाइये, मैं आशीर्वाद देता हूँ कि आपका मंगल हो"।

वैद्य चले गये। शिष्यगण विशेष उद्विग्न हुए। अभिनव गुप्त

आचार्य के पास ही रहते थे। अपनी मन्त्रशक्ति का प्रभाव देखकर वे भीतर ही भीतर प्रसन्न हो रहे थे और गुरु की अन्तिम साँस की प्रतीक्षा कर रहे थे। इधर आचार्य तीव्र रोगयन्त्रणा को चुपचाप सहन करते हुए महाप्रयाण के लिए तैयार होने लगे। शिष्यों को भी वे अन्तिम उपदेश देने लगे।

आचार्य की तितिक्षा हमारे मन में गम्भीर प्रभाव उत्पन्न करती है। वे ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित रहकर जीवन्मुक्त अवस्था में अवस्थित थे। मन में वासना का लेश भी नहीं था। देहरक्षा और देहत्याग दोनों को ही वे समान दृष्टि से देखते थे। ब्रह्मज्ञ-पुरुष किस ढंग से संसार में रहते हैं, उसका एक उज्ज्वल दृष्टान्त आचार्य का जीवन है। सुखदुःख के परे परम सत्ता में वे प्रतिष्ठित थे। उनके हृदय में दया ही एकमात्र वृत्ति थी।

रोगमुक्ति की कोई आशा दिखायी नहीं पड़ी। आचार्य का शरीरत्याग अब निश्चित प्रतीत होने लगा। ठीक उसी समय एक अचिन्तनीय घटना ने सब को एक साथ स्तम्भित और विस्मित कर दिया। जनश्रुति है कि महादेव की आज्ञा से देववैद्य दोनों अश्विनीकुमार ब्राह्मण बालकों के वेश में वहाँ आ उपस्थित हुए। माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि उनके शरीर तेजःपूर्ण कान्तिमान् थे। दोनों के नेत्र अंजनलिप्त थे। हाथ में पुस्तक लिये आचार्य के सामने उपस्थित होकर वैद्य रूप से उन्होंने अपना परिचय दिया। रोग की अवस्था जानकर वे कहने लगे—"हे यतिवर, आपके इस रोग की चिकित्सा असम्भव है, क्योंकि दूसरे की मन्त्रशक्ति के प्रभाव से इस रोग की उत्पत्ति हुई है। केवल दैव-उपाय करने पर ही इस रोग का प्रतिकार हो सकता है।" इतना कहकर दोनों अश्विनीकुमार चले गये। शिष्य लोग शोकाकुल तथा किंकर्तव्य-

विमूढ़ हो गये। आचार्य आत्मध्यान में निमग्न हो गये।

पद्मपाद की व्याकुलता सब से अधिक हुई। गुरुदेव शरीर छोड़ देंगे ऐसी चिन्ता उनके लिए असहनीय थी। विशेष रूप से, कोई दुष्ट व्यक्ति मन्त्रशक्ति के प्रयोग से गुरुदेव का प्राणनाश कर रहा है, यह चिन्ता उन्हें और भी अधिक व्यथित करने लगी। कोई दूसरा उपाय न देखकर वे अभीष्ट देवता नृसिंहदेव से गुरुदेव की रोगमुक्ति के लिए कातर भाव से प्रार्थना करने लगे। भक्त की व्याकुल प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान् नृसिंहदेव स्वप्न में पद्मपाद को दर्शन देते हुए बोले---"बेटा, स्वर्गीय वैद्य अश्विनीकुमारों ने जो कुछ कहा है, वह सत्य है। तुम्हारे गुरु के शरीर में कोई रोग नहीं हुआ है। यह जो भगन्दर दिखायी पड़ता है वह किसी तान्त्रिक अभिचार का फल है। यदि तुम ओंकार मन्त्र से प्रत्यभिचार कर सको, तो तुम्हारे गुरु निरामय हो जायेंगे। अन्यथा इसी से उनका जीवनान्त होगा।" इतना कहकर पद्मपाद को आशीर्वाद देते हुए नृसिंहदेव अदृश्य हो गये।

निद्राभंग होने पर पद्मपाद ने गुरुचरणों में प्रणाम करते हुए कहा---"भगवन्, नृसिंहदेव ने स्वप्न में दर्शन देकर मुझसे कहा है कि आपकी यह अस्वस्थता तान्त्रिक अभिचार का फल है और ओंकार मन्त्र से प्रत्यभिचार ही इसका एकमात्र प्रतिकार है, नहीं तो यह रोग आपका प्राण लेकर ही शान्त होगा। देव, अब आप आज्ञा दीजिये, मैं नृसिंहदेव द्वारा उपदिष्ट मन्त्र से प्रत्यभिचार करके आपको इस कठिन रोग से मुक्त करूँ।"

आचार्य शंकर कुछ क्षण तक मौन रहकर हँसते हुए बोले—"पद्मपाद, तुम शान्त हो जाओ, कभी प्रत्यभिचार न करो। इस नश्वर शरीर से यदि किसी का अभीष्ट सिद्ध होता है, तो उसमें

हानि क्या है ? प्रत्यभिचार करने से तुम्हें नरहत्या का पाप स्पर्श करेगा। ऐसे कुकर्म में तुम्हारी प्रवृत्ति न हो। मेरा आदेश मानना तुम्हारा परम कर्तव्य है।"

पद्मपाद दृढ़ स्वर से बोले—"प्रभो, आप स्वयं समाधियोग से यदि शरीर छोड़ दें, तो हमें कोई दुःख नहीं होगा। परन्तु किसी दुष्ट व्यक्ति के हाथ से आपका प्राणनाश हो, इसे हम कैसे सहन करेंगे ? आपकी जीवनरक्षा के लिए यदि मुझे अनन्त नरक में भी जाना पड़े, तो मैं उसके लिए तैयार हूँ। आप स्वयं चाहें तो इसी क्षण रोग से मुक्त हो सकते हैं। जब वैसा आप नहीं करेंगे, तो हमारी क्षुद्र शक्ति से जो कुछ सम्भव है, उसे ही करने दीजिये।"

पद्मपाद की दृढ़ता देखकर आचार्य सब कुछ भवितव्य समझकर मौन हो रहे। वे विराट् इच्छाशक्ति के यन्त्ररूप होकर इस संसार में रह रहे हैं। पद्मपाद आचार्य की चरणधूलि मस्तक पर धारण कर वहाँ से चले गये और दैवबल से बलवान् होकर प्रत्यभिचार में प्रवृत्त हुए। अभिनव गुप्त सब कुछ देख-सुन रहे थे। पद्मपाद ने प्रत्यभिचार आरम्भ किया है देखकर वे बहुत घबड़ाये, किन्तु चुपचाप न रहकर अपनी मन्त्रशक्ति की सहायता से अपनी रक्षा करने के लिए अनुष्ठान करने लगे। दोनों पक्षों की मन्त्रशक्ति में भीषण संग्राम होने लगा। इस मन्त्रयुद्ध में दैवकृपाप्राप्त पद्मपाद ही विजयी हुए। थोड़े ही दिनों के भीतर अपने ही शरीर में भगन्दर रोग की सूचना देखकर भयभीत होते हुए लोकलज्जा के भय से छिपकर अभिनव गुप्त अपने घर भाग गये। अब सारी घटना का भेद खुल गया। अभिनव गुप्त का रोग जैसे जैसे बढ़ने लगा आचार्य का रोग वैसे ही वैसे घटने लगा। कुछ दिनों में आचार्य पूर्ण रूप से निरामय हो गये और अभिनव गुप्त की मृत्यु हो

गयी ।* संसार में जो लोग असूयावश दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए कुकर्म करते हैं श्रीभगवान् उनका उचित दण्डविधान करते हैं। ईर्ष्या-द्वेष मनुष्य के परम शत्रु हैं। धर्म के नाम से पाखण्ड, संकीर्ण दृष्टि और नाम-यश की आकांक्षा मनुष्य को कैसा नीच, निर्दयी और धर्मान्ध कर सकने में समर्थ हैं, अभिनव गुप्त का कार्य इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

आचार्य के शिष्य लोग गुरुदेव को रोगमुक्त देखकर आनन्दित हुए, परन्तु आचार्य ने अभिनव गुप्त के मृत्यु-समाचार पर विशेष खेद प्रकट किया। इस घटना से कामाख्या-निवासी तान्त्रिक बहुत ही भयभीत हुए। उन्होंने समझ लिया कि तान्त्रिक साधना का लक्ष्य क्षुद्र सिद्धिलाभ पाना नहीं है, अब से अद्वैत-सिद्धान्त ही तन्त्र का

---

* मतान्तर में है, नृसिंहदेव ने आविर्भूत होकर पद्मपाद को स्वर्गीय वैद्य दोनों अश्विनीकुमारों की शरण लेने की आज्ञा दी थी। वे दोनों भाई स्वप्न में दर्शन देकर आचार्य के शरीर में रोग का कारण बताते हुए पद्मपाद को प्रत्यभिचार करने के लिए कहकर चले गये।

अभिचार और प्रत्यभिचार दोनों ही मारण, उचाटन, वशीकरण के समान बहुत ही कठिन तान्त्रिक क्रियाएँ हैं। तन्त्रकल्पद्रुम ग्रन्थ में लिखा है कि अथर्ववेदोक्त मन्त्रयन्त्रादि-निष्पादित मारणोचाटन आदि हिंसात्मक कर्मों की तरह अभिचार भी एक कठिन तान्त्रिक क्रिया है। मारणादि तान्त्रिक प्रयोग आदि को भी अभिचार कहते हैं। तन्त्रमत में एक बकरे को शत्रुरूप मानकर उसमें शत्रु की प्राणप्रतिष्ठापूर्वक "अयं स वैरी यो द्वेष्टि तमिमं पशुरूपिणं विनाशय, महादेवि !" इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण कर दुर्गादेवी के सामने उस बकरे को काटना होता है।

तन्त्र में है, किसी सिद्ध गुरु से शिक्षा प्राप्त किये बिना कोई भी उस साधन में सिद्ध नहीं हो सकता। सम्भवतः अश्विनीकुमारों ने पद्मपाद को प्रत्यभिचार-क्रिया अच्छी तरह सिखा दी थी।

लक्ष्य बना। तन्त्रमत की साधना निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर साधक की चित्तशुद्धि होती है और भगवती की प्रसन्नता से साधक ब्रह्मतत्त्व के अधिकारी होते हैं।

शरीर स्वस्थ होने पर आचार्य अपनी दिग्विजयवाहिनी के साथ गौड़ (आजकल के उत्तरी बंगाल) की ओर रवाना हुए। उन दिनों गौड़ में वैदिक धर्म विलुप्त हो गया था। स्थानीय राजा ने आचार्य के श्रीमुख से सनातन धर्म की व्याख्या सुनकर अपने राज्य में वैदिक धर्म की पुनःप्रतिष्ठा करने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

उस समय गौड़ में मीमांसक मुरारि मिश्र और धर्मगुप्त के पाण्डित्य का विशेष यश था। आचार्य गौड़देश में आ रहे हैं, इसका समाचार जानकर उन्हें शास्त्रार्थ में आवाहन करने की वे स्पर्धा करने लगे। परन्तु मीमांसकचूड़ामणि मण्डन मिश्र आचार्य के शिष्य रूप से उनके साथ आ रहे हैं जानकर उन्होंने शास्त्रार्थ की आशा त्याग दी।

एक दिन मुरारि मिश्र ने आचार्य के सामने आकर भक्ति के साथ प्रणाम करते हुए पूछा—"यतिवर, आपके भाष्यग्रन्थ आदि मैंने पढ़े हैं। तथापि आपके श्रीमुख से मैं सुनना चाहता हूँ कि मीमांसा-सिद्धान्त और वेदान्त-सिद्धान्त में विरोध कहाँ हैं?"

इस प्रश्न के अनन्तर मुरारि मिश्र के साथ आचार्य की विशद आलोचना हुई थी। हम यहाँ उस शास्त्रविचार का सारमर्म बहुत संक्षेप में देते हैं। प्रश्न सुनकर आचार्य बोले—"पण्डितप्रवर, आपका प्रश्न अति उत्तम है। कर्मकाण्ड अनित्य हैं, इस कारण ही वेदान्तशास्त्र की आवश्यकता है। वेदान्त में जिस ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का उपदेश है, उससे अज्ञान का नाश होने पर साधक स्वयंप्रकाश मोक्षस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अज्ञाननाशरूप मोक्ष

किसी कर्म का फल नहीं है। मोक्ष कोई उत्पन्न वस्तु या अवस्था भी नहीं है। इस कारण मोक्ष नित्य है। सकाम पुरुषों के लिए कर्म का प्रयोजन अवश्य है। उससे इच्छित सुख की प्राप्ति के द्वारा चित्त शुद्धि होकर वेदान्तज्ञान का अधिकार उत्पन्न होता है। . . . शरीरादि अनात्म वस्तुओं में 'अहंज्ञान' भ्रमज्ञान है और विभिन्न लोकों की प्राप्ति के अनन्तर पुनः इस संसार में लौट आना पड़ता है। इसे जानकर 'मैं असंग पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के ज्ञान के उदय के फलस्वरूप सुखदुःख की अतीत अवस्था की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना वांछनीय है। आप लोग मेरे लिखे भाष्य तथा सुरेश्वराचार्य द्वारा लिखित उपनिषदों के वार्तिक की आलोचना कीजिये। आपके सारे सन्देहों का निरसन हो जायगा।"

इसके बाद मुरारि मिश्र ने पूछा—"भगवन्, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का एक ही शास्त्र रूप से ग्रहण करने में आपत्ति कहाँ है ?"

आचार्य ने मधुर स्वर से उत्तर दिया—"सुधिवर, वेदार्थ की मीमांसा रूप से उन दोनों मतों को एक ही शास्त्र कहा जा सकता है। परन्तु वे दोनों मत एक ही विषय का प्रतिपादन नहीं करते। वेद में तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। उपासना ज्ञान का ही अंग हैं। पूर्वमीमांसा में कर्म की आलोचना है और उत्तर-मीमांसा में उपासना और ज्ञान की। यथार्थ में कर्म और उपासना दोनों ही प्रवृत्तिमार्ग के साधन हैं। केवल ज्ञान ही निवृत्तिपरायण है। जहाँ कहा गया है—कर्म और उपासना किये बिना ज्ञान का अधिकार नहीं होता, उस अंश पर मैंने आपत्ति की है। कर्मकाण्ड के अनुष्ठान न करने के कारण शुकदेव आदि आत्मज्ञान के अधिकारी नहीं हो सकेंगे, क्या यह सम्भव हो सकता है ? ऐसी युक्ति नितान्त

असार है।" इस प्रकार की अनेक आलोचनाओं के अनन्तर मुरारि मिश्र ने आचार्य की युक्ति मान ली और अद्वैत-सिद्धान्त की श्रेष्ठता जानकर आचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया। मुरारि मिश्र के नेतृत्व में उस प्रदेश के ब्राह्मण तथा साधारण मनुष्य वैदिक धर्म को मानकर पंचदेवता की पूजा तथा पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान में व्रती हुए।

* * *

गौड़देश के विभिन्न स्थानों में धर्म का प्रचार करते हुए सशिष्य आचार्य गंगातीर पर आये। प्राकृतिक शोभा तथा गंगा के आकर्षण से आचार्य ने वहाँ कुछ दिन रहने की इच्छा प्रकट की। एक दिन सन्ध्या को एकान्त में आचार्य अपने ही भाव में मग्न होकर बैठे थे। इतने में देखा निकट ही एक योगिपुरुष का ज्योतिर्मय शरीर में आविर्भाव हुआ। उनके अंग की आभा से चारों दिशाएँ आलोकित हो गयीं। वे कान्तिमान् पुरुष उन्हीं की ओर आते दिखायी पड़े। उन्हें देखकर आचार्य ने सोचा, कौन हैं ये योगिराज ? ये तो साधारण मनुष्य नहीं हैं। उस अपूर्व जटाजालमण्डित पुरुषप्रवर को सामने आते देखकर आचार्य उठ खड़े हुए और उस महापुरुष को प्रणाम करते हुए हाथ जोड़कर आसन ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की।

महापुरुष ने प्रसन्न दृष्टि से स्नेह के साथ शंकर को आशीर्वाद देते हुए कहा--"बेटा शंकर! संसारसागर से उद्धारप्राप्त होने का एकमात्र उपाय जो परम तत्त्वज्ञान है, जिसकी शिक्षा तुम्हें मेरे प्रिय शिष्य गोविन्दपाद ने दी है, उसमें तुम सम्यक् प्रतिष्ठित हुए हो न ? तुम्हारा चित्त सदा सच्चिदानन्दरूप तत्त्वज्ञान में लवलीन रहता है न ?"

आचार्य शंकर अपने दोनों हाथ सिर पर रखकर प्रेमाश्रु बहाते

हुए विनीत भाव से बोले—"हे परमगुरो ! हे करुणानिधे, इस सेवक के प्रति जब आपकी कृपादृष्टि हुई है, तो अवश्य ही आपने जो पूछा है, वह सभी मुझे प्राप्त होगा। आपका पुण्यदर्शन निष्फल नहीं होगा। मेरे सौभाग्य की सीमा नहीं है।"

शंकर के विनीत वाक्य से परितुष्ट होकर आचार्य गौड़पाद ने उत्तर दिया—"बेटा, तुम्हारे असाधारण गुणों की बात सुनकर तुम्हें देखने के लिए मेरे मन में प्रबल इच्छा हुई थी। तुमने ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों पर भाष्यों की रचना की है और मेरे द्वारा लिखित माण्डूक्यकारिका पर जो भाष्य तुमने लिखा है उसमें कारिकाओं का यथार्थ आशय अतिसुन्दर रूप से परिस्फुट हुआ है। इससे प्रसन्न होकर मैं तुम्हें देखने आया हूँ। मेरा आगमन निष्फल न होगा। तुम वर की प्रार्थना करो।"

आनन्द की अधिकता से उत्फुल्ल होकर शंकर ने कहा—"योगिराज ! शुकदेव के समान आप जैसी मूर्ति का दर्शनलाभ करके मैं मानो परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर रहा हूँ, इससे अधिक और क्या है? तथापि हे परमगुरो, आपके श्रीचरणों से मैं यही वर माँगता हूँ कि मेरा चित्त सदा सच्चिदानन्द में निमग्न रहे।"

'तथास्तु' कहकर गौड़पादाचार्य अन्तर्धान हो गये। आचार्य भी समाधिमग्न हुए। समाधि से उठकर आचार्य ने आनन्दित चित्त से गौड़पाद-दर्शनवृत्तान्त शिष्यों को कह सुनाया।

चौदह

इस घटना के कुछ दिनों बाद लोगों के मुख से सुनायी पड़ा कि नेपाल में पशुपतिनाथ की पूजार्चना बन्द हो गयी है। बौद्धप्रभाव

के कारण हिन्दू देवता की पूर्णतया अवहेलना हो रही है। मन्दिर की पवित्रता भी नष्ट होती जा रही है। विरुद्ध धर्मावलम्बियों ने अपवित्र वस्तुओं को मन्दिर के भीतर फेंककर मन्दिर को भ्रष्ट किया है। वर्णाश्रमधर्म का वहाँ प्रायः विलोप हो गया है। ब्राह्मण लोग बहुत ही दीन दशा में अपना जीवन बिता रहे हैं। वहाँ के राजा भी शक्तिहीन तथा निष्क्रिय हैं।

आचार्य के शिष्यगण इस समाचार को सुनकर विशेष मर्मवेदना का अनुभव करने लगे। उन लोगों ने आचार्य से नेपाल चलने के लिए अनुरोध किया। सब का आग्रह देखकर दैव इच्छा से परिचालित आचार्य शिष्यों के साथ नेपाल की ओर चल पड़े। हिमाचल की तराई में पहुँचकर पर्वतों की अनुपम शोभा और भावगाम्भीर्य के दर्शन से सभी का हृदय अनिर्वचनीय आनन्द के स्पन्दन से पूर्ण हो गया। हिंसक जन्तुओं से भरे भयंकर जंगलों तथा कठिनता से चढ़ सकने योग्य पर्वतमालाओं को लाँघकर वे क्रमशः नेपाल के पशुपतिनाथ स्थान में उपस्थित हुए। वह स्थान निर्जन तथा मनोरम था। परिवेश गम्भीर था। युगयुगान्तरों से सौम्य सुन्दर मौन एवं शान्ति ने मानो मन्दिर और उसके आसपास के स्थानों को व्याप्त कर रखा है। धर्मसाधना का ऐसा अनुकूल स्थान देखकर आचार्य का हृदय मौन प्रशान्ति के स्पर्श से आत्मध्यान में डब गया।

वहाँ के राजा ने आदर के साथ आचार्य का स्वागत किया। आचार्य राजा को आशीर्वाद देकर पशुपतिनाथ के मन्दिर की ओर चले। आचार्य के आगमन-समाचार से सभी सनातनधर्मियों के हृदय में उत्साह का भाव उत्पन्न हुआ। अनेक व्यक्ति उनके दर्शन के लिए वहाँ एकत्र होने लगे। मन्दिर में पूजादि का कोई प्रबन्ध न देखकर आचार्य ने अपने शिष्यों को मन्दिर के मार्जन और पूजा

का आयोजन करने के लिए आदेश दिया। आचार्य छन्दोबद्ध स्तोत्र की रचना कर देवता की वन्दना और पूजा करके ध्यानमग्न होकर बैठे रहे। शिष्य लोग भी पशुपतिनाथ की पूजार्चना में संलग्न हुए। देवता की जयध्वनि से दशों दिशाएँ प्रतिध्वनित होने लगीं।

पशुपतिनाथ के मन्दिर में यथाविधि पूजार्चना का पुनः प्रवर्तन हुआ है, इस समाचार के प्रचारित होते ही नेपाल राज्य के दूर दूर के प्रान्तों से अनेक लोग मन्दिर में आ आकर देवार्चना करने लगे। आचार्य उस मन्दिर के आँगन में रहकर सब को धर्मोपदेश देते थे। आचार्य की सुमधुर शास्त्रव्याख्या सुनकर श्रोताओं का हृदय अलौकिक आनन्द से परिपूर्ण हो गया। स्थानीय राजा आचार्य का उपदेश सुनकर बहुत ही अधिक श्रद्धान्वित हुए। उन्होंने शंकराचार्य का शिष्य बनकर देवसेवाकार्य में आत्मनियोग किया।

बौद्ध भिक्षु आचार्य के आगमन से बहुत ही विचलित हुए। वे शास्त्रविचार के लिए आचार्य के सामने नहीं आ सके। बल्कि छिप-छिपकर नेपाल राज्य के बाहर भाग गये। देखते देखते समस्त नेपाल में हिन्दूधर्म का नवजागरण दिखायी पड़ने लगा। आचार्य के शिष्य लोग विभिन्न स्थानों में जा-जाकर धर्मोपदेश देने लगे। साथी ब्राह्मण वहाँ के ब्राह्मणों को नित्य नैमित्तिक कर्म, अग्निहोत्र, पंचदेवता की पूजा तथा पंचमहायज्ञ की शिक्षा देने लगे। साधारण जनता के अनुरोध से वेद-पारंगत ब्राह्मण वर्णाश्रमधर्म का प्रचार तथा वैदिक धर्म का अनुष्ठान नेपाल के विभिन्न प्रान्तों में जा-जाकर करने लगे। राजा भी इस प्रकार के शुभ कर्म में विशेष उत्साही हुए। राजा के व्यय से अनेक स्थानों में मन्दिर बनाये गये तथा उनमें देवी-देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित हुईं। आचार्य की विशेष इच्छा से पशुपतिनाथ के मन्दिर का

जीर्णोद्धार किया गया तथा शास्त्रसम्मत पूजार्चनादि नियमित रूप से करने के लिए विद्वान् ब्राह्मण नियुक्त हुए। इस ढंग से थोड़े ही दिनों के भीतर नेपाल में वैदिक धर्म, सदाचार तथा वर्णाश्रमधर्म का पुनः प्रचार हुआ। स्थान स्थान पर वेद तथा अन्यान्य शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन के लिए अनेक पाठशालाएँ खोली गयीं। आचार्य के गृहस्थ शिष्यों में अनेक ब्राह्मणों ने अध्यापन का भार ले लिया।

जनश्रुति है कि वहाँ के वामाचारी बौद्ध श्रमणों ने योगबल और मन्त्रशक्ति के प्रभाव से आचार्य को मार डालने की चेष्टा की थी तथा दैव उत्पात की सृष्टि कर उनके विभिन्न स्थानों में यातायात में बाधा डाली थी। परन्तु ईश्वरीय शक्ति के सामने मन्त्रशक्ति और योगबल की पराजय हुई। आचार्य ने स्वस्थ शरीर से सैकड़ों बाधाओं का अतिक्रमण कर समस्त नेपाल राज्य में वेदान्त की महिमा का प्रचार किया।

* * *

कुछ शिष्यों के आग्रह से आचार्य बदरिकाश्रम की ओर अग्रसर हुए। हिमालय का ध्यानगम्भीर परिवेश आचार्य के अन्तःकरण में विशेष प्रभाव विस्तार कर रहा था। उन दिनों आचार्य बहुधा ध्यानमग्न ही रहा करते थे। शिष्य लोग बहुत ही यत्न से उनके शरीर की रक्षा करते थे। दिन-प्रतिदिन आचार्य का ध्यानप्रवण मन मानो ब्रह्मसमुद्र के अतल तल में डूब जाने लगा। यथासमय आचार्य ज्योतिर्धाम बदरिकाश्रम के पथ पर उपस्थित हुए।†

† मतान्तर में ऐसा वर्णन है कि शंकराचार्य नेपाल से भोट राज्य में और वहाँ से वेदान्त का प्रचार करते हुए तिब्बत की राजधानी लासा तक गये थे।

बौद्ध धर्म के प्रवेश के पहले तिब्बत में हिन्दू धर्म प्रचलित था, इसके

स्थानीय राजा सामने आकर स्वागत करते हुए गुरुदेव को अपने नगर में ले आये। आचार्य ने कुछ दिन वहाँ रहकर लोगों को धर्मोपदेश देकर परितृप्त किया। इससे पहले राजा सुधन्वा की सहायता से आचार्य ने समस्त उत्तराखण्ड के मन्दिरों का संस्कार करके सर्वत्र पंचदेवता की पूजा, पंचमहायज्ञ का अनुष्ठान, वर्णाश्रमधर्म तथा वेदाध्ययन आदि का प्रवर्तन किया था। आचार्य के उस प्रचार के फलस्वरूप समस्त हिमाचल प्रदेश में सनातन हिन्दू धर्म पुनरुज्जीवित हो उठा। आसमुद्रहिमाचल अखण्ड भारतवर्ष में वेदान्त की संजीवनी-मन्त्रध्वनि से मृतप्राय सनातन हिन्दू धर्म में नवीन चेतना का संचार करके आचार्य शंकर पुनः उत्तराखण्ड में पधारे। आचार्य की दिग्विजय-वार्ता सुनकर राजा सुधन्वा आनन्द से अधीर हो गये। वे अनेक प्रकार से गुरुदेव की सेवा करने लगे। ज्योतिर्धाम में आनन्दोत्सव होने लगा। उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थानों से ब्राह्मण पण्डित लोग आचार्य के दर्शन के लिए समागत हुए, केवल धर्मचर्चा, धर्माचरण और धर्मानुष्ठान का ही उत्सव चलने लगा। ज्योतिर्धाम सच्चिदानन्द के ज्योति-तीर्थ में रूपान्तरित हो गया।

जो लोग आचार्य के दर्शन से मुग्ध हुए थे, वे इस बार उनका पवित्र संग प्राप्त कर धन्य तथा कृतार्थ होने के लिए समवेत होने लगे। सभी को अनुभव हुआ, मानो श्रीभगवान् का समस्त ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य, बल, यश और श्री, सभी इस पुरुषप्रवर में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। यथार्थ में ही आचार्य शंकर शंकरावतार हैं। एक

अनेक प्रमाण मिलते हैं। पुराणादि के उल्लेख से जाना जाता है कि तिब्बत अखण्ड भारत का ही एक अंश था और हिन्दूराजचक्रवर्तियों का अधीनप्रदेश था। ईसा की सातवीं शताब्दी में तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था।

साधारण मनुष्य में ऐसी परिपूर्णता सम्भव नहीं है। संसार भर में वैदिक धर्म की पुन:प्रतिष्ठा के लिए ही उनका शरीर-धारण हुआ है। परन्तु वे सदा ब्रह्मध्यान में निमग्न हैं।

* * *

आचार्य गौड़पाद के दर्शनलाभ के बाद से ही आचार्य के अन्तर में महान् भावान्तर उत्पन्न हुआ था। सर्वदा ध्यानमग्न रहने के लिए ही उनका चित्त व्याकुल रहने लगा। गुरुदेव के इस अन्तर्मुख भाव को देखकर शिष्यगण बहुत ही चिन्तित हुए। वे समझ गये कि गुरुदेव स्वस्वरूप में लीन होने के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं। उनका वयस भी ३२ वर्ष पूर्ण हुआ है। शिष्य लोग अनेक प्रकार की चेष्टाओं से भी आचार्य के मन को सांसारिक कर्मभूमि में उतारने में समर्थ नहीं हुए। अन्तत: वे हताश हो गये। गुरुदेव का अभावबोध उनके हृदय को सदा मथित करने लगा।

एक दिन आचार्य ने शिष्यों को बुलाकर कहा--"देखो, इस देहधारण का जो प्रयोजन था, वह समाप्त हो गया है। अब तुम लोग वेदान्तमय जीवनयापन के द्वारा वेदान्त की महिमा के प्रचारार्थ तैयार हो जाओ। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञान में सुप्रतिष्ठित हो जाओ। तभी ठीक ठीक धर्मप्रचार होगा। तुम्हें कुछ पूछना हो, तो बताओ।"

पद्मपाद ने रोते हुए हाथ जोड़कर कहा--"देव, हमें और कुछ पूछना नहीं है। आपने अपने समस्त जीवन के द्वारा जिस मार्ग की रचना की है, हम आपके आशीर्वाद से उसी मार्ग पर चलेंगे। आप ही हमारे जीवन के लिए आलोकवर्तिकास्वरूप हैं। आप आशीर्वाद दीजिये कि हम लोग आपके पदचिह्नों का अनुसरण कर सकें।"

आचार्य क्षणभर मौन रहकर बोले--"जिनकी इच्छा से इस शरीर का जन्म हुआ है, उस विराट् इच्छाशक्ति के द्वारा तुम लोग

भी परिचालित होंगे।...कोई भी विद्या या साधना सम्प्रदायानुगत हुए बिना स्थायी नहीं होती। वेदान्तसाधना के आदर्श को संसार के अशेष कल्याण के निदान रूप से स्थायी करने के लिए तुम लोग संन्यासी-संघ की स्थापना करो। भारत के चार प्रान्तों में चार मठ स्थापित होंगे। पद्मपाद, सुरेश्वर, हस्तामलक और तोटक मेरे ये चार प्रधान शिष्य ही उन चार मठों में प्रथम मठाधीश होंगे तथा अन्यान्य शिष्यवर्ग तुम्हारे सहकारी होंगे। तुम्हारे शिष्य लोग भी अपने अपने गुरु का आश्रय लेकर रहेंगे। दक्षिण में रामेश्वर-धाम के अन्तर्गत शृंगेरी में एक मठ स्थापित हुआ है। वहाँ के आचार्य सुरेश्वर (विश्वरूप) होंगे। ‡ पश्चिम के द्वारकाधाम के मठ में हस्तामलक (पृथ्वीधर) प्रथम आचार्य होंगे। पूर्व के पुरी-धाम में जो मठ स्थापित होगा, वहाँ के प्रथम आचार्य का पद पद्मपाद को मिलेगा और उत्तर के इस ज्योतिर्धाम में एक मठ स्थापित करो। यहाँ के आचार्य का पद तोटक को मिले। इस ढंग से भारतभूमि को चार भागों में विभाजित करके तुम लोग धर्मप्रचार-कार्य में लग जाओ।

"द्वारकाधाम, पुरीधाम, ज्योतिर्धाम और रामेश्वरधाम के चार मठों के नाम क्रमशः शारदामठ, गोवर्धनमठ, ज्योतिर्मठ और शृंगेरीमठ होंगे। शारदामठ के अधीन तीर्थ और आश्रम सम्प्रदाय; गोवर्धनमठ के अधीन वन और अरण्य सम्प्रदाय; ज्योतिर्मठ के अधीन गिरि, पर्वत और सागर सम्प्रदाय तथा शृंगेरीमठ के अधीन सरस्वती, भारती और पुरी सम्प्रदाय रहेंगे। संन्यासियों के ये दस सम्प्रदाय उन चार मठों के अधीन रहकर अपने अपने मठ

‡ मतान्तर में—विश्वरूप, द्वारकाधाम में शारदामठ के और पृथ्वीधर (हस्तामलक) शृंगेरीमठ के आचार्य नियुक्त हुए थे।

के नियम और आदेश के अनुसार धर्मानुष्ठान तथा प्रचार करेंगे।

"इन चार मठों के अवलम्बन से चार वेदों का विभाग भी किस ढंग से होगा, उसका भी निर्देश देता हूँ। शारदामठ में सामवेद का, गोवर्धनमठ में ऋग्वेद का, ज्योतिर्मठ में अथर्ववेद का और शृंगेरी-मठ में यजुर्वेद का प्राधान्य रहेगा। उसके अनुसार इन चार मठों में क्रमशः 'तत्त्वमसि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म' और 'अहं ब्रह्मास्मि' वेद के ये चार महावाक्य प्रधान साधन और अवलम्बन होंगे।"

इन चार प्रधान मठों के अधीन और भी अनेक मठ स्थापित करके वैदिक धर्म को वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार समस्त भारत में प्रचार द्वारा सुप्रतिष्ठित करने का आदेश भी आचार्य ने दिया। इस प्रचार के कार्य का भार संन्यासियों पर सौंपकर उन्होंने संन्यासी-संघ स्थापित किया। मठाधीशों के लिए उन्होंने जो नियम आदि बनाये थे, वे मठाम्नाय या महानुशासन के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'आम्नाय' शब्द का अर्थ है वेद। जिस प्रकार वेद धर्म के एकमात्र अनुशासन रूप से अवलम्बनीय हैं, उसी प्रकार मठों में वह आम्नाय भी अनुशासन-मन्त्र होगा। इस प्रकार के नियम बनाकर आचार्य ने भविष्य के मठाधीशों के जीवन के ऊपर गुरु दायित्व का भार सौंपा। मठ के आचार्य को अनेक सद्गुणों से भूषित होकर आदर्श संन्यासी का जीवन बिताना होगा। मठाधीश पवित्र, जितेन्द्रिय, वेदवेदांगपारंगत, योगी तथा सर्वशास्त्रज्ञ होंगे। यदि वह उस प्रकार के सद्गुणों से भूषित न हो, तो उसका निग्रह करके अन्य मठाधीश निर्वाचित करना होगा।

‡ आचार्य-प्रवर्तित मठाम्नाय, शेषाम्नाय और महानुशासन ग्रन्थ के शेषांश में द्रष्टव्य हैं।

मठाधीशों का जीवन आदर्शरूप न होने से उनके द्वारा सत्यधर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रचार सम्भव न होगा, केवल पदमर्यादा के प्रभाव से धर्म की प्रतिष्ठा या प्रचार नहीं हो सकता। आचार्य ने जो उपदेश दिये थे और जिन अनुशासनों का गठन किया था, उनका स्वयं का जीवन ही उसकी सार्थकता का प्रमाण था।

* * *

राजा सुधन्वा के विशेष आग्रह से आचार्य वहाँ कुछ दिन रह गये। इस अवसर पर उन्होंने अपने शिष्यों को भविष्यत् कर्मपद्धति का सुस्पष्ट निर्देश दिया और संन्यासजीवन के उच्च आदर्श के सम्बन्ध में भी शिष्यों को विशेष रूप से सावधान कर दिया। आचार्य शंकर का समस्त जीवन ही संन्यास-जीवन का प्रत्यक्ष आदर्शस्वरूप था। उनके जीवन में--"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"--यही सत्य प्रस्फुटित हुआ है। केवल आत्मज्ञान ही संन्यासियों के लिए यथेष्ट नहीं है, अपितु वर्णाश्रमधर्म के संस्थापन और संरक्षण का गुरु दायित्व भी उन्हें वहन करना होगा। धर्म-प्रचार के ऊपर ही उन्होंने विशेष गुरुत्व दिया था। मठाधीश एक स्थान में न रहकर धर्मप्रचार के लिए विभिन्न स्थानों में परिभ्रमण करें तथा साधारण जनता वर्णाश्रमधर्म के पालन द्वारा क्रमशः उच्चतर और महत्तर धर्मलाभ के लिए प्रयत्न-परायण हो---इस पर भी मठाधीशों की सावधान दृष्टि रहे।

आचार्य ने जीवनभर वैदिक धर्म की पुनःप्रतिष्ठा के लिए जो प्रयत्न किये थे, उन्हें सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित और भविष्य में क्रियाशील रखने का प्रबन्ध करके उन्होंने अपने पवित्र जीवन के सारे कर्तव्यों की ज्योतिर्धाम में परिसमाप्ति कर दी। उसके अनन्तर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहकर महाप्रस्थान के लिए प्रस्तुत हुए।

आचार्य बदरीनारायण के मार्ग में चल पड़े। राजा सुधन्वा और अनेक गृही शिष्य भी उनका अनुगमन करने लगे। बदरीक्षेत्र में आकर आचार्य बहुत ही प्रसन्न प्रतीत होने लगे। उस स्थान के गम्भीर पवित्र परिवेश ने स्वभाव से ही अन्तर्मुख आचार्य की भावतन्मयता को और भी गम्भीर कर दिया। बदरीनाथ का मन्दिर संस्कृत तथा ध्वजा पताका से शोभित होकर अपूर्व शोभा धारणा किये हुए था। देवविग्रह की सेवा-पूजा भी शास्त्रविधि के अनुसार अनुष्ठित हो रही है, यह देखकर आचार्य शंकर भगवद्भाव में तन्मय हो गये। उन्होंने सद्योरचित एक सुललित स्तोत्र के द्वारा श्रीनारायण की वन्दना की। वह स्तोत्र 'हरिमीडे' स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है। चिन्मात्रस्वरूप में अवस्थित रहकर श्रीहरि के साथ निज आत्मा के अभेद होने के ज्ञान से उन्होंने उस स्तोत्र की रचना की और सम्भवतः यही आचार्य-रचित अन्तिम स्तोत्र है।

बदरीक्षेत्र के यतिवृन्द, बुधमण्डली तथा ब्राह्मण लोग आचार्य के आगमन को देवता का विशेष आशीर्वाद समझने लगे। आचार्य सदा ही अन्तर्मुख थे। इस कारण उनके संकेत से उनके शिष्यों ने ब्रह्मतत्त्व तथा वैदिक धर्म का उपदेश देकर सब को सन्तुष्ट किया। आचार्य शंकर के संन्यासी शिष्य भी एक एक दिक्पाल के समान थे। उनके त्यागभास्वर, ज्ञानभक्तिमय, ज्वलन्त आध्यात्मिक जीवन को अनन्त लोककल्याणकर कार्यों में नियुक्त करके आचार्य ने धर्मपिपासु व्यक्तियों के मन में पूर्ण विश्वास और विपुल उत्साह का संचार किया।

* * *

बदरीधाम में कुछ दिन रहकर आचार्य शिष्यों के साथ केदार-धाम की ओर चल पड़े। अधिकांश समय वे ध्यानमग्न रहते थे।

शास्त्रव्याख्या या धर्मोपदेश में भी अब उनका कोई उत्साह नहीं था। जो आचार्य सुदीर्घ १६ वर्षों तक अक्लान्त भाव से प्रचार-कार्य करते आ रहे हैं, अत्यन्त उत्साह के साथ शतसहस्र कोस पदयात्रा से चलते आये हैं, वे आज मानो निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूप हैं। पद्मपाद आदि शिष्य गुरुदेव के मन को जीवभूमि में उतार रखने के लिए निरर्थक ही चेष्टा करते थे।

यथासमय केदारधाम पहुँच कर आचार्य पहले ही श्रीमन्दिर में जाकर पूजार्चना में तन्मय हो गये। तपोगम्भीर निर्जन केदार-क्षेत्र में आने पर शंकराचार्य की ध्यान-तन्मयता और भी बढ़ गयी। समाधिभूमि से उनका मन उतरना ही नहीं चाहता था। भोजन आदि के विषय में भी वे पूर्ण उदासीन थे। गुरुदेव की वैसी अवस्था देखकर शिष्य लोग भी हताश हो गये। वे भी बाहरी चेष्टा छोड़कर गुरुदेव के पास मन्दिर में बैठकर आत्मध्यान में निमग्न रहने लगे। आचार्य और उनके शिष्यों की ध्यान-तन्मयता के कारण केदारक्षेत्र ही मानो ध्यानमग्न हो गया। इस प्रकार कुछ समय बीत जाने पर एक दिन अपराह्ण में आचार्य ने स्निग्ध कण्ठ से शिष्यों को सम्बोधित कर कहा—"वत्स, इस शरीर का कार्य समाप्त हो गया है। अब स्वरूप में लीन होने का समय आ गया है। तुम लोगों को कुछ ज्ञातव्य हो, तो पूछ लो।"

आचार्य की बात सुनकर शिष्य लोग वज्राहत के समान स्तम्भित हो गये। किसी के मुख से कोई वाक्य ही न निकला। बहुत देर के बाद हृदय का आवेग कुछ शान्त होने पर सजलनयन पद्मपाद ने कहा—"हे देव, आपकी कृपा से हम लोग कृतकृत्य तथा सकलमनोरथ हुए हैं। हमें और कुछ ज्ञातव्य नहीं है। श्रीगुरु का आदेशपालन ही हम लोग जीवन का एकमात्र कर्तव्य

एवं व्रत समझते हैं।"

दूसरे शिष्यगण विनीत भाव से सिर झुकाये बैठे रहे। आचार्य क्षणभर मौन रहकर बोले--"मैं सर्वान्तःकरण से आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा मनोरथ सफल होगा। जब तक शरीर में रहोगे तब तक पूर्व निर्देशानुसार सनातन वैदिक धर्म का प्रचार करते रहना। जिस ब्रह्मात्मविज्ञान का मैंने उपदेश दिया है,वह गुरु-परम्परा से प्राप्त है।† तुम लोग ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित रहो।" शिष्यों के प्रति आचार्य का यही अन्तिम उपदेश था।

अनन्तर आचार्य मौनावलम्बन करके गम्भीर ध्यान में मग्न हो गये। इस अवस्था में बहुत देर तक रहकर अन्त में वे समाधि-योग के द्वारा आत्मस्वरूप में लीन हो गये। जनश्रुति है कि उनका भौतिक शरीर भी साथ ही साथ केदारनाथ के अंग में विलीन हो गया।

माधवाचार्य ने अपने 'शंकरदिग्विजय' ग्रन्थ में आचार्य के महा-प्रस्थान के प्रसंग में लिखा है--"शंकराचार्य शिव के अवतार थे। उन्हें स्वधाम ले जाने के लिए इन्द्र, चन्द्र, विष्णु, अग्नि आदि देवता, ऋषि और सिद्धगण उपस्थित हुए थे। उस समय अगणित विद्युद्वर्ण विमानों से आकाशमण्डल परिपूर्ण हो गया था। देवगण यतिवेशधारी शंकर के सिर पर स्वर्गीय मन्दार-कुसुमों का वर्षण कर उनकी स्तुति करने लगे --"आप संसार के एकमात्र कारण हैं, अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के आप ही कर्ता हैं। संसार के कल्याण के लिए आपने कालकूट

† नारायण, ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्तृ, पराशर, व्यास, शुकदेव, गौड़पाद, गोविन्दपाद और शंकराचार्य---इसी गुरुपरम्परा से प्राप्त अद्वैतवाद संसार में प्रचारित हुआ है।

विष का पान किया था। आपने ज्ञानदृष्टि के द्वारा मदन को भस्म कर दिया था। जिस प्रयोजन के साधन के लिए आप भूमण्डल में अवतीर्ण हुए थे, वह सिद्ध हो चुका है। हे गिरीश, शीघ्र स्वर्ग में आकर हमारा आनन्दवर्धन कीजिये।" देवताओं की विनीत प्रार्थना सुनकर शंकर ने निजधाम में प्रतिगमन की इच्छा की। उस समय प्रमथगण, दुग्ध और हंस की अपेक्षा भी शुभ्रतर वृष नन्दी को सुसज्जित कर लाये। शंकर मस्तक पर जटाजूट और ललाट पर शशिकला से सुशोभित होकर ब्रह्मा के कन्धे का सहारा लेते हुए नन्दी की पीठ पर सवार हुए। उनके ऊपर पारिजात पुष्पों की वर्षा होने लगी। इन्द्र और विष्णु आदि देवता उनका स्तुतिगान करते हुए शंकर को अपने धाम में ले गये।..."

शिष्यगण अपने अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर अग्रसर हुए। ‡

* * *

‡ आचार्य के देहत्याग के काल और स्थान के विषय में मतभेद है। श्रृंगेरीपीठ के ग्रन्थादि में लिखा है:—बदरीनारायण से आचार्य शंकर ने दत्तात्रेय गुफा का दर्शन कर कैलाश में जाकर शरीर छोड़ा।...काम-कोटिमठ के ग्रन्थों में लिखा है—जीवन के अन्तिम समय शंकर कांची में पहुँचे थे। वहाँ शिवकांची और विष्णुकांची की प्रतिष्ठा करके शिवकांची में शिव की पूजा करते समय शिव के शरीर में लीन हो गये।.. किसी दूसरे मत में है कि उन्होंने श्रृंगेरी में शारदादेवी के सामने देहत्याग किया था और उनका शरीर वहीं समाधिस्थ कर दिया गया।...दूसरे मत के अनुसार मलाबार प्रदेश के अन्तर्गत त्रिचुर नगर में परशुराम-मन्दिर के भीतर देवशरीर में वह विलीन हो गये थे।...किसी अन्य ग्रन्थ में ऐसा भी वर्णन मिलता है कि उन्होंने कांची की कामाक्षी देवी के सामने शरीर छोड़ा था और उस मन्दिर के द्वार के पास उनके पवित्र शरीर को समाधिस्थ किया गया था।...फिर ऐसा भी प्रमाण मिलता है कि बम्बई के पास निर्मला

संसार के दायित्वों से मुक्त सर्वत्यागी संन्यासियों पर वैदिक धर्म की रक्षा और प्रचार का गुरुभार सौंपकर आचार्य शंकर सनातन हिन्दू धर्म को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित कर गये हैं। सांसारिक दायित्वों से जो लोग भाराक्रान्त हैं, उनके लिए अपनी सारी शक्ति को धर्मरक्षा और धर्मप्रचार में लगा देना वस्तुतः सम्भव नहीं है। इसी कारण दूरदर्शी ऋषि ने अपने संन्यासी शिष्यों को भारत के चार प्रान्तों में चार मठ स्थापित कर धर्मप्रचार का आदेश दिया था। आचार्य शंकर की दूरदर्शिता हमें चमत्कृत कर देती है। विशाल सुदूरप्रसारित सनातन वैदिक धर्म को पंकिलता से मुक्त रखकर, अनेक मतों और शाखाओं में विभक्त वैदिक धर्म का अपसिद्धान्तों के हाथ से उद्धार कर, हिन्दू धर्म का मंगलरूप देश, काल, पात्र के उपयोगी तथा, वर्णाश्रम धर्म के अनुगामी रूप से किस प्रकार अक्षुण्ण रखा जा सकता है, इस विषय में गम्भीर चिन्तन ने आचार्य के जीवन के महत्त्व को और भी अधिक उज्ज्वल कर दिया है। उन्होंने चार वेदों को चार मठों में विभक्त कर दिया था। इस कारण हरएक मठ का कार्यक्षेत्र तथा साधन और प्रचार की धारा स्वतन्त्र थी। सारे भारत में दिग्विजय करते हुए आचार्य

नामक द्वीप में आचार्य ने देहत्याग किया था।

देहत्याग के समय उनकी अवस्था विभिन्न मतों के अनुसार ३२, ३४, ३६ वर्ष की थी। देहत्याग की तिथि के सम्बन्ध में भी मतभेद है—वैशाख शुक्ला दशमी, वैशाखी पूर्णिमा, कार्तिक शुक्ला एकादशी।

आचार्य शंकर के शरीरत्याग के अनन्तर चारों मठाधीशों में 'शंकराचार्य' उपाधिधारी अनेक आचार्य दिग्विजय करने निकला करते थे। कोई आचार्य काश्मीर के शारदापीठ पर आरोहण करने में समर्थ हुए थे। किसी शंकराचार्य ने कैलास में जाकर शरीर छोड़ा था। उन आचार्यों के जीवन की घटनाओं का आदिशंकराचार्य के जीवन की घटना के रूप से गृहीत हो जाना भी सम्भव है।

शंकर जिन मतावलम्बियों के सम्पर्क में आये थे, उन मतों के अपसिद्धान्तों तथा अर्धवैदिक सिद्धान्तों का संस्कार करके उन्होंने उन मतों को वैदिक रूप प्रदान किया था। उन्होंने उन मतों के संरक्षण की व्यवस्था भी की थी। उन चार मठों के मठाधीशों का अपने अपने निर्दिष्ट क्षेत्र के विभिन्नमतावलम्बियों की रक्षा करना प्रधान कार्य था। इससे आचार्य के जीवन का औदार्य ही विशेष रूप से प्रकट होता है।

* * *

आचार्य शंकर मठविभाग-क्रम से जिन अनुशासनों को अपने संन्यासी शिष्यों के लिए छोड़ गये थे, उनका सारांश माधवाचार्य-रचित 'शंकरदिग्विजय' ग्रन्थ से यहाँ उद्धृत किया जाता है।

शारदामठाम्नाय--शारदामठ के आम्नाय का नाम पश्चिमाम्नाय है। सम्प्रदाय का नाम कीटवार; क्षेत्र का नाम द्वारका; अधिदेवता का नाम सिद्धेश्वर है। देवी—भद्रकाली। आचार्य--हस्तामलक। तीर्थ---गोमतीतीर्थ। ब्रह्मचारी--स्वरूप। वेद---सामवेद। महा-वाक्य-- तत्त्वमसि (छान्दोग्य) जो जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञापक है। गोत्र---अधिगत। पदवी—तीर्थ और आश्रम। सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि देशों के अन्तर्गत पश्चिम भारत के सभी स्थान शारदामठ के अधीन हो गये।

तीर्थ—तत्त्वमसि महावाक्य त्रिवेणी-संगम की तरह पवित्र और तीर्थतुल्य है। जो उस महान् तीर्थ में स्नान करता है अर्थात् उस पवित्र महावाक्य का यथार्थ मर्म जिसने सम्यक् रूप से उपलब्ध कर लिया है, उसी को 'तीर्थ' कहा जाता है। और जो संन्यासी संन्यास-आश्रम में सुप्रतिष्ठित तथा जन्म-मृत्यु के प्रभाव से मुक्त हैं वही 'आश्रम' नाम से कथित होने के योग्य है। इस सम्प्रदाय का नाम

कीटवार इसलिए रखा गया है कि कीट से लेकर समस्त जीव-जन्तुओं के प्रति यहाँ के संन्यासियों का दयाभाव रहे। निज आनन्दस्वरूप को जिसने जान लिया है वही स्वरूप ब्रह्मचारी है।

गोवर्धनमठाम्नाय—गोवर्धनमठ के आम्नाय का नाम पूर्वाम्नाय है। सम्प्रदाय का नाम भोगवार; क्षेत्र का नाम—पुरुषोत्तम; देवता—जगन्नाथ; देवी—विमला; आचार्य—पद्मपाद; तीर्थ—महोदधि; पदवी—वन और अरण्य; ब्रह्मचारी—प्रकाशक; महावाक्य—प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐतरेय); वेद—ऋग्वेद, गोत्र—काश्यप। अंग (भागलपुर), वंग, कलिंग, मगध, उत्कल, बर्बर आदि प्रदेशों के अन्तर्गत पूर्वभारत के सभी स्थान गोवर्धनमठ के अधीन हैं।

जो सुन्दर, एकान्त और निर्जन वन में निवास करते हैं और आशारूप बन्धन से मुक्त हैं वही 'वन' हैं और जो सम्पूर्ण रूप से संसार-बन्धन छोड़ चुके हैं वे 'अरण्य' उपाधि के योग्य हैं। भोगवार—जो सम्प्रदाय प्राणीमात्र को विषयभोग से वारण अर्थात् निवारण करने में समर्थ है उसे 'भोगवार' कहते हैं। प्रकाशक शब्द का विशेष अर्थ—जो स्वप्रकाश आत्मज्योति को स्वरूपतः जानते हैं और योगसाधन से सम्यक् अवगत होकर तत्त्वज्ञान में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित है उन ब्रह्मचारी को 'प्रकाशक' कहते हैं।

ज्योतिर्मठाम्नाय—ज्योतिर्मठ के आम्नाय का नाम उत्तराम्नाय है। दूसरा नाम श्रीमठाम्नाय, सम्प्रदाय का नाम आनन्दवार अर्थात् सिद्धिदाता है। पदवी—गिरि, पर्वत, सागर; क्षेत्र—बदरिकाश्रम; देवता—नारायण; देवी—पूर्णागिरि; आचार्य—तोटक; तीर्थ का नाम—अलकनन्दा; ब्रह्मचारी—आनन्दाख्य; महावाक्य—'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य); वेद—अथर्व और गोत्र—भृगु है। कुरु, काश्मीर, काम्बोज, पांचाल आदि भारत के उत्तर भाग के प्रदेश ज्योतिर्मठ

के अधीन हैं।

गिरि अर्थात् जो सदा पार्वत्य प्रदेश में निवास करते हैं और गीताध्ययन-परायण हैं तथा जिनकी बुद्धि गिरि के समान निश्चल और गम्भीर है उन्हें 'गिरि' कहते हैं। पर्वत के मूलदेश में निवास करके जो संसार की अनित्यता की उपलब्धि करते हुए, अद्वैत-आत्मज्ञान में सुप्रतिष्ठित हैं उनकी उपाधि 'पर्वत' है। तत्त्वसमुद्र में गोताखोर की तरह डूबकर ज्ञानरत्न का आहरण करके जो अपने आश्रम की मर्यादा सदा अक्षुण्ण रखते हैं वे 'सागर' नाम के योग्य हैं। आनन्दवार––संसार के भोग-सुख का परित्याग कर भूमानन्द की प्राप्ति के लिए जो आत्मोत्सर्ग किये हुए हैं, उन संन्यासियों के सम्प्रदाय का नाम 'आनन्दवार' है। जो सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप ब्रह्म का नित्य ध्यान करते हुए आत्मानन्द में सदा विहार करते हैं उन ब्रह्मचारी को 'आनन्द' कहते हैं।

शृंगेरीमठाम्नाय––शृंगेरीमठ के आम्नाय का नाम––शृंगेरी-मठाम्नाय है; सम्प्रदाय का नाम 'भूरिवार'; गोत्र––भूर्भुवः; पदवी––सरस्वती, भारती, पुरी; क्षेत्र––रामेश्वर; देवता––आदिवराह; देवी––कामाक्षी, जो साधकों की सब शुभ कामनाएँ पूर्ण करती हैं; आचार्य––सुरेश्वर; तीर्थ––तुंगभद्रा; ब्रह्मचारी––चैतन्याख्य; वेद––यजुर्वेद; महावाक्य––'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यक)। शृंगेरीमठ के अधीन आन्ध्रप्रदेश, द्राविड, कर्नाटक, केरल आदि दक्षिण भारत के सभी प्रदेश हैं।

सरस्वती शब्द का आशय स्वर अर्थात् ज्ञान में नित्य निरत, स्वर-वादी कविश्रेष्ठ, संसाररूप सागर की असारता हृदयंगम करके सारभूत ब्रह्म का जिन्होंने साक्षात्कार किया है वही सरस्वती पदवी के योग्य हैं। भारती––जो संसार के सब प्रकार के दायित्वों और

बन्धनों से मुक्त होकर पराविद्या में परिपूर्ण हैं और दुःखानुभूति से ऊपर जिनका मन सदा विचरण करता है वही 'भारती' हैं। पुरी---अर्थात् परिपूर्ण। जो ज्ञानतत्त्व में परिपूर्ण, जो ब्रह्मपद में स्थित, और सदा परमब्रह्म में विलास करते हैं वही 'पुरी' हैं। भूरिवार---प्रचुर धनधान्य और संसार के विपुल वैभव का त्याग करके जो लोग वैराग्य का अवलम्बन कर आत्मचिन्तन में निमग्न रहते हैं ऐसे संन्यासी-सम्प्रदाय को भूरिवार कहते हैं। ब्रह्म चिन्मात्र, निर्विषय, अनन्त, अजर और शिवस्वरूप हैं---इस प्रकार ब्रह्मज्ञान जिसे हुआ है उस ब्रह्मचारी को 'चैतन्य' कहते हैं।

शेषाम्नाय--पूर्ववर्णित चतुराम्नाय के अतिरिक्त पंचमाम्नाय का नाम शेषाम्नाय या ऊर्ध्वाम्नाय है। विज्ञान ही उसका शरीर है; मठ सुमेरु और सम्प्रदाय काशी है। सत्य और ज्ञान उसके दो पद हैं। क्षेत्र का नाम कैलास है। देवता—निरंजन; देवी—माया; आचार्य---ईश्वर; तीर्थ—मानसतीर्थ अर्थात् जिस तीर्थ में ब्रह्मतत्त्व उत्तम रूप से उपलब्ध होता है, इस मानसतीर्थ में स्नान करने से पुरुष संन्यास का अधिकारी होता है। यह शेषाम्नाय ही सूक्ष्मवेद का वक्ता है। यह धर्म समाचरणीय है।

षष्ठाम्नाय का नाम 'आत्माम्नाय' है। मठ—महान् परमात्मा; सम्प्रदाय---सत्त्वतोष; पद---योग; क्षेत्र—नभःसरोवर; देवता —परमहंस; देवी---मानसमाया; आचार्य—चेतन; और समग्र पुण्यप्रदानकारी उत्कृष्ट तीर्थ---त्रिपुटी है। संसारपाश-विनाश के लिए उस तीर्थ में मन को डुबाकर संन्यासाश्रम ग्रहण करके वेदान्त-वाक्यों का वक्ता होकर धर्माचरण करना कर्तव्य है।

सप्तमाम्नाय का नाम निष्कल आम्नाय है। मठ का नाम सहस्राकं-द्युति है। सम्प्रदाय का नाम सत्-शिष्य है। श्रीगुरु की पादुका-

द्वय ही पद है। क्षेत्र-- अनुभूति; देवता--विश्वरूप; देवी--चित्-शक्ति; आचार्य स्वयं सदगुरु और तीर्थ--जरामृत्यु विनाशक सत्शास्त्रश्रवण है। पूर्णानन्द की प्रशान्ति के बीच इस तीर्थ में संन्यास-आश्रम-ग्रहण विधेय है।

आचार्य शंकर जो 'महानुशासन' रख गये हैं इस में विशेष रूप से संन्यासियों के संघजीवन का निर्देश है। उन्होंने कहा है-- "मठ के सभी आचार्यों का कर्तव्य है कि वे अपने अपने धर्म का विधिवत् पालन करें। . . .साधारण व्यक्ति विरुद्ध धर्म का आचरण तो नहीं कर रहे हैं इसे जानने के लिए मठाधीश लोग अपने अपने निर्दिष्ट प्रान्तों में सदा भ्रमण करें। नियमपूर्वक स्थायी रूप से मठ में निवास करना आचार्यों के लिए उचित नहीं है। . . . पवित्र, जितेन्द्रिय, वेदवेदांगविशारद, समग्रशास्त्र-तत्त्वविद् और साधन-सम्पन्न त्यागी संन्यासी ही मेरे पद पर अभिषिक्त होने योग्य हैं। . . . एक आचार्य का अवसान होने पर उस स्थान में उपर्युक्त लक्षणयुक्त दूसरे संन्यासी को अभिषिक्त करना उचित है। . . .यही धर्म की पद्धति है। इसका पालन करना प्रत्येक आचार्य का कर्तव्य है।"

अनुशासनों के लिपिबद्ध होने के अनन्तर राजा सुधन्वा की विशेष प्रार्थना से अनुशासनकर्ता का उल्लेख करते हुए आचार्य ने कहा था--

कृते विश्वगुरुर्ब्रह्मा त्रेतायां ऋषिसत्तमः।
द्वापरे व्यास एव स्यात् कलावत्र भवाम्यहम्॥

-- सत्ययुग में ब्रह्मा विश्वगुरु, त्रेतायुग में महर्षि वशिष्ठ विश्व-गुरु, द्वापरयुग में वेदव्यास विश्वगुरु हैं और इस कलियुग में मैं विश्वगुरु हूँ।

* * *

आचार्य शंकर का आविर्भाव और तिरोभाव दोनों ही अतीत की घटनाएँ हैं। परन्तु उनकी जीवनी और वाणी केवल इतिहास के पृष्ठों में रक्षित नहीं है—उनके द्वारा सनातन हिन्दूधर्म की गति नियन्त्रित भी हुई है और वैदिक धर्म की मर्मवाणी के ऊपर उसने शीतल आलोक-सम्पात भी किया है। जिस भावगम्भीर सुललित श्लोक से आचार्य शंकर ने अपने 'विवेकचूड़ामणि' ग्रन्थ का उपसंहार किया हैं, उससे ही हम उसे सहज में समझ सकते हैं।

"संसाराध्वनि तापभानुकिरणप्रोद्भूतदाहव्यथा-
खिन्नानां जलकांक्षया मरुभुवि भ्रान्त्या परिभ्राम्यताम्।
अत्यासन्नसुधाम्बुधिं सुखकरं ब्रह्माद्वयं दर्शय-
त्येषा शंकरभारती विजयते निर्वाणसंदायिनी ॥"

——मरुभूमि में पथ खोकर जैसे कोई पथिक वृथा ही पानी पानी कहकर घूमता-फिरता है पर पानी का सन्धान न मिलने से अधिक दुर्दशाग्रस्त हो जाता है, वैसे ही इस संसार में अनेक प्रकार के मोह और भ्रान्ति से आच्छन्न मनुष्य की दुर्गति की सीमा नहीं रहती। उसके मन-प्राण क्रमशः त्रिताप के प्रचण्ड उत्ताप से झुलसते रहते हैं। कहाँ छाया है, कहाँ शान्ति का जल है इसी तरह लोग चिल्लाते रहते हैं। छाया है——मनुष्य की चिरशुद्ध, चिरबुद्ध, चिरशान्त आत्मसत्ता में और संसार के तापदग्ध मनुष्य के लिए अद्वय-ब्रह्मात्मविज्ञान ही शीतल जल है। मानवआत्मा की इस प्रकार शाश्वतमहिमा-प्रदर्शक शंकरवाणी की जय हो, युगों तक वह मनुष्य को आध्यात्मिक संकटों से मुक्त कर दिव्य पथ का निर्देश करती रहे।

बारह शताब्दियों के अनन्तर आज भी 'शंकरभारती' का कार्य समाप्त नहीं हुआ है। शंकराचार्य पुराने बन गये हैं। आज मनुष्य

के अनेक ऐश्वर्य तथा विविध सम्पन्नता के रहते हुए भी उनके दुःख-सन्ताप की सीमा नहीं है। क्योंकि नये नये मोह तथा भ्रम उसकी ज्ञान-बुद्धि को आवृत किये हुए हैं। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, विद्वेष आदि आसुरी भाव मनुष्यों को निरन्तर जर्जरित कर रहे हैं। परित्राण कहाँ है? --परित्राण केवल मनुष्य की आत्मा के आविष्कार में है। सभी मनुष्यों के भीतर एक अविभाज्य चैतन्य-सत्ता निरन्तर प्रकाशमान है। प्रत्येक मनुष्य का संसार में महान् सत्य है—ब्रह्म। इस अप्रत्याख्येय के ज्ञान के स्वीकार में, इसकी उपलब्धि में और इसके प्रचार में श्रीशंकराचार्य का बत्तीस वर्ष का अलौकिक जीवन साक्षात्‌रूपेण इस अबाधित सत्य का मूर्त-प्रकाश है।

इस जीवन का आज हमें नये रूप में स्मरण करना होगा, और जीवन के अनेक द्वन्द्वों को आत्मविज्ञान में समन्वित करने की प्रेरणा तथा उसका उपाय आचार्य शंकर के जीवन और उनकी वाणी से ग्रहण करना होगा। आचार्य शंकर को प्रणाम, बारम्बार प्रणाम।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इस ग्रन्थ के तथ्य संग्रह करने में हम निम्नलिखित पुस्तकों पर विशेष रूप से निर्भर रहे हैं—

१. माधवाचार्य-विरचित 'शंकरदिग्विजय' (मूल संस्कृत–हिन्दी अनुवाद)
२. आनन्दगिरि-रचित 'शंकरविजय' (मूल संस्कृत–हिन्दी अनुवाद)
३. श्रीयुत द्विजदास दत्त, एम. ए., लिखित 'श्रीमंत् शंकराचार्य ओ शंकर-दर्शन' भाग १ और २ (बंगला)
४. श्रीयुत राजेन्द्रनाथ घोष प्रणीत 'आचार्यशंकर ओ रामानुज' ग्रन्थ का शंकरचरित्रांश (बंगला)
५. श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ भौमिक, एम. ए., बी. एल., बी. एस-सी., प्रणीत 'शंकराचार्य' (बंगला)
६. The Pageant of India's History, Vol. I by Gertrude Emerson Sen (English).
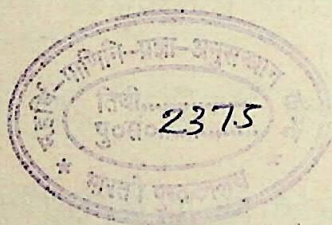
हमारे अन्य प्रकाशन

श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग (सुविस्तृत जीवनचरित)–तीन खण्डों में ।
प्रथम खण्ड (द्वि. सं.) रु. १०, द्वितीय खण्ड (द्वि सं) रु. ११, तृतीय खण्ड (द्वि सं) रु. ९.००

श्रीरामकृष्णलीलामृत (जीवनचरित,—दो भागों में ।
प्रथम भाग (पंचम सं) रु. ५.५०, द्वितीय भाग (पं.सं.) रु. ६.००

श्रीरामकृष्णवचनामृत (तीन भागों में)––प्रथम भाग (ष. सं.) रु. ९.००
द्वितीय भाग (च. सं.) रु. ८.००, तृतीय भाग (च. सं.) रु. १०.००

माँ सारदा––स्वामी अपूर्वानन्दकृत (द्वि. सं.) ...रु. ६.००

श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ––स्वामी अपूर्वानन्दकृत (द्वि. सं.) .. रु. ३.६०

विवेकानन्द-चरित—सत्येन्द्रनाथ मजूमदारकृत (ष. सं.) .. रु. ७.५०

श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका (प्रथम भाग) .. रु. ८ ५०

धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द (द्वि. सं.) .. रु. ५.००

परमार्थ प्रसंग––स्वामी विरजानन्दकृत (द्वि. सं.) .. रु. ३.५०

शिवानन्द-स्मृतिसंग्रह––संकलक स्वामी अपूर्वानन्द (प्रथम भाग) रु. ७.५०
(द्वितीय भाग) रु. ८.५० (तृतीय भाग) रु. १०.००

स्वामी विवेकानन्दकृत पुस्तकें

विवेकानन्द संचयन रु. ७.५०

भारत में विवेकानन्द––(भारतीय व्याख्यान) (च. सं.) रु. ५.२५

विवेकानन्द–राष्ट्र को आह्वान (तृतीय संस्करण) रु. ०.६०

विवेकानन्दजी के संग में (च. सं.) रु. ६.५०

राजयोग–(पातंजल यागसूत्र और व्याख्यासहित) (पं. सं.) ४.००

ज्ञानयोग (पं. सं.) ३.७५

कर्मयोग (अष्टम सं.) २.२५

भक्तियोग (स. सं.) १.५०

प्रेमयोग (सप्तम सं.) २.००

सरल राजयोग (च. सं.) ०.६०

पत्रावली (प्र. भा., द्वि. सं.) ७.००

पत्रावली (द्वि. भा., द्वि. सं) ६.००

देववाणी (च. सं.) ३.२५

भगवान बुद्ध का संसार को सन्देश एवं अन्य व्याख्यान २.२५

स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप (च. सं.) २.२५

महापुरुषों की जीवनगाथाएँ (चतुर्दश सं.) १.७५

धर्मविज्ञान (च. सं.) २.००

धर्मतत्त्व (द्वि. सं.) २.००

वेदान्त (द्वि. सं.) २.००

धर्मरहस्य (पं. सं.) १.३०

आत्मतत्त्व (द्वि. सं.) १.३०

विवेकानन्दजी की कथाएँ (ष. सं.) २.२०

आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (स. सं.) १.७५

हिन्दू धर्म (ष. सं.) २.२५
कवितावली (च. स.) २.२०
व्यावहारिक जीवन में
वेदान्त (च. सं.) १.६५
परिव्राजक (मेरी भ्रमण-
कहानी) (स. सं.) २.००
स्वाधीन भारत जय हो (पं.सं.) २.००
प्राच्य और पाश्चात्य (स.सं.) १.८०
सार्वलौकिक नीति तथा
सदाचार १.६५
भगवान रामकृष्ण--धर्म
तथा संघ (च. सं.) १.७५
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में
(तृ. सं.) १.८०
भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास
एवं अन्य प्रबन्ध १.३०
नारद-भक्तिसूत्र एवं भक्तिविषयक
प्रवचन और आख्यान (द्वि.सं.) १.२०
भारतीय नारी (स. सं.) १.५०
चिन्तनीय बातें (च. सं.) १.५०
जाति, संस्कृति और समाजवाद
(च. सं.) १.८०
विविध प्रसंग (तृ. सं.) २.३०
मेरे गुरुदेव (अष्टम सं.) १.००
ज्ञानयोग पर प्रवचन (द्वि. सं.) ०.९०
शिकागो वक्तृता (ए.सं.) ०.८०
शिक्षा (स. सं.) १.००
हिन्दू धर्म के पक्ष में (च.सं.) ०.७५
हमारा भारत (च. सं.) ०.७५
पवहारी बाबा (च सं.) ०.६०
वर्तमान भारत (स. सं.) ०.८०
मरणोत्तर जीवन (पं. सं.) ०.७०

मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन
की साधनाएँ (पं. सं.) ०.६०
ईशदूत ईसा (तृ. सं.) ०.५०
भगवान श्रीकृष्ण और
भगवद्गीता (तृ. सं.) २.००

पॉकेट-साइज पुस्तकें

सूक्तियाँ एवं सुभाषित (द्वि.सं.) १.००
शक्तिदायी विचार (स. सं.) ०.७०
मेरी समरनीति (पं. सं.) ०.७५
विवेकानन्दजी के उद्गार
(ष. सं.) ०.७५
मेरा जीवन तथा ध्येय
(स. सं.) ०.६०

श्रीरामकृष्ण-उपदेश--स्वामी
ब्रह्मानन्द द्वारा संकलित
(स. सं.) १.००
रामकृष्ण संघ--आदर्श और
इतिहास--स्वामी तेजसानन्द,
(च. सं.) १.००

साधु नागमहाशय--(भगवान
श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग गृहीशिष्य)
नया संस्करण ३.२५
गीतातत्त्व--स्वामी सारदानन्द
(च. सं.) ३.५०
भारत में शक्तिपूजा--
स्वामी सारदानन्द
(तृ. सं.) १.७५
वेदान्त--सिद्धान्त और व्यवहार
--स्वामी सारदानन्द
(तृ. सं.) ०.५०

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर--१२